विमल विलास

अथवा

श्री मद्भगवद्गीता का सरल हिन्दी भाषा में भजन आत्मिक अनुवाद

जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता के परम रहस्य को व्यक्त रूप में दर्शाने के हेतु

विस्तार युक्त टिप्पणी के अतिरिक्त गीता के मुख्य सिद्धान्त शिक्षा, तत्व, प्रत्येक अध्याय का सार, सर्व अध्यायों का संघात

कर्म ज्ञान और भक्ति का परस्पर सम्बन्ध

प्रत्यक्ष और भिन्न भिन्न दिये गये हैं।

और

श्री मद्भगवद्गीता के द्वारा भारतवर्ष का भूतकाल में सकल विद्या निधान होना सिद्ध किया गया है।

विरचित

जुगलकिशोर विमल

बी० ए० एल० एल० बी० वकील देहली,

पण्डित अनन्तराम शर्म्मा के प्रबन्ध से
सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय दर्यागंज दिल्ली में छपा।

समर्पण
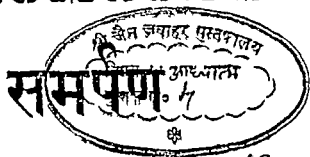
मै इस निर्मूल्य पुस्तक को अपने अति विद्वान, बुद्धिवान, ज्ञानवान् पण्डित निज कुल गुरु श्रीमान् गिरधरलाल जी महाराज मुख्य गुसाई मन्दिर श्री बिहारी जी महाराज वृन्दावन के अर्पण करता हूं, आशा है कि वह अनुग्रह करके स्वीकार करेंगे।

"विमल"

मिती कार्तिक सुदी पूर्णमासी सम्वत् १९७९ विक्रमी
तदनुसार ४ नवम्बर सन् १९२२ ई०

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

मंगलाचरण।

हे पूर्ण ब्रह्म (१) अधिपक्ष (२) आदि पुरुष (३) पुरुषोत्तम (४) आदि कारण (५) आदिदेव (६) स्रष्टा (७) आप आदि (८) अनादि (९) अनन्त (१०) अज (११) अमर (१२) अक्षर (१३) अविनाशी (१४) हो, मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूं। हे जगत् ईश गुण ईश (१५) देव ईश त्रिलोकीनाथ त्रिभुवनपति प्रजापति [१६] आप दीनबन्धु दीनानाथ दीनदयालु परमकृपालु, कृपासिंधु दयासागर हो, मैं आप को कोटानुकोट प्रणाम करता हूं। हे धाता (१७) विधाता (१८) भर्तार (१९) भर्ता (२०) साक्षी (२१) अपरम्पार आप परमेश्वर परमात्मा परमपिता परम स्नेही (२२) परमपूज्य परम मनोहर (२३) हो, आप को धन्य है। हे विश्वदेव (२४) विश्ववास (२५) सुर नर स्वामी (२६) श्रीमान् (२७) श्रीनिवास (२८) लीलाधर (२९) आप गोविन्द (३०) हरि (३१) हृषीकेश (३२) दुखभंजन विपत्ति-विनाशन विघ्ननिवारण हो, मैं किस विधि आप की स्तुति करू कि मैं कदापि इस योग्य नहीं। हे नारायण (३३) विष्णु (३४) भगवान् (३५) जनार्दन (३६) केशव (३७) माधव (३८) आप अनुत्तम (३९) अचिंत्य (४०) अलख (४१) निरंजन (४२) निर्गुण निराकार (४३) हो, आपकी गति कौन जान सकता है। हे नित्य रूप (४४) सनातन अव्यय (४५) शून्य (४६) सुदर्शन (४७) सुवेश (४८) आप सत्चित् आनन्दघन भूतेश्वर (४९) दामोदर (५०) राम (५१) जगनिवास (५२) हो, आप अपनी दयालुता से मेरे हृदय में निवास कीजिये। हे वासुदेव (५३) कृष्ण (५४) नन्दनन्दन (५५) द्वारनाथ (५६) गोवर्धन (५७) यम (५८) आप सर्वोत्तम (५९) गुणनिधान सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ (६०) और सर्वहितकारी हो, आप अपनी पालना से कल्याण कीजिये। हे प्रभु ज्योतिस्वरूप

अव्यक्त (६१) आनंदकंद (६२) मुकुन्द (६३) महाकोश (६४) आप प्रतिपालक अन्तर्यामी सुमेधा (६५) त्रिकालज्ञ (६६) परमपावन (६७) परम पवित्र हो, आप अपनी अपार कृपा से मुझ मलपूरित को (६८) विमल (६९) कीजिये। हे भगवन् (७०) नरसिंह ज्ञानज्ञ (७१) देवज्ञ (७२) मनमोहन (७३) आप बुद्धि-रक्षक परम धाम परमशान्ति भक्त-वत्सल (७४) और वागीश (७५) हो, आप अपने अनुग्रह से मेरी प्रार्थना ग्रहण कीजिये और इस विमल विलास को जो मैंने सर्व सज्जनों के लाभ के हेतु निज बुद्धि अनुसार रचा है स्वीकार कीजिये।

* ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः *

यह मंगलाचरण परमेश्वर के १०८ नामों की माला है (१) माया और जीवों का पूर्ण भण्डार, (२) माया रहित निर्गुण ब्रह्म, यज्ञों का भोक्ता (३) सब जीवों का पैदा करने वाला, (४) माया और जीव से उत्तम पुरुष, (५) सृष्टि पैदा करने वाला (६) सबसे प्रथम देवता या सबका पैदा करने वाला देवता, (७) सृष्टि रचने वाला (८) जो सदा से है, (९) जिसका आरम्भ नहीं (१०) जिसका अन्त नहीं, (११) जिसका जन्म नहीं होता, (१२) जो मरता नहीं (१३) जो सदा एकसा है, (१४) जिसका नाश नहीं, (१५) तम, रज, सत्व तीनो गुणों का मालिक, (१६) सृष्टि का रचने वाला, (१७) जगत् को धारण करने वाला, (१८) कर्म और उसके फलका उत्पन्न करने वाला, (१९) पालन करने वाला (२०) संसार पर अधिकार रखने वाला (२१) सब को देखने वाला, (२२) परम स्नेह करने वाला, (२३) मन हरने वाला (२४) जो जगत् की सब वस्तुओं में समाया हुआ है, (२५) जो सब में वास करता है (२६) देवताओं और मनुष्यों का मालिक, (२७) लक्ष्मी अर्थात् ऐश्वर्य रखने वाला, (२८) जिसके हृदय में लक्ष्मी वास करती है (२९) लीला धारण करने वाला, (३०) पृथ्वी का पालन करने वाला, (३१) संसार को हरने वाला (३२) इन्द्रियों का मालिक (३३) जिसमें सब जीव लय होते हैं या जिसका जलमें स्थान है, (३४) सब में परिच्छेद करने वाला, (३५) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला, (३६) दुर्जनों को दण्ड देने वाला (३७) जल पर सोने वाला (३८) लक्ष्मीपति, (३९) जिससे कोई उत्तम नहीं (४०) जो ख्याल में न आसके (४१) जो दिखाई न दे (४२) जिस का कोई रंग नहीं (४३) जिसके आकार नहीं, (४४) जिसका रूप सदा एकसा है, (४५) नाश रहित, (४६) गुण रहित, (४७) अपनी इच्छा से

सुन्दर रूप धारण करने वाला, (४८) जिसका दर्शन कल्याणकारी हो, (४६) प्राणियों का मालिक, (५०) सृष्टि को उदर में धारण करने वाला, (५१) सब में रमा हुआ (५२) जग में वास करने वाला, (५३) जिसमें सब का वास है, (५४) जो स्थूल शरीर नहीं, (५५) परम आनन्द देने वाला रूप, (५६) वह नाथ जिसे विषय भोग से प्रीति नहीं (५७) पृथ्वी की वृद्धि करने वाला, (५८) फल देने वाला, (५६) सब से उत्तम, (६०) सारी बातों का ज्ञान रखने वाला, (६१) जो दिखलाई न दे (६२) आनन्द का देने वाला, (६३) मुक्ति का देने वाला (६४) सर्वशक्तियों का सम्पूर्ण भण्डार, (६५) सुन्दर बुद्धि वाला, (६६) जिसको तीनों काल का ज्ञान हो, (६७) परम शुद्धि देने वाला (६८) मैले अर्थात् अशुभ गुणों से भरा हुआ (६६) निर्मल, (७०) पूर्ण पराक्रम वाला, (७१) सब प्राणियों में चैतन्य रूप से रहने वाला, (७२) देह में वास करने वाला (७३) मन को मोह लेने वाला, (७४) भक्तों पर स्नेह करने वाला, (७५) वाणी का मालिक।

"विमल"।

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

वर्तमान हिन्दू धर्म की दशा पर एक दृश्य

हिंदूधर्म के हर एक प्रेमी को इस बात से बड़ा खेद होता है कि आज कल के समय में बहुत से हिंदू नाममात्र को ही हिंदू रह गए हैं। वह केवल खान पान, छूत छात, रहन सहन, मृतक विवाह आदिक की जो मर्यादा चली आती है उसी का पालन करना अपना परम धर्म समझते हैं। और जो सज्जन पुरुष तीर्थयात्रा, व्रत, दान पुण्य, पूजा पाठ और मन्दिरों में दर्शन करते हैं वह तो मानो बड़े धर्म अलङ्कार गिने जाते हैं हिन्दुओं में अपने सनातनधर्म के उत्तम नियम और सिद्धांत जानने वाले और उन पर चलने वाले बहुत कम रह गये हैं। मेरी इच्छा इस बात के कहने से यह कदापि नहीं है कि मैं अपने हिन्दू भाइयो की किसी प्रकार निंदा या बुराई करता हूँ, और करू भी किस मुह से कि मैं आप ही इस दुर्दशा में सब ही से अधिक फँसा हुआ हूं। वल्कि मेरा अभिप्राय केवल यह ही है कि हमारा ध्यान इस न्यूनता की ओर होना चाहिये जिसमें हमारा सुधार हो सके। कारण यह है कि जब तक इस ओर ध्यान न होगा इसके दूर करने का प्रबन्ध किस प्रकार हो सकेगा। सुधार के हेतु प्रथम यह जानना आवश्यक है कि वह विकार कैसे उत्पन्न हुआ जिसका सुधार हम करना चाहते हैं, इस लिये यह विचार करना उचित है कि हमारी यह पतित दशा कैसे हुई।

इस दुर्दशा के कारण

मेरी तुच्छ मति में इसके कई कारण हैं। एक तो आज कल के समय में जैसा कि फ्रांस देश के एक बड़े पंडित डाक्टर लूइस फियूगोर ने अपनी "मृत्यु के पश्चात का वृतांत" नामक पुस्तक में लिखा है सर्व मनुष्य जाति में प्रकृति वाद (माद्दा परस्ती) का ऐसा घुन लग रहा है कि इस बला ने धीरे धीरे सबधार्मिक व सामाजिक बंधन तोड डाले और धर्म की पदवी को खो दिया। दूसरे संसार चक्र की रीति यह ही है कि कोई वस्तु एक पदवी पर स्थित नहीं रहती और जो एक समय में आगे बढ़ता है उसको समय आधीन पीछे भी हटना पड़ता है और हमारा धर्म भी इस नियम से बाहर नहीं

है, इसलिये भूतकाल में जब यह उच्च गति प्राप्त कर चुका है तो इसे नीचे उतरना भी अवश्य ही था। तीसरे हमारे धर्म की शिक्षा और उस का प्रचार करना बहुत काल से हमारे पूज्य ब्राह्मणों के हाथ में था, क्योंकि और तीनों वर्णों को धर्मग्रन्थ पाठन और आप ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया था, और तीनों वर्ण ब्राह्मणों के मुख से श्रवण करके धर्मशिक्षा ग्रहण कर सकते थे। इसलिये जब समय आधीन ब्राह्मणों में धर्म और विद्या का प्रचार कम हुआ तो उनके सेवक वर्णवालों में इस का अलोप होजाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। चौथे हमारे धर्म की सारी पुस्तकें वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण आदिक संस्कृत भाषा में हैं और अब संस्कृत जानने वाले जितने हैं उस का हाल सब को सूचित है। पांचवें हमारे धर्म की पुस्तकें गिनती में इतनी सारी हैं कि उनके पठन करने और समझने को युग चाहियें और यहाँ आयु थोड़ी हो गई और पेट के धन्धों से फुरसत कम होगई। छटे यह धर्म पुस्तकें यद्यपि इनका प्रकाशित होना अब सहल है, और पहिले से यह मिलती भी अधिक हैं तथापि इन का प्रचार बहुत कम है क्योंकि इनके पठन करने वाले ही थोड़े हैं, यहा तक कि बहुत से सज्जनों ने बहुत सी धर्मपुस्तकों के दर्शन तक भी नहीं किये होंगे, उनके पठन करने और समझने का तो क्या कहना है। और जो पुस्तकें हैं वह भी वही संस्कृत भाषा में जो अब प्रचलित नहीं और जितने उनके टीके अनुवाद भाष्य आदिक हैं वह भी सहज में साधारण मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकता और न हीं वह ऐसे हैं कि जिनको सब निष्ठाओं या सम्प्रदायों के हिन्दू ग्रहण कर सकें और टकों की प्राप्ति न होने के कारण इन धर्मपुस्तकों का पढ़ाने और समझाने वाला कोई नहीं है।

उन्नति का उपाय

इन सब विचारों की ओर ध्यान करने से प्रकट होता है कि अब विचारे ब्राह्मणों का तो दोष रहा नहीं क्योंकि अब इस वर्तमान काल में हर एक को यह अधिकार मिला हुआ है कि वह जो ग्रन्थ चाहे पढ़े, कुछ ब्राह्मणों पर इस का आधार नहीं है। और शेष जो कारण रहे उन का उपाय यही हो सकता है कि हिन्दी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक हो जो सब वेद उपनिषदों और शास्त्रों का सार बतला दे जिस में थोड़े दिनों में पाठकगणों को सहज में अपने धर्म का ज्ञान हो जाये। अब प्रश्न यह होता है कि क्या कोई ऐसी पुस्तक है जो यह सब आवश्यकताएं

है कि वेदव्यास जी ने महाभारत पुराण में भीष्मपर्व के अन्दर श्रीकृष्ण-जी का जो उपदेश अर्जुन के हेतु अठारह अध्यायों में कथन किया है, उस को बाद में ऋषि मुनियों ने वहां से निकाल कर एक स्वतन्त्र पुस्तक का रूप दे दिया है जिसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है और यही श्रीमद्भगवद्गीता, ऐसी पुस्तक है जो यह सब आवश्यकतायें पूर्ण करती है क्योंकि इसमें, श्रीकृष्ण जी महाराज ने सारे वेद उपनिषद् और शास्त्र का सार निकाल कर कुल सातसौ श्लोकों में समझाया है। यद्यपि यह भी संस्कृत भाषा में है तथापि हिन्दी भाषा और अन्य भाषाओं में इस के अनेक अनुवाद टीके आदिक मौजूद हैं और उन को पठन करके यह सब आवश्यकतायें पूर्ण हो सकती हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बध में शङ्का

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता एक प्राचीन ग्रन्थ है इस के होते हुए ऐसे विकार हिन्दू धर्म में उत्पन्न क्यों हुए जिन का ऊपर उल्लेख हुआ जब कि यह ग्रन्थ सब आवश्यकतायें पूर्ण करने योग्य था और यदि प्राचीन काल में यह ऐसा न कर सका तो अब इस से यह कैसे हो सकेगा? मेरी तुच्छ मति में इसका उत्तर यही है कि यह ग्रन्थ ऐसे विकार को रोक सकता था और अवश्य रोक देता, परन्तु इस का प्रचार बहुत काल से, ऐसा नहीं है जैसा कि होना चाहिये था। बल्कि मैं यहां तक कहने को तैयार हूं, कि जब तक इस के नियम और सिद्धान्त लोगों को मान्य रहे, और वह उन पर चलते रहे तब तक वह अपने धर्म में बड़े सावधान रहे और जब से इसका प्रचार कम हुआ तब ही से यह विकार उत्पन्न हो गये। प्रचार कम होने के दो कारण हुए, एक तो यह प्रसिद्ध होगया कि गीता का गूढ़ ज्ञान हर एक मनुष्य के बस का नहीं और दूसरे श्री शंकराचार्य जैसे उपमा रहित आचार्यों ने यह जी में बिठा दिया कि गीता के उपदेश सन्यासमार्ग वालों के लिये है अर्थात् गीता सन्यास धारण करने की शिक्षा देती है। इसलिये गृहस्थियों का यह विचार होगया कि गीता—उपदेश हमारे हेतु कल्याणकारी नहीं हैं और हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं, और यह विचार यहां तक बढ़ा कि यह कहावत प्रचलित होगई कि "बांचे गीता घर को दे पलीता"।

मिथ्या विचार

हे सज्जनो! हे पाठकगणो! आप सत्य करके मानिये कि, यह शंका बिल्कुल असत्य है यह विचार बिल्कुल मिथ्या है। यह निर्विवाद है कि श्रीमद्भग-

यद्गीता अति गूढ ज्ञान है, परन्तु यह ठीक नहीं है कि इसको केवल वह विद्वान् पण्डित ही समझ सकते हैं जो वेद शास्त्र पढ चुके हों। सच पूछो तो श्रीमद्भगवद्गीता को केवल एक हौआ बना लिया है। श्रीमद्भगवद्गीता निश्चय ही एक अथाह समुद्र है और उसके अथाह जल में तैरना एक बडे पूरे तैराक का काम है परन्तु यह ऐसा समुद्र है कि जिसके किनारे पर जल थोडा ही है और धीरे २ जैसे आगे बढते जायें जल गहरा होता जाता है यहां तक कि आगे बढते बढते इतना जल हो जाता है कि उसकी थाह नहीं रहती। इसलिये यदि साधारण मनुष्य इसके किनारे पर तैरना आरम्भ करे और जितना २ तैरना आता जावे, उतना २ ही आगे बढता जावे, तो निस्सन्देह वह इस समुद्र का बिना किसी संशय के तैराक बन सकता है। अर्थात् यह ग्रन्थ ऐसा है कि इसके श्लोकों का अर्थ हर एक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार निकाल सकता है, इसलिये जितना २ विशेष विचार सहित कोई इसका पाठ करेगा उतना ही वह इसके ज्ञानरस का भेदी होता जायेगा और जब यथार्थ समझ लेगा तो पूर्ण ज्ञानी हो जायेगा। इसलिये हरएक मनुष्य को चिन्ता त्याग कर इसको विचार सहित बार २ पढना चाहिये। और यदि कोई यह कहकर कि यह अति कठिन काम है आरम्भ ही न करे, तो उसकी बात ही और है।

अब रही यह शङ्का कि श्रीमद्भगवद्गीता गृहस्थवालों के लिये नहीं है बल्कि सन्यासियों के वास्ते है सो यह बिल्कुल बेबुनियाद है। कोई बात इससे बढकर सत्य रहित नहीं हो सकती क्योंकि गीता को एक ही बार पढ़ने से यह विदित हो जाता है कि इसमें हरएक मनुष्य को बडी स्पष्ट रीति से यह शिक्षा दी है कि अपना कर्तव्य पालन करना ही परम धर्म है। इसीसे शुद्धि प्राप्त होती है, फिर भला यह कैसे कहा जा सकता है कि यह गृहस्थाश्रम वालों के हेतु नहीं है। क्या गृहस्थियों का यह धर्म नहीं कि वह अपना कर्तव्य पालन करें? क्या वह निष्काम कर्म नहीं कर सकते? इसके विपरीत यह प्रत्यक्ष उपदेश दिया गया है कि कर्मों का त्याग अनुचित है, संन्यास से कर्मयोग मार्ग उत्तम है। असल में कर्म संन्यास का जो मतलब लोग समझते हैं वह श्रीमद्भगवद्गीता में बिल्कुल अनुचित बतलाया है। श्रीमद्भगवद्गीता संन्यास नहीं सिखाती बल्कि वैराग्य का उपदेश देती है। और संन्यास और वैराग्य में बडा अन्तर है। फिर बताइये कि यह शङ्का बिल्कुल मिथ्या नहीं है तो क्या है? श्रीमद्भगवद्गीता के मूल सिद्धान्त और शिक्षा जो भिन्न २ इस भूमिका के अन्त में लिखे गये हैं उन पर एक दृष्टि डालने ही से यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि गीता में कदापि गृहस्थ आश्रम को छोडने के लिये नहीं कहा गया और न ही उसके मूल नियम और सिद्धान्त ऐसे हैं कि जो केवल सन्यासी निभा सकें और गृहस्थी से उनका पालन न हो सके। इसके सिद्धान्त और इसकी शिक्षा सब के हेतु समान हैं चाहे वह किसी आश्रम में

हो। इस से उपरांत यह भी सोचने की बात है कि श्रीमद्भगवद्गीता उपदेश अर्जुन को युद्ध से पहिले इस कारण दिया गया था कि वह युद्ध करना न चाहता था और उसके हृदय में सन्यास उत्पन्न हो रहा था। यह उपदेश सुन कर वह युद्ध के निमित्त तैयार होगया अर्थात् उपदेश से पहिले वह कर्म को त्याग करना चाहता था और यह कर्मयोग उपदेश जो श्रीमद्भगवद्गीता में दिया गया है और जो उसको कर्म में लगाने के हेतु दिया गया था, सुनकर वह कर्म करने को तैयार होगया। तो क्या इसका यह परिणाम है कि यह उपदेश सन्यास सिखाता है? कदापि नहीं, बल्कि अर्जुन गृहस्थी था और वह उपदेश सुनकर वह गृहस्थ आश्रम में दृढ होगया। न यह ज्ञान ऐसा है कि केवल त्रिवेदी, चतुर्वेदी पण्डितों के लिये हो। अर्जुन यद्यपि बड़ा शूरवीर था, विद्वान् था, तथापि वह कोई बड़ा भारी पण्डित न था। जब यह ज्ञान उसके वास्ते उचित था तो और भी गृहस्थियों और साधारण मनुष्यों के हेतु यह कल्याणकारी हो सकता है। इसीलिये कोई कारण नहीं कि आजकल के साधारण मनुष्य जो और सब सांसारिक कर्मों में चतुर और प्रवीण हैं इसको न समझें और इसका पालन न कर सकें।

यह ठीक है कि इस ऊपर लिखे हुये विचार में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है कि जब टीका, अनुवाद या भाष्य ऐसा हो जिस में दो बात अवश्य हों। एक तो हर एक बात इस तरह से विस्तार सहित बखानी जाय, कि जिस किसी ने और कोई धर्म ग्रन्थ न देखा या सुना हो वह भी उसको समझ सके। यह नहीं होना चाहिये कि सूक्ष्म विचार प्रगट करके छोड़ दिया जावे। ऐसा करने में विद्वान् और पण्डित तो उसका भावार्थ समझ जाता है, परन्तु साधारण मनुष्य के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। संग ही उसकी भाषा ऐसी सहल होनी चाहिये जो आज कल के समय में जनता भली प्रकार समझ सके। दूसरे उसकी रचना में आनन्द बढ़ाने का भी कुछ प्रबन्ध होना चाहिये। श्रीमद्भगवत् गीता ज्ञानमाला है और ज्ञान विषय में साधारण रचना से पाठक का जी उकताने लगता है और वह थोड़ा सा पाठन करके उसको घबरा कर छोड़ देता है।

❁ विमलविलास की रचना का कारण ❁

यद्यपि बड़े २ विद्वानों और पण्डितों ने अनेक अनुवाद, टीके, भाष्य, टिप्पणियां अनेक भाषाओं में लिख कर श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य प्रगट करने का प्रयत्न किया है तथापि इनमें कोई तो ऐसे गूढ़ हैं कि वह केवल विद्वान् पण्डितों के हेतु लाभदायक हैं और कोई ऐसे साधारण हैं कि वह केवल मनआने के लिये हैं अर्थात् जिन में गूढ़ ज्ञानको खोला ही नहीं गया है। जो ऐसे हैं कि उनसे ज्ञानी और अज्ञानी दोनो लाभ उठा सकते हैं, उनमें भी पाठक के मन लगाने

और आनन्द बढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं है। इसलिये यह भी रूखे फीके मालूम होतेहैं और उनसे बहुत से मनुष्य इस कारण लाभ नहीं उठा सकते। यही कारण है कि गीता का इतना प्रचार नहीं है जितना कि होना चाहिये। यह विचार करके मुझ जैसे अविद्या पूर्ण, अधम आचारी, मतिमन्द, हृदय कठोर, जुगलकिशोर "विमल", बेटा मुन्शी रामजीदास जी, पोता मुन्शी कन्हैयालाल जी वकील, कायस्थ माथुर, अल्य तरखिलो, मुहल्ला धरमपुरा देहली निवासी ने यह साहस किया कि श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद (अर्थ सहित) भजनों में रचा और अपनी मति अनुसार टिप्पणी द्वारा इसका विस्तार पूर्वक कथन किया। क्योंकि कदापि मैं ऐसे बड़े काम के योग्य न था इसलिये इसमें अवश्य ही बहुत सी भूल चूक हुई होगी। परन्तु आशा है कि सब सज्जन पुरुष भूल चूक को क्षमा करेंगे बल्कि मुझे जतलाकर कृतार्थ करेंगे। इसकी रचना में मेरी केवल यही भावना है कि यदि सज्जन इस ढंग की रचना को आनन्ददायक और प्रभावशाली जानकर कल्याणकारी समझेंगे तो कोई न कोई महापुरुष इस कार्य के योग्य भी निकल आवेगा—जो मेरी इस कच्ची पक्की आकारमात्र सड़क की जगह पक्की और सुन्दर सड़क बनाकर सब का कल्याण करेगा। मैं तो यदि किसी सज्जन में भी इसके द्वारा धर्म मार्ग का चाव उत्पन्न कर सका तो अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

इस पुस्तक की रचना को आरम्भ करते समय मेरे हृदय में इधर तो ऊपर लिखी हुई भावना मुझे आरम्भ करने का साहस दिला रही थी और उसके संग ही में यह संशय बार२ उत्पन्न होता था कि कहां मैं अल्प बुद्धि वाला विद्याहीन और कहां श्रीमद्भगवद्गीता का परम रहस्य ! परन्तु अन्त में मेरी भावना ने मुझे स्मरण कराया कि यदि उस परब्रह्म परमेश्वर का अनुग्रह हो जावे जिसकी कृपा से "गूंगे बोलने लगते हैं और लंगड़े पहाड़ पर चढ़ते हैं" तो क्या आश्चर्य है कि यह कार्य्य पूर्ण हो जाय, इसलिये हिम्मत करके इसको आरम्भ किया और उस परमात्मा सर्व शक्तिमान् का कोटानुकोट धन्यवाद है कि आज उसने इस कार्य्य को इच्छा अनुसार समाप्त करा दिया।

विमल विलास की रचना रीति

इस रचना में श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों का अर्थ सहित अनुवाद जहां तक मुझ से हो सका है बिना अपनी ओर से घटाये बढ़ाये भजनों में रचा है। अनुवाद को भजनात्मक इस कारण किया है कि ऐसे अनुवाद में एक तो आनन्दरस होता है जिससे पढ़ने और सुनने वालों का जी लगा रहता है। दूसरे गायनरस के कारण उसकी वाणी प्रभावशाली होती है अर्थात् दिल में खुबने वाली बन जाती है। तीसरे उसका स्मरण सहज हो जाता है। भजनों को भिन्न २ राग रागनियों में इस कारण रचा गया है कि एक ही लय में सारी पुस्तक रचने में इतना

आनंद नहीं आता और जी उकताने लगता। राग रागनियो के परिवर्तन से इसका विशेष बना रहता है। इस पुस्तक मे भाषा भी अपनी जान में सरल हिंदी रक्खी है और साथ ही यह भी ध्यान रक्खा है कि कोई शब्द ऐसा न आने पावे जिससे मूल अर्थ में भेद हो जाने का भय हो। बल्कि जहा तक सम्भव हुआ मूल श्लोको में जो २ शब्द ऐसे मिले जो आजकल हिन्दी भाषा में प्रचलित हैं उनको वैसा का वैसा ही बना रक्खा है जिसमें भाषा के द्वारा किसी प्रकार का विकार श्लोक के अनुवाद या अर्थ में न हो। जहा कहीं किसी शब्द के सम्बन्धम टीका कारो मे मति भेद पाया वहा बहुत करके श्लोक का मूल शब्द भजन मे बना रखकर टिप्पणी मे उसका अर्थ दे दिया है और यह प्रकट कर दिया है कि वह अर्थ मैंने किस कारण किया है और अन्य टीकाकारो के अर्थ को मैंने क्यों नहीं मान्य समझा। उर्दू जानने वाले पाठको के लाभ के हेतु टिप्पणी में उन हिंदी भाषा के शब्दो का भी अर्थ दिया है जो वह अच्छी तरह नहीं समझते। इसके अतिरिक्त टिप्पणी में जहा २ जिस शब्द क अर्थ का स्थान आया है वहा ही उसका अर्थ दिया है जिसमें पाठक को उसका अर्थ बार२ ढू ढना न पडे। इस अर्थ और टिप्पणी से सारे अध्यायो का विषय सम्बन्ध और उनका तात्पय मालूम नहीं हो सकता था इसलिये उनको प्रत्यक्ष दिखलाने के हेतु हरएक अध्याय के आदि में उस का सार और पिछले अध्याय या अध्यायो से उसका सम्बन्ध बताया गया है। यह सार ऐसा सम्पूण है कि यदि कोई सज्जन प्रथम इन सब अध्यायो के सारको पढे तो उसको श्रीमद्भगवद्गीता का सारा तत्व मालूम हो सकता है। इस भूमिका के अन्त में श्रीमद्भगवद्गीता के मूल नियम, सिद्धान्त और शिक्षातत्व भी न्यारे २ लिखे गये हैं। इन्ही के द्वारा कर्म ज्ञान और भक्ति का परस्पर सम्बन्ध प्रत्यक्षरूप में दिखाई देगा। आशा है कि इस प्रबन्ध से पाठकगणो को गीताके परम ज्ञानके समझने में सहायता मिलेगी और पाठ करने में सुभीता होने से श्रीमद्भगवद् गीता के पढने का चाव उत्पन्न होगा।

इन सब बातो के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोको ही से स्थान २ पर टिप्पणी द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि भूतकाल में हमारा भारतवर्ष कैसा सकल विद्या निधान था और यहा कैसी २ छान बीन कर के हर एक विद्या और ज्ञान को पूर्ण अवस्था पर पहुचाया गया था।

श्रीमद्भगवद्गीता का अमर ज्ञान

इस वर्तमान समय में कोई २ सज्जन यह शंका प्रगट करते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश केवल अर्जुन के वास्ते उस समय ही के लिये गढा गया था और अब उस का उपयोग नहीं हो सकता। मगर यह विचार भी असत्य है। यह परम ज्ञान परम्परा से चला आता है जैसा कि श्रीमद्भगवद्-गीता ही में श्री कृष्ण भगवान ने बताया है और सर्वदा ही स्थित रहेगा अर्थात्

यह ज्ञान अनादि और अमर है। महाभारत युद्ध के तत्ववाद पर यदि दृष्टि डालें तब भी यही बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है। जो महाभारत युद्ध उस समय हो रहा था वह सत्य असत्य रूपी संग्राम हर एक काल में हर एक मनुष्य के अन्दर होता रहता है। इस संग्राम में अर्जुन मनुष्य है, धृतराष्ट्र के पुत्र और शत्रु धर्म मार्ग के हानिकारक बन्धन में डालने वाले कर्म हैं, यह शरीर कुरुक्षेत्र है, अन्तःकरण श्री कृष्ण है जो धर्म मार्ग बतलाता है और यह श्रीमद्भगवद्गीता उपदेश इस संग्राम में विजय प्राप्त करने का यत्न बताने वाला उपदेश है।

सर्व सज्जनों का दास—

जुगलकिशोर "विमल"

मिती कार्तिक सुदी १५ सम्वत् १६७६

मुताबिक ४ नवम्बर सन १६२२

श्रीमद्भगवद्गीता के मूल सिद्धान्त

१. हर एक मनुष्य का यह धर्म है कि वह अपना कर्तव्य बिना किसी स्वार्थ के निज कर्तव्य मानकर पालन करे, ऐसा करने ही से सिद्धि प्राप्त होती है।

२ मोक्ष पाने के हेतु दो निष्ठा या परम मार्ग हैं-(१) कर्म योग और (२) सांख्य योग या सन्यास योग। इन दोनों के द्वारा मुक्ति हो जाती है और इन में अन्तर भी बहुत थोड़ा है पर फिर भी इनमें योग उत्तम है क्योंकि वह सांख्य से सहल और लोकसंग्रह सहायक है।

३ कर्मयोग द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिये यह जरूरी है कि—

(अ) करने न करने योग्य कर्मों की पहिचान करके करने योग्य कर्मों को धारण और न करने योग्य कर्मों को त्याग किया जाय।

(ब) करने योग्य कर्मों को सदा निष्काम बुद्धि से किया जाय अर्थात् कर्म के फल से प्रयोजन न रख कर उस को केवल निज कर्तव्य मान कर किया जाय। ऐसा करने से कर्म से बन्धन नहीं होता क्योंकि कर्म आप बन्धन नहीं डालता बल्कि कर्त्ता की भावना बन्धन उत्पन्न करती है।

(अ) जो सकाम कर्म करते हैं वह उनका फल भोगने के हेतु देह धारण करके आवागमन के चक्कर म पड़ते हैं इसलिये कामना का त्याग उचित है।

(द) जो कर्म किया जावे वह यह समझ कर किया जावे कि मैं ईश्वर का अंशी (आत्मा) कर्म बन्धन से स्वतन्त्र हूँ, प्रकृति के गुण यह कर्म कराते हैं अर्थात् कर्म मे अकर्त्ता भाव होना उचित है। यही वैराग्य भाव सच्चा सन्यास है।

४ करने न करने योग्य कर्मों की पहिचान निज बुद्धि से होती है परन्तु बुद्धि को यह पहचान तबही पूर्ण रीति से होती है कि जब वह शुद्ध और स्थिर हो, इसलिये बुद्धि को शुद्ध और स्थिर करना चाहिये।

५ बुद्धि की शुद्धि के लिये मन, इन्द्रिय निग्रह और ज्ञान विज्ञान होना चाहिये और साथ ही भक्ति भाव भी।

६ मन व इन्द्रिय निग्रह पातञ्जलि-योग अभ्यास, त्रिकुटि ध्यान, त्रिपुटी-ध्यान आदिक से होता है परन्तु इनसे केवल मन व इन्द्रियों को वस में करने अर्थात्

बुद्धि आधीन बनाने की शक्ति आती है। उस शक्ति को ठीक तरह काम में लाने और अपने कर्मों पर उसको प्रभावशाली बनाने के लिये ज्ञान विज्ञान की आवश्यकता रहती है क्योंकि जब तक हर एक वस्तु के तत्त्व का ज्ञान पूर्णरीति से नहीं होता तब तक बुद्धि इस शक्ति का ठीक उपयोग स्थिरता के साथ नहीं कर सकती।

७. भक्ति की आवश्यकता इस कारण रहती है कि कर्म फल का त्याग करना अर्थात् निष्काम बुद्धि रखना स्वाभाविक रीति से मनुष्य के लिये कठिन है। इसलिये कर्म फल को ईश्वर अर्पण करने अर्थात् भक्ति करने से कर्म फल का त्याग सहज हो जाता है। दूसरे भक्ति ऐसा प्रभाविक भाव है कि इस के द्वारा मनुष्य की भावना कुछ से कुछ हो जाती है। इस कारण जब तक ज्ञान विज्ञान के साथ भक्ति भाव न हो, सर्वमयी भगवान् का ज्ञान न तो सम्पूर्ण हो सकता है और न ही कर्मों पर प्रभावशाली हो सकता है।

तुलसीदासजी ने कहा है—

"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीत होय नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेश जल की चिकनाई॥"

८. ज्ञान विज्ञान का सार यह है कि—

(क) ईश्वर का सच्चा स्वरूप निर्गुण और अव्यक्त है परन्तु यह स्वरूप बिना सगुणरूप उपासना प्राप्त होना दुर्लभ है।

(ख) निर्गुण और अव्यक्त ईश्वर अपनी उन अनादि शक्तियों से जो प्रकृति या माया और जीव या आत्मा कहलाती हैं, सारी सृष्टि आदि में उत्पन्न करता और अन्त में लय कर देता है।

(ग) सर्व सृष्टि उस एक निर्गुण ईश्वर का सगुणरूप है। वही सब कर्मों का फलदाता, सब यज्ञों का भोक्ता और सब आराधनाओं का ग्रहण करने वाला है।

(घ) जो इस ईश्वर की माया योग का खेल बड़े पैमाने पर ब्रह्मांड में है वही छोटे पैमाने पर हर एक पिंड में है अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान भी ईश्वर का ज्ञान कराने वाला और विज्ञान का अंग है।

(ङ) मरते समय जो भावना जी में होती है उसी के अनुसार अगला जन्म होता है इसलिये मरते समय कामना रहित रहने वाला और ईश्वर में ध्यान लगाने वाला मोक्ष पाता है क्योंकि जब भावना ही नहीं, तो जन्म किस कारण ले। परन्तु यह तब ही

हो सकता है जब कि कर्मयोग से बुद्धि निष्काम हो जाती है और भक्ति से ईश्वर में ध्यान लगाने की आदत पड जाती है।

९ यह असत्य है कि सन्यास के बिना मोक्ष नहीं, या कर्मयोग भी सन्यास ही का साधन है। सन्यास का तत्व मन का वैराग्य है, न कि कर्म का त्याग। कर्मयोग और सन्यास दोनो ही स्वतन्त्र निष्ठायें हैं। गृहस्थ आश्रम और कर्मयोग में स्थिर रह कर मुक्ति पाने के जनक आदिक बहुत से प्रमाण हैं और इन सब में बडा प्रमाण यह है कि ईश्वर के अवतारों ने भी गृहस्थ आश्रम पालन किया है।

१० संन्यास मार्ग वालो को भी बुद्धि शुद्ध करने के लिये निष्काम कर्म करना पडता है। केवल इतना ही कर्म-सन्यास इसम होता है कि जब सिद्धि हो जाती है तो कर्म को त्याग दिया जाता है।

११ पूर्ण कर्म सन्यास एक तो सम्भव नहीं। दूसरे ऐसा करने से सासारिक चक्र के व्यवहार म विकार उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न करने वाला मार्ग कभी उत्तम नहीं माना जा सकता, उत्तम वही योग मार्ग है जिससे लोक और परलोक दोनों बने रहते हैं।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षा तत्व ॥

१ गीता में उपदेश का बीज या शिक्षा का तत्व क्या है ?
निज कर्तव्य को कर्तव्य जानकर पालन करना (अध्याय २—५)।

२ निज कर्तव्य किस कर्म को माना जाय ?
जिस कर्म को अपनी बुद्धि (अन्त करण) करने योग्य निर्णय करे।

३ बहुत से कर्म भिन्न २ मनुष्यों की बुद्धि से भिन्न २ रीति से निर्णय होते हैं, ऐसी दशा में कौनसी बुद्धि का निर्णय कर्तव्य माना जाय ?

जब तक बुद्धि शुद्ध और स्थिर नहीं होती तब ही तक भिन्न २ रीति से निर्णय होता है। शुद्ध और स्थिर बुद्धि सदा ही एक मति रखती है। इसलिए शुद्ध बुद्धि के निर्णय को कर्तव्य मानना चाहिये।

४ बुद्धि शुद्ध और स्थिर किस तरह होती है और उसकी क्या पहिचान है ?

(क) मन इन्द्रिय निग्रह (ख) ज्ञान विज्ञान और (ग) भक्ति से बुद्धि शुद्ध और स्थिर होती है। एसी बुद्धि रखने वाले की पहिचान वह ही है जो श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के अन्त म स्थितप्रज्ञ (पूर्णयोगी) की और

धन्यवाद ।

पाठकगण ! मैं पडित नहीं, ज्ञानी नहीं, कवि नहीं, भजनीक नहीं, मेरा यह दावा नहीं कि इस विमलविलास में जो श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद, अर्थ या विस्तार किया गया है वह मैंने केवल अपनी बुद्धि से विना किसी की सहायता के किया है। नि.सन्देह मैने हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के अनुवादो का आश्रय लेकर इस पुस्तककी रचना की है। इस कारण मैं उन सर्व टीकाकारो का जिनकी टीकाओ से मुझे सहायता मिली है, और लाला गिरधरलाल साहब इञ्जीनियर देहली मोहल्ला धर्मपुरा निवासी और अपने भतीजे वृन्दावन सुपरिन्टेन्डेन्ट दफ्तर कण्ट्रोलर-जनरल देहली का जिन्होने अपना बहुमूल्य समय लगाकर इन भजनो के शुद्ध करने में सहायता की है, अति कृतज्ञमान हूं ।

"विमल"

पहले अध्याय का सार

इस अध्याय में ज्ञान उपदेश नहीं है बल्कि केवल वह कथा महाभारत के भीष्मपर्व से लेकर वर्णन की है, जिससे यह प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण जी को किस कारण यह आवश्यकता हुई कि अर्जुन को वह ज्ञान उपदेश दें, जिस का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है अर्थात् यह अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश का कारण बताता है। वह कारण इसलिये बताया है कि बिना प्रश्न के जाने उत्तर कैसे समझ में आ सकता है।

जो कथा इस अध्याय में श्री वेदव्यास जी ने कही है उस को पूर्णरीति से समझने के हेतु महाभारत में जो कथाएं इससे पहिले उल्लेख हुई हैं उनका जानना भी आवश्यक है, इसलिये सक्षेप से वह यहा लिखी जाती हैं—

राजा दुष्यन्त (१) और रानी शकुन्तला के पुत्र राजा भरत की कोई नवीं पीढ़ी मे एक कुरुनामक राजा हुआ, जिसने कुरुक्षेत्र की भूमि मे प्रजा के हेतु ऐसा हल चलाया कि इस भूमि को ऐसा वरदान मिला कि जो कोई इस भूमि मे तप या युद्ध करके मरेगा वह स्वर्ग को जायेगा और कुरुक्षेत्र के नाम से वह ग्राम भी बसाया जो आज तक जिले करनाल मे वर्तमान है। इस राजा कुरु की कोई पन्द्रहवीं पीढ़ी मे इस की सन्तान मे राजा शान्तनु हुआ। भीष्मपितामह इन्हीं राजा शान्तनु के पुत्र और धृतराष्ट्र व पाण्डु इन्हीं के पोते थे। धृतराष्ट्र बड़े और पाण्डु छोटे भाई थे, परन्तु बड़े भाई के नेत्र-हीन होने के कारण इनके पिता विचित्रवीर्य्य की मृत्यु के बाद पाण्डु राजगद्दी पर बैठे। राजा पाण्डु अपने पाँचो पुत्रों (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव, नकुल) को बाल्यावस्था मे छोड़कर परलोक सिधारे और भीष्मपितामह और धृतराष्ट्र ने इनका पालन पोषण किया।

जब पाण्डु के पाचों पुत्र जो पाण्डव कहलाते थे बड़े हुये, तो उनका धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् दुर्योधन आदिक से जो कौरव कहलाते थे, झगड़ा रहने लगा। इसलिये धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को हस्तिनापुर से जो उस समय मे उनकी राजधानी था, वरन विराटनगर जो मेरठ के पास बसता था भेज दिया। परन्तु वहा भी दुर्योधन ने उनको चैन न लेने दिया और उनके महल में जो लाक्षामण्डप के नाम से विख्यात है उनको जला डालने का प्रबन्ध किया पर पाण्डव वहां से भी निकल भागे और वन २ फिरते रहे।

---

(१) कालीदास जी के शकुन्तला नामी नाटक के हीरो (नायक)

पहले अध्याय का सार

इस अध्याय में ज्ञान उपदेश नहीं है बल्कि केवल यह कथा महाभारत के भीष्मपर्व से लेकर वर्णन की है, जिससे यह प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण जी को किस कारण यह आवश्यकता हुई कि अर्जुन को यह ज्ञान उपदेश दें, जिस का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है अर्थात् यह अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश का कारण बताता है। यह कारण इसलिये बताया है कि बिना प्रश्न के जाने उत्तर कैसे समझ में आ सकता है।

जो कथा इस अध्याय में श्री वेदव्यास जी ने कही है उस को पूर्णरीति से समझने के हेतु महाभारत में जो कथाएं इससे पहिले उल्लेख हुई हैं उनका जानना भी आवश्यक है, इसलिये सक्षेप से वह यहां लिखी जाती हैं—

राजा दुष्यन्त (१) और रानी शकुन्तला के पुत्र राजा भरत की कोई नवीं पीढी मे एक कुरुनामक राजा हुआ, जिसने कुरुक्षेत्र की भूमि मे प्रजा के हेतु ऐसा हल चलाया कि इस भूमि को ऐसा वरदान मिला कि जो कोई इस भूमि मे तप या युद्ध करके मरेगा वह स्वर्ग को जायेगा और कुरुक्षेत्र के नाम से यह ग्राम भी बसाया जो आज तक जिले करनाल मे वर्तमान है। इस राजा कुरु की कोई पन्द्रहवीं पीढ़ी मे इस की सन्तान मे राजा शान्तनु हुआ। भीष्मपितामह इन्हीं राजा शान्तनु के पुत्र और धृतराष्ट्र व पाण्डु इन्हीं के पोते थे। धृतराष्ट्र बड़े और पाण्डु छोटे भाई थे, परन्तु बड़े भाई के नेत्र-हीन होने के कारण इनके पिता विचित्रवीर्य्य की मृत्यु के बाद पाण्डु राजगद्दी पर बैठे। राजा पाण्डु अपने पाँचो पुत्रों (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव, नकुल) को बाल्यावस्था मे छोडकर परलोक सिधारे और भीष्मपितामह और धृतराष्ट्र ने इनका पालन पोषण किया।

जब पाण्डु के पांचो पुत्र जो पाण्डव कहलाते थे बड़े हुये, तो उनका धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् दुर्योधन आदिक से जो कौरव कहलाते थे, झगड़ा रहने लगा। इसलिये धृतराष्ट्र ने पाण्डवो को हस्तिनापुर से जो उस समय मे उनकी राजधानी था, वरन विराटनगर जो मेरठ के पास बसता था भेज दिया। परन्तु वहां भी दुर्योधन ने उनको चैन न लेने दिया और उनके महल में जो लाखामण्डप के नाम से विख्यात है उनको जला डालने का प्रबन्ध किया पर पाण्डव वहां से भी निकल भागे और बन २ फिरते रहे।

(१) कालीदास जी के शकुन्तला नामी नाटक के हीरो (नायक)

इन्हीं दिनों में पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री कृष्णा (१) अर्थात् द्रौपदी का स्वयम्बर रचाया और अर्जुन ने स्वयम्बर में राजा द्रुपद का प्रण पूर्ण करके द्रौपदी से विवाह किया। विवाह के पीछे धृतराष्ट्र ने जगनिंदा के भय से पाण्डवों को अपने पास बुला लिया और थोड़े दिन रखकर उन को खाण्डवप्रस्थ का प्रान्त (इलाका) देकर भेज दिया जहां पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया, जिसका "पुराना क़िला" आज तक देहली के पास वर्तमान है।

खाण्डवप्रस्थ में राज करके जब पांडवों ने बहुत नाम पाया और राजसूययज्ञ(२) किया, तो दुर्योधन को फिर डाह उत्पन्न हुआ। उसने अधर्म से जुए में पाण्डवों से उनका सब राजपाट जीत कर उनको धृतराष्ट्र से बनवास दिलाया, जिस की शर्तें यह थीं कि पाण्डव पहले तेरह वर्ष तक बनवास करें और फिर चौदहवें वर्ष में इस प्रकार छुपकर रहें कि उनको कोई पहचान न सके। यदि यह शर्तें उनसे पूरी हो जायगी तो इसके पीछे पाण्डवों का उनका राजपाट उलटा दे दिया जावेगा। जो चौदहवें वर्ष में वह पहचान लिये जायेंगे तो उन को फिर तेरह वर्ष बनवास करना होगा।

पाण्डवों ने यह सब शर्तें पूरी करदीं, परन्तु दुर्योधन ने बहाना बनाकर उनको राज उलटा देने से इन्कार किया और लाचार होकर उनको दुर्योधनसे युद्ध करने की नौबत आई (३)।

यही युद्ध था जिसका नाम महाभारत युद्ध है, और जिसके कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आरम्भ होने से पहले अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार किया और

---

(१) द्रौपदी का नाम असलमें कृष्णा था। बाप के नाम पर वह द्रौपदी कहलाती थी। उस समय ऐसा ही रिवाज था कि औलाद को बापके नाम पर पुकारते थे, जैसे राजा देवक की देवकी (माता श्रीकृष्णजी) राजा रोहण की रोहिणी (माता बलरामजी)।

(२) महाराजाधिराज बनने के वास्ते जो यज्ञ किया जाता था।

(३) प०द्वारिकाप्रसादजी शर्मा चतुर्वेदीने अपनी एक पुस्तकमें यह शंका प्रगट की है कि 'हम को यह कहने का साहस नहीं है कि महाभारत रामायण का अनुकरण है किन्तु इतना अवश्य है कि इन दोनों काव्यों के बहुतसे चरित्र चित्रणमें सादृश्य होने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वेदव्यासदेव वाल्मीकजी का पद अनुसरण कर रहे हैं"। परन्तु ऐसी शंका केवल दो ग्रन्थों के नायक नायकाओं के एक प्रकारके चरित्र होने के आधार पर करनी उचित नहीं। क्योंकि एक तो भारतवर्ष में श्रीरामचन्द्रजी और उनके सगाती नायक नायकायें जिनका रामायणमें उल्लेख है ऐसा प्रमाणभूत भारतवर्ष के हेतु बना गये हैं जो सारे देश को सदा मान्य रहा

श्रीकृष्णजी ने जो उसके सारथी (१) बने हुये थे गीता का उपदेश करके उसको युद्ध करने के निमित्त तैय्यार किया।

धृतराष्ट्र नेत्र हीन थे इस लिये वह युद्ध में नहीं गये थे, और हस्तिनापुर में निवास करते थे। जो २ युद्ध का हाल उनके मन्त्री सञ्जय ने उनको वहीं बैठे सुनाया, वह इस अध्याय में और जो अर्जुन व श्रीकृष्ण संवाद (२) सुनाया, वह अगले १७ अध्यायों में कथन है।

दोनों ओर से जो २ नामी योद्धा इस युद्ध में सम्मिलित हुये, उनका परस्पर सम्बन्ध दिखलाने को एक वंशावली अगले पृष्ठ पर दी हुई है। इस से यह सूचित होगा कि कौन २ से सम्बन्धी शत्रुदल में देखकर अर्जुन को विषाद उत्पन्न हुआ।

है और प्रत्येक नायक नायकाओं ने उन्हीं का पद अनुसरण किया या करने का यत्न किया, इसलिये यदि महाभारत के नायक नायकायें इसमें कृतकार्य हुये तो क्या आश्चर्य है, और इसके आधार पर यह कहना कि व्यासजी ने वाल्मीकजी का अनुकरण किया है अनुचित विदित होता है। दूसरे यह भी सबको स्वीकृत है कि इतिहासिक चरित्रों में अनुकरण होता ही रहता है। इस बात का प्रमाण सब देशों के इतिहासों में मिलता है। इसलिये यदि यहाँ भी ऐसा हुआ तो क्या आश्चर्य है (History repeats i self)। (१) रथ चलानेवाले। यह कोई नीच पदवी न थी। संग्राम में रथ चलाना बड़े चतुर मन्त्री और योधा का काम होता था इस लिये बड़े २ राजा तक यह काम किया करते थे। (२) बात चीत।

* ओ३म् *

अथ गीता प्रारम्भ ।

प्रथम अध्याय (अर्जुन विषाद) ।

[भजन नं० १—श्लोक नं० १]

दोहा—अर्जुन को श्री कृष्ण ने, सिखलाया जो ज्ञान ।
इस पुस्तक माहीं "विमल", वह ही करे बखान ॥

चौपाई

कौरव पांडव शस्त्र उठाये । कुरुक्षेत्र जब दल ले छाये ॥
युद्ध हेत करके तैयारी । रचित भई जब सैना सारी ॥
धृतराष्ट्र गुणवान प्रवीना[3] । सुत ममता से बुद्धि विहीना[4] ॥
नेत्रहीन होने के मारे । निज[5] मन्दिर के बीच विचारे ॥
अपने जी में सोचन लागे । युद्ध कथा पूछूँ सञ्जय से ॥
ऐसा सोच कहा हे सञ्जय । मैं यह पूछा चाहूं तुम से ॥
धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र महाना । पाडव अरु मम पूत सुमाना ॥
वहां इकठे हो लड़ने को । क्या करते हैं यह बतलादो ॥

—जोड़े दोनों हाथ, अरु सञ्जय उत्तर दिया ।
सुनिये पृथ्वी नाथ[10], मैं[11] बतलाऊं आपको ॥

छन्द

द्वैपायेन मुनी से दिव्य दृष्टी[12] यह मिली ।
—ी से जान सकता हूं कथा रणभूमि की ॥

अब जो वहा पर होरहा है नाथ वह सुन लीजिये ।
आगे "विमल" जो होयगा कहता रहूगा आप से ॥

टिप्पणी

(१) शोक (२) इस भजन मे पहिले श्लोक का अनुवाद केवल पिछली दो चौपाइयों में आगया है । शेष वार्ता इस बात के दरशाने को कि धृतराष्ट्र ने कैसे और कब यह प्रश्न सञ्जय से किया और सञ्जय ने यहाँ बैठे कैसे सब हाल बताया, महाभारत से लेकर प्रारम्भ हेतु हमने यहा जोड़दी है। (३) नेत्रहीन होते हुये भी भीष्मपितामह ने सर्व प्रकार की विद्या सिखला कर इनको चतुर और गुणवान बनाया था (४) बेटे (दुर्योधन) की ममता इन की मति भ्रष्ट कर देती थी (५) हस्तिनापुर में (६) यह विद्वान मन्त्री धृतराष्ट्र का सार्थी था। पाडवो के पास सन्धि के हेतु दूत बना कर भेजा गया था। महाभारत युद्ध के पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने इस को खजाने का खजाञ्ची बनाया था (७) महाभारत से पहिले भी यह स्थान तीर्थ माना जाता था। बड़े २ ऋषि मुनि यहीं तप करते थे। जिस नैमिषारण्य में सूतजी ने सौनकादिक ऋषीश्वरो को सारी कथायें सुनाई हैं वह इसीके अन्दर है। कहते हैं कि राजाकुरुने जो कौरवों और पांडवो के बड़े थे राजा इन्द्र स इस भूमि को यह वरदान दिलाया था कि यहां पर तप करन वाला और संग्राम में मरने वाला स्वग को जायगा। इस कारण यह धर्मक्षेत्र अर्थात् तीर्थ माना जाता है (८) यह क्षेत्र उस समय में जिला मेरठ से लेकर (जहा कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी) इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) तक (जहां पांडवों की राजधानी थी) फैला हुआ था और दिल्ली से अम्बाले तक। इसकी फेरी ८० कोस की गिनी जाती थी। तरावड़ी, थानेसर, पानीपत की रणभूमि सब इसी के भीतर थीं। महाभारत युद्ध के समय पर वर्तमान कुरुक्षेत्र के चारों ओर चालीस २ कोस तक दोनों तरफ के दल पड़े हुये थे । यह गीता उपदेश उस स्थान पर हुआ जिस को ज्योतीसर कहते हैं। यहा अब जोसर नाम का तालाब और ग्राम बसता है। यह ग्राम पिहोये (छोटीगया) की सड़क पर थानेसरसे ८ मील परे है (९) इस बात में बहुत मतिभेद है कि यह युद्ध कब हुआ। बहुतसे पण्डितो ने इतिहासिक चरित्रों और गीता पुस्तक की भाषा के द्वारा यह अनुमान किया है कि इस युद्ध का हुये पाच हजार वर्ष के लग भग हुये। ठाकुर सुखरामदासजी ने यहां तक निश्चित किया है कि इस का आरम्भ कलियुगी संवत् ६७२ के मंगसर की सक्रान्ति को हुआ अर्थात् अंग्रेजी सनसे २४५७ वर्ष पहिले हुआ। इस हिसाब स यही अब से पाच हजार वर्ष हो जाते हैं और यही विचार ठीक मालूम होता है। (१०) राजा धृतराष्ट्र (११) व्यासजी का नाम द्वैपायन था । ईश्वर के चौवीस अवतारों में इकीसवा अवतार माने जाते हैं, इसी लिये इन को भगवान (सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला) माना जाता है। (१२) महाभारत के भीष्मपर्व में लिखा है कि युद्धसे पहिले एक दिन व्यासजी राजा धृतराष्ट्र के पास आये और पूछा कि यदि

तुम्हें युद्ध देखने की इच्छा हो तो मैं तुम्हें नेत्र दे सकता हूं। राजा ने युद्ध की सारी कथा जानने की कामना रखते हुये भी अपने कुटुम्ब का वध अपने नेत्रों से देखना न चाहा, इसलिये इनकार करदिया। इस पर व्यासजी सञ्जयको ऐसी विद्या सिखा गये कि वह वहीं बैठे सब हाल देखता और सुनता रहा। ऐसा जान पड़ता है कि व्यासजी को वह विद्या पूर्णरीति से याद थी, जिसको अब टैलीपैथी (Tele pathy) कहते हैं जिसके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थानका हाल वहीं बैठे मालूम हो जाता है। कोई २ सज्जन यह शका करते हैं कि यह दिव्यदृष्टि केवल आत्मिक शक्ति थी, परन्तु यह शका निर्मूल है, क्योंकि एक तो टेलीपैथी में भी आत्मिक बल का अंग मौजूद है, दूसरे व्यासजी की दी हुई दिव्यदृष्टि का आधार केवल आत्मिक बल पर नहीं हो सकता था, जब कि सञ्जय को कहीं आत्मिक बल वाला नहीं बताया गया है। जब तक उस का आत्मिक बल इस दिव्यदृष्टि का अधिकारी न होता, व्यासजी क बल से काम न चलता।

[भजन न० २—श्लोक न० २-६]

(सञ्जय का वाक्य धृतराष्ट्र से, पाडव दल के योद्धाओं का स्मरण)

(तर्ज लगाओ मन, हरि चर्णन में ध्यान।)

सञ्जय कहें सुनिये देकर कान।
हे राजन यह पुत्र तिहारे, दुर्योधन श्रीमान्।
गुरू द्रोण[१] के निकट पधारे, उनको रक्षक जान ॥ १ ॥
जाकर बोले गुरू देखिये, पाडव दल बलवान्।
शिष्य तुम्हारे धृष्टद्युम्न[२] की, रचना दिव्य महान ॥ २ ॥
ठाढे वामें धनुवा धारी, अर्जुन[३] भीम समान।
महारथी राजा द्रुपद[४] से, अरु विराट[५] युयुधान[६] ॥ ३ ॥
कुन्तीभोजा[८], काशी राजा[९], धृष्टकेतु[१०] बलवान।
उत्तमौजा[११], पुरुजित्[१२] शैवी[१३], चेकितान[१४] गुणवान् ॥ ४ ॥
"विमल" उपस्थित युधामन्यु[१५] से, योधा शक्तीमान।
सर्व पुत्र[१७] राजा द्रुपद के, अरु सौभद्र[१८] सुजान ॥ ५ ॥

टिप्पणी।

(१) कौरवों और पाडवों के गुरु। आचार्य अर्थात् प्रोफेसर होने के कारण द्रोणाचार्य कहलाते थे। (२) राजा द्रुपद का पुत्र और अर्जुन का

साला था। इसने द्रोणजी से शस्त्रविद्या उन से लडने को सीखी थी। (३) धनुष। (४) हजार धनुषधारियों से लडने का बल रखनेवाले को महारथी नामक पदवी मिलती थी। (५) इसका असली नाम यज्ञसेन था। अर्जुन का ससुर और पाञ्चाल देश का राजा था। यह देश रोहेलखण्ड और गंगा यमुना के बीच में बसता था। इसकी दो राजधानियां थीं, रोहेलखण्ड में अहीछित्र, और गंगा यमुना के बीच वाले इलाके में कम्पिला। (६) अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का ससुर। इसकी राजधानी जयपुर से चालीस मील उत्तर की तरफ विराट नगर नाम से बसती थी। (७) सात्यक यादववंशी का पुत्र और सात्यकी का भाई। (८) अर्जुन की माता कुन्ती का गोद लेनेवाला पिता। यह श्रीकृष्णजी के दादा शूर सेन की बुआ का बेटा था। ग्वालियर का राजा था। (९) अर्जुन की दादियों के पीहर के कुटम्ब में से था। (१०) शिशुपाल का बेटा, कृष्णजी की बुआ का पोता और चन्देरी का राजा था। चन्देरी झांसी के पास बसता था (११) यह वृष्णिवंश का एक पंजाबी राजा था। (१२) सघाने का राजा। (१३) जौनपुर का राजा। अपने बलके कारण नरपुंगव (मनुष्यों में सांड) कहलाता था। (१४) अर्जुन का मौसा धृष्टकेतु जिन को वसुदेवजी की बहिन श्रुतकीर्ति विवाही थी और जो पंजाबी राजाओं में से थे, उनका पुत्र था (स्मरण रहे कि यह धृष्टकेतु दूसरा है, शिशुपाल का पुत्र नहीं है)। (१५) मौजूद। (१६) युधिष्ठिर का पुत्र। (१७) धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदिक। (१८) ऐसा प्रतीत होता है कि यह भद्र देश का राजा था। किसी २ टीकाकार ने इसको सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) लिखा है।

[भजन नं० ३—श्लोक नं० ७—१०]

(कौरव दल के योद्धाओं का स्मरण, दुर्योधन के मुख से)

(तर्ज—देखोरी एक बाला योगी द्वारे हमारे आया है री।)

हे द्विज[1] उत्तम[2] द्रोण गुरुजी, अब सुनिये निजदल[3] बलवाना।
आप कृप[4] रणजीत विकर्ण[5] अरु, भीषम सेनक[6] दिव्य प्रधाना।
राजा शल्य[7] अरु भूरिश्रवा,[8] वीर कर्ण[9][10] अरु अश्वत्थामा[11] ॥ १ ॥
अन्य[12] बली योधा बहुतेरे, हमरे हित को जो दें प्राना।
नाना शस्त्र चलावन हारे, रणविद्या में जो गुणवाना॥ २ ॥
भीषम जी की रक्षा में दल, हमरा दीखत है[13] बलवाना।
"निमल" रिपूदल दीखत दुर्बल, रक्षक जा का भीम महाना ॥ ३ ॥

टिप्पणी-

(१) ब्राह्मण। द्विज कहलाने का कारण यह है कि इनका एक जन्म माता के उदर से और दूसरा (धार्मिक) जन्म यज्ञोपवीत से माना जाता है। (२) =

भारद्वाज ऋषि के पुत्र और कौरव पाडवो के गुरु थे। शस्त्रविद्या में ऐसे प्रवीण थे कि इनके चरित्र अब कहानियो की भांति मालूम होते हैं। (३) अपनी सेना अर्थात् कौरवदल। (४) गौतम ऋषिके पुत्र और द्रोणजी के साले थे। शस्त्रविद्या में यह भी बडे चतुर थे। कौरव दल के एक जनरल थे। रणविद्या में सुजान होने के कारण आचार्य और रणजीत कहलाते थे। (५) दुर्योधन का भाई। (६) इनका नाम देवव्रत था। कौरवो और पाडवो के दादा के भाई थे, इसी कारण पितामह कहलाते थे। भीष्म नाम से यो प्रसिद्ध हुए कि जब इनके पिता शान्तनु का विवाह इनकी सैातेली माता सत्यवती से ठहरा था, उस समय पर सत्यवती के पिता ने इनके पिता से यह प्रतिज्ञा करानी चाही कि मेरी पुत्री की सन्तान राज करेगी (देवव्रत न कर सकेगा) नहीं तो मैं विवाह नहीं करता। इन के पिता को इनका अधिकार छीन लेना मजूर न था, इसलिये उन्होंने विवाह से इन्कार कर दिया, तब यह आप जाकर प्रतिज्ञा कर आये कि मैं राज नहीं करूगा तुम विवाह कर दो। जब सत्यवती के पिता ने यह शका प्रकट की कि तुम्हारी सतान झगडा करके राज न छीन ले, तो इन्होंने दूसरी कठिन प्रतिज्ञा यह की कि मै ब्रह्मचारी रह कर विवाह नहीं करूगा, जिस में मेरे सतान ही उत्पन्न न हो। जब इनकी इन कठिन प्रतिज्ञाओं का हाल मालूम हुआ तब ही से यह भीष्म (कठिन प्रतिज्ञा करने वाले) प्रसिद्ध हुये। (७) सेनाके तेजवान प्रधान अर्थात् कमान्डर इन चीफ। (८) रानी माद्री का भाई और नकुल सहदेव का मामा। यह या तो मद्र देश का राजा था (जो फुल्लौर और जलालाबाद के बीच में बसता था) या मदरास का जहा अब तक मदरा नाम का नगर वर्तमान है। (९) राजा सोमदत्त का पुत्र जो काबुल और पेशावर के पहाडी इलाकेका राजा था। (१० यह वही कर्ण है जो आजतक दानी प्रसिद्ध है। इसको रानी कुन्ती से उत्पन्न होने वाला सूर्यपुत्र बताते हैं। परन्तु ठाकुर सुखरामदास ने प्रमाणो के द्वारा इसे अधिरथ सारथीका पुत्र सिद्ध किया है। यह कौरव पाडवो का गुरु भाई था। करनाल नगर इसी के नाम पर बसा हुआ है। धनवान बहुत था, कहते हैं कि इस के हाथ म द्रव्य कभी कम न होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी को फारसी वालो ने कारू बताया है। (११) द्रोणाचार्य का पुत्र। (१२) इसके उपरान्त। (१३) बहुत से पंडित दसवें श्लोक का अनुवाद इसके विपरीत करते हैं, जो हमने यहा तीसरे अन्तरे में किया है। वह कहते हैं कि दुर्योधन ने अपनी सेना को दुर्बल और शत्रु को प्रबल बताया, परन्तु हमका यह इस कारण मान्य नहीं है कि दुर्योधन सा अभिमानी ऐसा कह नहीं सकता था जब कि उसको अपनी सेना ग्यारह अक्षौहिणी और शत्रुकी ७ अक्षौहिणी खडी दिखाई दे रही थी। न इसका कोई प्रमाण है कि दुर्योधन ने कभी ऐसा कहा हो। बल्कि उद्योगपर्व में वह अपने आप को प्रबल कह चुका है। न ही सग्राम में सेना के सामने ऐसी बात कही जा सकती थी बल्कि सेना का मन बढाने को प्रबल कहना ही उचित था।

[भजन न० ४—श्लोक न० ११—१२]

(कौरव दल का दृश्य)

(तर्ज—करो कृपा तुम अब हम पर सबेरी ।)

लगाई क्यों मेरे कारज में देरी ।

गुरु से बात जब वह कह चुका यह ।
खड़े होकर वहीं कौशल रचा यह ॥ १ ॥
सभी सेनाध्यक्षों को बुलाया ।
उन्हें अपना अनुशासन सुनाया ॥ २ ॥
पितामह जी तिहारे हैं प्रधाना ।
बचाने को उन्हें पग सब बढ़ाना ॥ ३ ॥
जहां जो नियुक्त है जम कर रहे वह ।
वहीं से संग में इनके लड़े वह ॥ ४ ॥
सुना जब देवव्रत ने राज शासन ।
बजाया शंख जो हर्षाये राजन ॥ ५ ॥
पितामह ने किया जब सिंहनादा ।
बजा सब भांति का दल बीच बाजा ॥ ६ ॥
कहीं भेरी कहीं मिरदंग बाजे ।
गऊमुख शंख अरु नरसिंह बाजे ॥ ७ ॥
भयंकर शब्द द्वारा वीर जनका ।
"विपल" रण का पिटा फिर खूब डंका ॥ ८ ॥

टिप्पणी

(१) द्रोणाचार्य से पहिले भजन वाली बात । (२) तरकीब । दुर्योधन को भीष्म पितामह की ओर से यह डर था कि वह कहीं पाडवो की तरफ दारी न कर बैठें । इस कारण सब औफिसरों को उनके चारों ओर खड़ा किया कि वह दिखावे में उनकी रक्षा के हेतु समझे जावें और असल में वह यह ध्यान रखें कि वह शत्रु से न जा मिलें । (३) फौजी औफिसर कप्तान आदि ।

(४) धुन्न। (५) काम पर लगाया हुआ। (६) भीष्मपितामह। (७) बिगुल। शख के शब्द से यह नहीं समझना चाहिये कि यह मामूली शख ही रणभूमि में बजा करते थे बल्कि यह उस समय के बिगुल थे, जो भांति २ के बनते थे। (८) उमड़ में भर जाए। (६) नफीरी के समान एक बाजा। (१०) लडाई का एक बाजा होता था। (११) जी दहलाने वाला। (१२) शूरवीरों का।

[भजन न० ५—श्लोक न० १४–१९]

(पांडव दल का दृश्य)

(तर्ज—कांटो लागो रे देवरिया मोपर सग चला ना जाय।)

धौले घोडन के रथ पर से माधव[1] पांडव[2] शख बजाय।
पांचजन्य[3] जब कृष्णा बजायो, देवदत्त[4] अर्जुन गुंजायो।
भीमसेन पौंडर[5] ध्वनि छायो, धृष्टद्युम्न गरजाय ॥ १ ॥
अनन्तजय[6] राजन[7] गुंजायो, मणिपुष्पक[8] सहदेव बजायो।
सुघोष[9] की ध्वनि, नकुल सुनायो, जो सौभद्र हिलाय ॥ २ ॥
काशीराजा[10] धनुषधारी, विराट अरु महारथी शिखंडी[11]।
द्रुपद, द्रुपदपुत्र सात्यकी, ऊंचे शब्द उठाय ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र पुत्रन के हृदय, इन तीक्ष्ण[12] शब्दन ने चीरे।
"चपल" भरी सब पृथ्वी इन से, गगन गगन पर छाय ॥ ४ ॥

टिप्पणी

(१) राजा मधु के वंश वाले कृष्णजी या लक्ष्मीपति। (२) पांडव का पुत्र अर्जुन। (३) कृष्ण जी के शख का नाम है। यह उस पांचजन्य नामक दैत्य की हड्डी से बना था जो सिंहलाद का बेटा और हिरण्यकशिपु का पोता था। (४) देवताओं का दिया हुआ शख। यह पहिले वृषपर्वा दानव के पास था। उसके बिन्दु सरोवर में छिपाने पर वहां से मयदानव निकालकर लाया था, और मयदानव ने अर्जुन को दियाथा। (५) भीमसेनके शखका नाम जो पूंगी के समान था। (६) युधिष्ठिर के शख का नाम। (७) युधिष्ठिर। (८) सहदेवके शंख का नाम जिस पर जवाहरात के फूल बने हुये थे। (६) नकुल के शख का नाम जिसका शब्द शहद के समान मीठा था। (१०) इन सब राजाओं का हाल भजन न० २ और वंशावली में आचुका है (११) द्रुपदका वह पुत्र जिसके विषयमें कहा

जाता है कि यह कन्या से पुत्र बनाया गया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्त्री छवि का होगा। इसी कारण भीष्म पितामह ने इससे युद्ध करने से इन्कार किया था। (१२) चीरने वाले।

[भजन न० ६—श्लोक न० २०–२६]

(कृष्ण अर्जुन सम्वाद का प्रारम्भ)

(तर्ज—बादे बहारी आके पुकारी गुल की सवारी आती है।)

शत्रु दल को देख रचित जब, आरम्भ होने लागा रन।
धनुष उठाकर [१]कपिध्वज वाला, यों बोला [२]कुन्तीनन्दन ॥ १ ॥
आप कृपा करके ले चलिये, रथ को दल में हे भगवन।
जो मैं देखू कौन खडे हैं, जिनसे हमको करना रन ॥ २ ॥
निरखू उनको जो आये हैं, लडने के हेतू बन ठन।
दुर्योधन का हर्ष बढाने, की इच्छा है जिन के मन ॥ ३ ॥
इतनी सुनकर बीच दलों के रथ ले पहुचे [३]मधुसूदन।
भीष्म द्रोण आदिक दिखलाकर, बोले यह हैं कौरव गन ॥ ४ ॥
[४]पार्थ निहारे चाचा दादा, मामा साले अरु [५]गुरुजन।
बेटे पोते ससुर सखा अरु, भाई बन्धु मन रञ्जन ॥५॥
देख "विमल" दोनों सेना में, इनको ठाढा रण कारन।
शिथिल हुआ अर्जुन रणधीरा, शोक किया मन में धारन ॥ ६ ॥

टिप्पणी

(१) हनुमान जी के चित्रवाली ध्वजा रखने वाला वह रथ जो अर्जुन को अग्निदेव ने वरुणदेव के यहा से लाकर दिया था (खांडव वन के जलाने के हेतु)। उसके सम्बन्ध से अर्जुन को यहा कपिध्वजा वाला कहा गया है। (२) कुन्ती को सुख देने वाला (पुत्र) अर्जुन। (३) मधुदैत्य के मारने वाले श्रीकृष्ण जी। (४) पृथा अर्थात् कुन्तीका पुत्र अर्जुन। (५)पुरखा और आचार्य।

[भजन न० ७ – श्लोक न० २७–३१]

(अर्जुन का वाक्य श्रीकृष्णजी से)

(तर्ज — राजा तोरा पानी हम से न भरा जाय रे)

बोला धनञ्जय यों दुखियाय रे ॥
सब देखकर ठाढे यहा अपने, युद्ध हेतु यों शस्त्र सजाय रे ॥ १ ॥

रोम रोम खडा हो रहा मेरा, अंग शिथिलताई रही छाय रे ॥ २ ॥
छुटी कपकपी अरु सूख रहो मुख, गाडीव[२] कर से गिराजाय रे ॥ ३ ॥
हुआ नहीं जाय खड़ा अब मोसे, खालजले अरु जिया भरमाय रे ॥ ४ ॥
दीखत "विमल" शकुन[३] मोहे उलटे, मार इन्हें कुछ हाथ न आय रे ॥ ५ ॥

(१) अर्जुन राजसूययज्ञ से पहिले बहुत से राजाओ से बहुत सा धन जीत कर लाया था इस कारण उसका यह नाम पड़ा। (२) अर्जुन के उस महा धनुष का नाम जो महादेवजी का दिया हुआ था। (३) महाभारत ग्रन्थ, भीष्म पर्व, अध्याय २, श्लोक १७ में उल्लेख है कि अर्जुन ने ऐसे स्वप्न देखे थे कि बिना घोडो के रथ चल रहे हैं गदहे जा रहे हैं, इत्यादि २। ऐसे स्वप्न का देखना बुरा शकुन माना जाता है, उनकी ओर यहाँ ध्यान दिलाया गया है।

[भजन न० ८—श्लोक नं० ३२--३५]

(अर्जुन का वाक्य कृष्ण जी से)

(तर्ज—डाली है मेरे पाव में जंजीर किसी ने।)

कुछ राज सुख अरु जीत की इच्छा नहीं भगवन।
सब मेरी मति में तुच्छ हैं यह राज सुख जीवन ॥१॥
जिनके लिये थी हमको सुख अरु राज की इच्छा।
ठाढ़े हैं वह रण भूमि में त्यागे हुये तन धन ॥२॥
हे कृष्ण जी यह दादा अरु यह बाप यह मामा।
सुत साले ससुर नाती यह पोते यह गुरुजन ॥३॥
बस मारें मुझे चाहे कुछ इसकी नहीं परवाह।
पर इनको नहीं मारूंगा मैं हे मधूसूदन ॥४॥
इस राज का पृथ्वी के "विमल" क्या भला कहना।
मारू नहीं त्रिलोक के भी राज के कारन ॥५॥

[भजन नं० ९—श्लोक ३६–४७]

(अर्जुन का वाक्य श्रीकृष्णजी से)

(तर्ज—निरखत जात जटायु रथ पर रोकत जात जटाई रे।)

अर्जुन बोला सुनलो माधव बात यह कान लगाई रे।
धृतराष्ट्र पुत्रन का मर्दन कब होगा सुखदाई रे

इन्हें मार के निश्चय उलटी होगी पाप कमाई रे ॥ १ ॥
नहीं उचित है याही कारण मारें अपने भाई रे।
क्या सुख होगा ऐसा करके यह दो हमें बताई रे। २ ॥
लोभातुर दुर्योधन आदि कौरव हैं अततांई रे।
मित्र द्रोह अरु कुल के क्षय का दोष न देत दिखाई रे। ३ ॥
हमें ज्ञान है इन दोषोंका हों हम क्यों अन्यायी रे।
नष्ट करे कुल-धर्म सभी यह फेर अधर्म दुहाई रे ॥ ४ ॥
कुल में जन्म वर्णसंकर लें हों अति दुष्ट लुगाई रे।
दें संकर कुल-घाती कुल को नरक बीच डलवाई रे ॥ ५ ॥
वर्ण-धर्म कुल-धर्म सभी को देत अधर्म गँवाई रे।
सुनते हैं उस कुलें का या से वास नरक होजाई रे ॥ ६ ॥
हाय शोक लालच से मन में घात करैंन की आई रे।
शस्त्र रहित यह मारें हमको यामें हमें भलाई रे ॥ ७ ॥
इतनी कह कर अर्जुन रथ में जाय गिरयो अकुलाई रे।
बड़ा विषाद "विमल" हृदय में घनुवा दिया गिराई रे ॥ ८ ॥

टिप्पणी

(१) *मारना।* (२) *अर्जुन को यह शंका हुई कि यह सिद्धान्त सर्व मान्य* है कि सब प्राणी मात्रों में रहने वाली आत्मा की एकता को पहिचान कर समता भाव से दूसरों के संग बर्ताव करना चाहिये। इस कारण जो बात अपने को पसन्द न हो वह दूसरो के संग भी न करे, नहीं तो समता का खन्डन हो जाता है। कोई प्राणी मारा जाना पसन्द नहीं करता, इस लिये दूसरों को मारना पाप समझना चाहिये, और इस तरह यह युद्ध मेरे हेतु पाप दायक होगा। इस शका को दूर करने के लिये यह गीता उपदेश दिया गया है। श्री कृष्णजी ने बताया है *कि वैराग्य रखते हुये यदि किसी का मारना अपना कर्तव्य* हो तो उस मारनेसे पाप नहीं होता। जो ऐसा न हो तो सारे सामाजिक व्यवहारों में विघ्न पड़जाय और अधर्मी मनुष्य धर्मात्माओं को जीता न रहने दें। (३) पापका फल दुःख होता है न कि सुख। (४) लोभ में डूबे हुये। (५) पराया माल मारने वाले और अत्याचार करने वाले। (६) मित्रों से विरोध रखना। किसी को मित्र बना कर मार डालना या दुःख पहुचाना बड़ा अधर्म माना जाता है। (७) नाश। (८) न्यायके विपरीत चलने वाला, अत्याचारी। (९) कुटुम्ब की रस्में। जबतक पुरखा घरमें मौजूद होते हैं वह छोटों को सदा उस धर्म मार्ग पर चलाते हैं जो वह और

उनके भी पुरखा यरत कर फलदायक पाचुके हैं। उनके मरने पर जब कोई रोक रोक करने वाला नहीं रहता तो बहुत करके वालक और स्त्रिया धर्म मार्ग से गिर जाती हैं। (१०) वह संतान जिस से वर्ण का बिगाड होजाय। वह सतान जो स्त्रिया अन्यवर्ण के पुरुषों के सग व्यभिचार कर के पैदा करें। (११) बिगाड। (१२) कुलका नाशक। (१३) मनुस्मृति के अनुसार जब पिण्डदान करने की अधिकारी सतान नहीं होती तो पित्रों की गति नहीं होती। (१४) व्यभिचारसे जब दो वर्णों के स्त्री पुरुष समागम करते हैं तब उनकी सतान एक वर्ण की न होकर वर्ण म विकार पैदाकर देती है। (१५) मनुस्मृति में केवल अपनी सतान आदि को ही पिण्डदान देने का अधिकारी बताया गया है। वर्णसकरों या स्त्रियों को इसका अधिकार नहीं है। इस कारण सन्तान न रहने से पित्रों की गति नहीं होती। यद्यपि गरुड पुराण में सतान आदि के न होते हुये स्त्री को पितृकर्म की आज्ञा दी हुई है, तथापि यह अधिकार अनसरते का होने के कारण उत्तम नहीं है। (१६) कौरवों के मारने की। (१७) पाप कर के जीने से मरना अच्छा है। (१८) शोक।

दूसरे अध्याय का सार ।

इस अध्याय में श्रीकृष्णजी ने अर्जुन का विषाद अर्थात् शोक देखकर उसको युद्ध के निमित्त तैयार करने के लिये पहले सांसारिक रीतिसे समझाया कि अर्जुन तू शूरवीर है, क्षत्रिय है, क्षत्रियों के उत्तम कुल में पैदा हुआ है, युद्ध करना तेरा धर्म अर्थात् कर्तव्य है। तू अपने धर्म की पालना करने से क्यों घबराता है ? तुझ पर यह कायरपन और युद्ध का भय क्यों छा रहा है ? यदि तू संग्राम न करेगा, तो तेरी बडी निन्दा होगी, और तुझ जैसे शूरवीर के लिय निन्दा का होना मरने से भी बुरा है, इस कारण तू युद्ध कर। इस बढावे चढावे से अर्जुन पर कोई प्रभाव न हुआ, कारण यह कि उसका विषाद युद्ध के भय से नहीं था। वह अपने जी में वैराग्य उत्पन्न होने के कारण उस को अधर्म समझ रहा था। वह यह मान रहा था, कि यह सिद्धान्त सर्व मान नीय है, कि सारे प्राणियों में एक ही आत्मा रहता है, इस लिये मनुष्य को अपने और पराये का भेद मिटाकर सबको एकसा मानना चाहिये। इसी कारण जो कर्म अपने ऊपर कराना जी को न भाता हो वह औरो के साथ भी न करना चाहिये। जब कोई मरना पसन्द नहीं करता, तो दूसरो को मारना अधर्म ही जानना चाहिये। श्रीकृष्ण जी ने उस को यह बतलाया कि सांख्य योग और कर्म योग दोही निष्ठायें मानी जाती हैं—तू इन में से चाहे जिस को ले, उसी से तुझ को ज्ञान हो जायगा कि यह तेरा विचार केवल तेरी भूल है।

यदि तू सांख्य योग को ले, तो तुझे यह जानना चाहिये, कि—

(१) आत्मा अविनाशी है, न उसका जन्म है न मरण। न उसको कोई मार सकता है, न जिला सकता है, न दुःख दे सकता है। यह सारी बातें शरीर को प्राप्त होती हैं, आत्मा इन से न्यारा है। जिस को तू मरना समझता है, वह केवल शरीर बदलना है। जिस भाति मनुष्य एक वस्त्र उतार कर दूसरा धारण करता है, इसी भाति आत्मा एक शरीर छोड कर दूसरा धारण करता है। इस कारण यह सोच न कर कि मैं किसी को मारता हूं या मैं मर जाऊंगा। जिस जीव आत्मा के शरीर बदलने का समय आगया है, वह बदले बिना न रहेगा। शोक छोड कर युद्ध के लिये तैयार हो जा।

(२) यदि तू यह समझता है, कि शरीर के संग ही आत्मा का नाश हो जाता है, तब भी तेरा शोक व्यर्थ है। कारण यह कि जिस का नाश होना अवश्य है, वह होकर रहेगा चाहे युद्ध के बहाने से हो जाये, या किसी और ढंग से। इस नाम मात्र भेद से कुछ अन्तर नहीं पडता। इस लिये तू मरने मारने का भय न कर और युद्ध के लिये तैयार हो जा।

(३) यदि तेरा यह विचार है, कि में साख्यमार्गी (सन्यासी) होकर लडाई का घोर कर्म करू ही क्यो ? तब भी तेरा विचार ठीक नहीं। क्योंकि साख्यमार्ग में भी वर्णाश्रम विहित कर्म करना अधर्म नहीं माना जाता। जो मनुष्य अपना धर्म्म अर्थात् कर्तव्य पालन करता है, उस को कभी पाप नहीं होता। तू क्षत्रिय है, धर्म्म युद्ध करना तेरा धर्म्म है, इस लिये इस से तुझे पाप न होगा।

यदि तू कर्मयोग मार्ग को ले तो यह समझ कि—

(१) पाप तब ही होता है, जब मनुष्य स्वार्थ के हेतु किसी फल या नतीजे की चाहना से कर्म करता है। जब धर्म की पालना करने के लिये कर्म किया जाता है, तब वह धर्म है, पाप नहीं।

(२) कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक शुभ (अच्छे) दूसरे अशुभ (बुरे) और दो ही प्रकार की भावनाओं से किये जाते हैं—एक फल की चाहना करके, दूसरे बिना किसी फल की चाहना के। जो कर्म फल की चाहना या आशा से किये जाते हैं वह "सकाम" और जो बिना किसी फल की चाहना या आशा के किये जाते हैं वह " निष्काम " कहलाते हैं। जो सकाम कर्म अशुभ होते हैं, वह सदा पाप और बन्धन का कारण होते हैं। जो सकाम कर्म शुभ हैं वह अपना शुभ फल देदेते हैं, परन्तु उनसे बन्धन बना रहता है। उनसे चित्तकी शुद्धि नहीं होती, और न ज्ञान होता है, इसी लिये वह मोक्षदायक नहीं हो सकते, केवल स्वर्ग दायक हो सकते हैं। जो निष्काम कर्म किये जाते हैं, उन से पाप या बन्धन नहीं होता, बल्कि चित्त की शुद्धि होकर ज्ञान पैदा होता है, और मोक्ष का मार्ग मिलता है। ऐसे निष्काम कर्मों में शुभ अशुभ का भेद नहीं होता। कारण यह है कि कर्म का शुभ या अशुभ होना केवल कर्ता की भावना पर अवलम्बित होता है—जब भावना ही नहीं, तो वह सदा ही शुभ हैं। देखो किसी को मार डालना या दुःख देना बुरा है, परन्तु जब राजा किसी अन्यायी को न्याय के हेतु दंड देता है या फासी पर चढवा देता है, तो उसे पाप नहीं होता। कारण यह है कि राजा का वह कर्म निष्काम है, अपने किसी प्रयोजन के हेतु नहीं, बल्कि ऐसा कर्म उसका धर्म या कर्तव्य (फर्ज) है। इसलिये तू निष्काम होकर युद्ध कर, अर्थात् दुर्योधन आदिक को दण्ड देना अपना धर्म जानकर उन से सग्राम कर। इस कारण न कर कि तू उनसे बदला ले, या तू राज्य का सुख भोगे। ऐसे धर्म-युद्ध से तुझे पाप न होगा। निम्न लिखित उक्ती से यह कर्म योग कथा और भी प्रत्यक्ष हो जावेगी—

- कर्म
  - निष्काम (कर्मयोग)
    - (ये कर्म सदा शुभ हैं, कारण यह कि पाप और बन्धन लगानेवाली भावना इनमें नहीं होती। चित्त की शुद्धि, ज्ञान और (अन्त में) मोक्ष इन्हीं के द्वारा प्राप्त होती है)
      ये सब से उत्तम कर्म हैं।
  - सकाम (कर्मकाण्ड)
    - शुभकर्म (मीमांसित कर्म)
      - (इन से स्वर्ग मिलता है। अपना फल दिखला कर जगत् में उलटा ले आते हैं। मोक्ष नहीं होती)
        ये कर्म न अधम हैं न उत्तम।
    - अशुभकर्म (आसुरीकर्म)
      - (इन का करना पाप है ये नरक का भागी बनाते हैं)
        ये सब से अधम कर्म हैं।

(३) शुभ सकाम कर्म से निष्काम कर्म उत्तम हैं, परन्तु जो मनुष्य कर्म योग मार्ग पर चलते हैं, उनके वास्ते पहली सीढ़ी अशुभ सकाम कर्म का छोड़ना और शुभ सकाम कर्म का धारण करना है। दूसरी सीढ़ी निष्काम कर्म है। इसी लिये जो मनुष्य पहली सीढ़ी पर नहीं चढता, उसके लिये दूसरी पर पग धरना कठिन है।

(४) कर्मयोग मार्ग में गृहस्थ आश्रम और राजधर्म के पालन करने वालों के लिये यह सिद्धान्त काम नहीं देता कि जब मनुष्य को मारा जाना मन नहीं भाता, तब किसी को मारना प्रत्येक दशा में अधर्म है। कारण यह है कि इस कर्मयोग मार्ग में धर्म और अधर्म का विचार कर्त्ता की बुद्धि पर होता है। यदि कर्म निष्काम होकर किया जाता है, तो वह धर्म होता है और स्वार्थ के हेतु किया जाता है तो अधर्म। धर्मयुद्ध में यह सिद्धान्त उपयोगी नहीं हो सकता बल्कि ऐसे समय पर इसका उपयोग जगत् में विकार पैदा करने वाला होता है।

(५) जब बुद्धि का काम यह निर्णय करना है कि किस प्रकार कौनसा कर्म करना चाहिये अर्थात् कौनसा कर्म करना धर्म है और कौनसा अधर्म। तब बुद्धि का शुद्ध होना आवश्यक है क्योंकि अशुद्ध बुद्धि का निर्णय भी ठीक नहीं हो सकता। बुद्धि शुद्ध और स्थिर होनी चाहिये। स्थिरता ही कर्मयोग का तत्व है।

(६) निष्काम कर्म करके स्थिर बुद्धि प्राप्त करने वाला कर्म योगी (स्थित प्रज्ञ) साधारण मनुष्यों के समान ही दिखाई देता है, क्योंकि दूसरों की श्रद्धा (विश्वास) बढाने और प्रमाण बनाने के हेतु वह सब कर्म करता रहता है पर उसकी भावना निष्काम होती है। इसी कारण देखने में उसके लक्षण साधारण मनुष्यों के से होते हैं, क्योंकि भावना ऐसी वस्तु नहीं जो दिखाई देसके।

नोट —अर्जुन को आत्मा का अविनाशी होना मान्य था, इस कारण श्रीकृष्णजी ने यहा इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया है कि आत्मा अविनाशी है, परन्तु उन सज्जनो के लाभ के हेतु जो इस बात का प्रमाण चाहते हैं हम निम्न लिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं:—

(१) ईश्वर का परम न्यायकारी और दयालु होना सब मानते हैं। इस कारण जब हम यह देखते हैं, कि जगत् में कोई राजा के घर पैदा होता है कोई रंक के, कोई भगवान् के यहा जन्म लेता है कोई दरिद्री के यहा, कोई बुद्धिमान् उत्पन्न होता है कोई मूढ, कोई मा के पेट से ही भला चगा निकलता है कोई रोगी, तब इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। निश्चय ही "जिसे चाहा जैसा बना दिया तेरी शान जल्ले जलालहू" वाली बात इस विषय में सत्य मानने से ईश्वर के ऊपर लिखे हुये गुणों में विघ्न पड़ता है। इस लिये यह मानना पडता है कि यह अन्तर पिछले जन्म के कर्मों के फल के कारण होता है। जब इस प्रकार आत्मा का पुनर्जन्म या आवागमन में पडना सिद्ध होता है, तब अविनाशी भाव आप ही सिद्ध हो जाता है। कारण यह है कि जब एक जन्म के कर्मों के फल भोगने को दूसरा और दूसरे के फल को भोगने को तीसरा जन्म लेना पड़ता है और यह चक्र बराबर चलता रहता है, तब आत्मा अविनाशी हुआ।

(२) हर एक मनुष्य की देह के अगों की बनावट न्यारी न्यारी है और जिस जिस प्रकार के देहमे अग (और इन में भी विशेषता से शिर) होते हैं उसी प्रकार का उसका स्वभाव पाया जाता है। इस से यह प्रकट होता है कि एक जन्म में आत्मा जैसा अपना स्वभाव बना लेता है उसी के अनुसार वह अगले जन्म में देह धारण करता है, जैसे कि हम देखते हैं कि हर एक मनुष्य जगत् में अपनी अपनी इच्छा के अनुसार मकान बना लेता है। इस चक्र का चलता रहना ही आत्मा के अविनाशी होने का प्रमाण है।

(३) सारे पडित, ज्ञानी, प्रकृतिवादी, वैज्ञानिक, प्रकृति को अविनाशी बताते हैं। आत्मा जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाली देह में रहता है वह प्रकृति से उत्तम तत्व है, क्योंकि बिना आत्मा के देह किसी अर्थ की नहीं है। इस लिये प्रकृति से उत्तम तत्व नाशवान् कैसे हो सकता है। जब प्रकृति ही अविनाशी है, तब आत्मा क्यो नहीं?

(४) सब आस्तिक धर्म यह बतलाते हैं कि आत्मा ईश्वर का अश है, औरईश्वर अविनाशी है। मनुष्य, आत्मा और देह से मिल कर बनता है। इन में देह नाशवान् है, इस लिये आत्मा अवश्य अविनाशी होना चाहिये।

टिप्पणी

(१) धृतराष्ट्र। (२) यहां इसका कपिल देव जी के सांख्य शास्त्र का संकुचित अर्थ नहीं है—बल्कि यह शब्द अपने सामान्य अर्थ में यहां उपयोग किया गया है, और इसका अर्थ है "आत्म ज्ञान"। (३) पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र अर्जुन। (४) क्षत्रियों में यह विश्वास था, कि धर्म युद्ध का त्याग अधर्म होता है, और इसका अंगीकार करना फलदायक। ऐसे युद्ध में विजय होने से कीर्ति और मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होनी मानी जाती थी। (५) डरपोकपन। (६) दुश्मनों को जलाने वाला होने के कारण अर्जुन इस नाम से भी पुकारा जाता था। (७) धावा। (८) कोई कोई पंडित ऐसा अनुवाद करते हैं कि अर्जुन ने यह कहा था-कि यह गुरुजन अपने हित में डूब कर हम से युद्ध करने को तैयार हैं, परन्तु ऐसा अर्थ करना अनुचित है। हमारा यह दृढ़ विचार है कि अर्जुन के जी में उनका पूज्य भाव ऐसा उपस्थित था कि यह विश्वासनीय नहीं है कि अर्जुन ने अपने गुरुजनों को ऐसा कहा हो। इसलिये हमने उन पंडितों के अनुवाद के विपरीत यह अनुवाद किया है। स्मरण रहे कि भीष्म और द्रोण कौरवों की ओर होते हुए भी पाण्डवों की जीत चाहते थे, और युद्धसे पहिले युधिष्ठर को आशीर्वाद दे चुके थे। श्लोक का अनुवाद दोनों तरह हो सकता है। (९) खून। गुरुजनों को मार कर आप भोग भोगने को अर्जुन ने रक्तभोग के समान समझा।

भजन नं० ११—श्लोक नं० ६—१०

[अर्जुन का वाक्य श्री कृष्ण जी से]

(तर्ज—गाओ भाई गाओ हरी गुण गाओ)

जानूं नहीं-जीत हो-या हार ॥

धृतराष्ट्र सुत ठाढे सन्मुख, जीऊं न जिनको मार ॥१॥
वैठ रहा मोरा जी मोसे, होत न धर्म विचार ॥२॥
मुझे बताना निश्चय क्योंकर, होगा मम उद्धार ॥३॥
शरण तिहारी शिक्षा दीजे, मैं हूं आज्ञाकार ॥४॥
जा संकट से इन्द्रिय मुर्झी, करूं नहीं स्वीकार ॥५॥
राज भूमि औ देव लोकका, देगा-धा को टार ॥ ६ ॥
हृषिकेश से कहकर इतनी, बोला-राज कुमार ॥७॥
हे भगवन मैं नहीं-लडूंगा, और गया-चुप मार ॥८॥
यह सुन हँसकर किया "विमल" ने, गीता ज्ञान प्रचार ॥९॥

टिप्पणी

(१) भाई बान्धवों के शोक से अर्जुन विचार करके यह निर्णय नहीं कर सका कि युद्ध का करना उसका कर्तव्य था या न करना, और किस में उसकी आत्मिक भलाई थी। इस कारण उसने कृष्ण जी से इस विषय में शिक्षा मांगी। (२) इन्द्रियों को वश में करने वाला होने के कारण श्री कृष्ण जी को इस नाम से पुकारा जाता है। (३) राजा पाँडु का पुत्र अर्जुन। (४) पवित्र और शुभ आत्मा कृष्ण जी।

[भजन नं० १२–श्लोक नं० ११]

(गीता ज्ञान प्रारम्भ)

(तर्ज -गोविन्दा न गाया तूने गाया क्या है बावरे)

सयाना होके सयाना रहये क्यों न तू है बावरे।

ज्ञान[१] की सी बात करता, मूर्खता के साथ करता ॥
नहीं ज्ञान जाना तूने, जाना क्या है बावरे ॥१॥
जो मरेंगे या मर लिये, उन्हें नहीं पण्डित[२] सोचे ॥
सोचा जो असोच्य[३] तूने, सोचा क्या है बावरे ॥ २ ॥
युद्ध की तू ठानले रे, यह "विमल" की मान ले रे ॥
जो यही न माना तूने, माना क्या है बावरे ॥ ३ ॥

टिप्पणी।

(१) अर्जुन के इस प्रकार की बातें करने से कृष्ण जी ने जान लिया कि इस पर सन्यास का भाव छा रहा है, परन्तु यह सच्चा सन्यास का भाव नहीं जानता। इसलिये उन्होंने आत्मज्ञान, कर्मयोग और भक्ति का व्याख्यान देकर उसको ठीक मार्ग पर लगा दिया। (२) ज्ञानवान्। (३) जो बात सोचने के योग्य न हो। सांख्य के अनुसार आत्मा न मर सकता है न मारा जा सकता है, इस लिये यह बात सोचने के योग्य नहीं रहती कि युद्ध करने में प्राणी मारे जावेंगे। (४) कृष्ण जी।

[भजन नं० १३–श्लोक नं १२–१५, २२]

(जीव आत्मा के गुण)

(तर्ज़–कान्हा लाइवा ले ले रे, मोहे दही बिलोवनदे रे)

अर्जुन सुन यह आत्म ज्ञाना, याप तो से दूँऊ बखाना।
कथं नाहीं थे हम तुम अरु यह, सब राजा बलवाना॥
कब यह होगा कि हम तुम सब, नाहीं हो विद्यमाना॥१॥
जैसे होवे जीव देह में, बालक वृद्ध जवाना।
त्यो ही करता एक देह से, दूजी में प्रस्थाना॥२॥
मनुज नया कपड़ा ज्यों पहने, तज कर वस्त्र पुराना।
त्यों ही आत्म देह पुरानी, बदले वस्त्र समाना॥३॥
मात्रा कारण शीत घाम अरु, दुख सुख होत उठाना।
पर यह नाहीं नित्य इन्हें क्यो पार्थ असह्य है जाना॥४॥
शोक करे नाहीं या कारण, जो है चतुर सुजाना।
"विमल" मोक्ष का वह अधिकारी, जाको द्वंद्व समाना॥५॥

टिप्पणी।

(१) भावार्थ यह है कि सब मनुष्यों के भीतर रहने वाला आत्मा अविनाशी है, इसलिए न कभी ऐसा हुआ है कि भूतकाल में यह मौजूद न हुआ हो, न कभी भविष्यकाल में होगा कि यह आत्मा न रहे। एक न एक शरीर में वह सदा ही बना रहता है। (२) भावार्थ यह है कि जिसको हम मरना समझते हैं वह आत्मा का केवल शरीर बदलना है। जैसे मनुष्य देह में यह परिवर्तन होता रहता है, कि मनुष्य बालक से जवान और जवान से बूढ़ा होता रहता है वैसे ही जो देह निकम्मी हो जाती है, आत्मा उसको छोड़ कर दूसरी देह में चला जाता है। (३) प्रकृति के वह सूक्ष्म विकार जिनको इन्द्रियों के विषय कहते हैं, और जो शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध के नाम से पुकारे जाते हैं, "मात्रा" कहलाते हैं। जितने दुःख सुख आदिक मनुष्यों को भोगने पड़ते हैं वह इन्हीं इन्द्रियों के विषय के कारण पड़ते हैं। (४) सर्दी गर्मी। (५) अर्जुन का यह विचार था कि इस युद्ध में जो मेरे भाती मारे जायेंगे उनका शोक किसी प्रकार राज का सुख भोगने से दूर न होगा। इसका जवाब कृष्ण जी ने यह दिया है कि यह तेरा विचार ठीक नहीं है। सादे दुख सुख नित्य अर्थात् सदा बने रहने वाले नहीं होते, क्योंकि यह मात्राओं के कारण उत्पन्न होते हैं और यह मात्रायें जैसे के आगे चल कर कथन किया

जायगा, नाशवान होने के कारण सदा नहीं रह सकतीं। इस कारण दुख सुख भी सदा स्थिर नहीं रह सकता। (६) जो सहा न जा सके। (७) जो वस्तु स्वाभाविक रीति से एक दशा में नहीं रह सकती, उसका शोक वृथा होता है क्योंकि वह अवश्य ही बदलती है। इस लिये इन्द्रिय-गोचर दुखों और सुखों से शोक और हर्ष मानना चतुर मनुष्य का काम नहीं। (८) जिसकी बुद्धि शुद्ध और स्थिर हो और इसी कारण जो ठीक ठीक निर्णय करने के योग्य हो। (६) केवल आत्मज्ञान होने ही से मोक्ष नहीं होती। मोक्ष का अधिकार तब ही होता है जब कि यह ज्ञान मनुष्यों के कर्मों पर प्रभावित होकर उसकी बुद्धि को शुद्ध और स्थिर बना देता है। (१०) दो दो विपरीत भावों की जोड़ी का नाम 'द्वन्द्व' है, जैसे दुख सुख, राग द्वेष, प्रीति वैर, लाभ हानि इत्यादि। जब मनुष्य की बुद्धि निष्काम कर्म करके और आत्म ज्ञान में दृढ़ होकर ऐसी शुद्ध और स्थिर हो जाती है कि वह मात्रा स्पर्श से उत्पन्न होने वाले किसी दुख या सुख की परवाह न करके करने योग्य कर्म करता है और अयोग्य कर्म त्यागता है, तब उस का भाव निर्द्वन्द्व कहलाता है। कारण यह कि उसमें तत्वज्ञान के कारण द्वन्द्व नहीं रहता, या यों कहो कि निर्द्वन्द्व होकर ही मनुष्य जीवन मुक्त होने का अधिकारी होता है।

[भजन न १४—श्लोक न० १६-१९, २१]

(जीवात्मा के गुण)

(तर्ज बतादो सखी कौन गलिन गये श्याम)

बता दूं तुझे जीव आत्म का ज्ञान।
जो सब में परिपूर्ण[1] उसी को, तू अविनाशी जान ॥१॥
समर्थ ऐसा कोई नाहीं हत[3] ले याके मान ॥२॥
अभाव[4] सत्[5] का भाव[6] असत्[7] का, तू साचा मत मान ॥३॥
तत्व दृश्य[8] पोन से याकी, होती है पहिचान ॥४।
जो देही[9] है परम रूप[10] अविनाशी एक समान[11] ॥५॥
अन्तवन्त[12] जब काया याकी, युद्ध करन की ठान[13] ॥६॥
अविनाशी अज[14] नित्य[15] अव्यय[16] जो, याको लेता मान ॥७।
कैसे[17] मारे या मरवावे ऐसा चतुर सुजान ॥ ८ ॥

फर्ने यह मारे कब यह मरता, 'विमल' राख यह ध्यान ॥९॥
जो जाने यह मारे मरता, वह केवल अनभान ॥१०॥

टिप्पणी ।

(१) जो सब में पूरित है अर्थात् सब में रमा हुआ है, वह ही आत्मा है। हरएक वस्तु का एक नाम रूप आत्मिक शरीर होता है जिसको साख्य वाले 'क्षेत्र' कहते हैं और दूसरी उसकी जान(जीवन का आधार)जिसको 'जीव"या"आत्मा" कहते हैं और उसी का नाम साख्य की परिभाषा में "क्षेत्रज्ञ" होता है। इन दोनों के मिलने ही से उसकी रचना होती है। क्षेत्र नाशवान् और क्षेत्रज्ञ अविनाशी है। क्षेत्र के नाश हो जाने पर भी क्षेत्रज्ञ का नाश नहीं होता। (२)जिसका नाश न हो। (३) जीव या आत्मा या क्षेत्रज्ञ अविनाशी होने के कारण किसी के हाथ से नाश को प्राप्त नहीं होता। अर्जुन को यह शका थी कि मेरे हाथ से मनुष्यों की जानें जातीरहेंगी, इस कारण वतलाया है कि जान अर्थात् आत्मा अविनाशी है, किसी के हाथों नाश नहीं हो सकता। (४) क्षय को प्राप्त होने की गति या वह गति जिस में वस्तु लय को प्राप्त हो जाती है (non existence) (५) जो पदार्थ सदा बना रहे वह 'सत्' कहलाता है। इसी लिए जीवात्मा को जिसका कभी अभाव या नाश नहीं होता, सत् कहा गया है। (६) वह गति जिसमें वस्तु बनी रहती है (Existence)। (७) जो पदार्थ सदा बना न रहे वह 'असत्" कहलाता है। ईश्वर की वह शक्ति जो"माया" या "प्रकृति"कहलाती है,औरजिस से सारे नाम रूप आत्मिक शरीर अर्थात् क्षेत्र बनते हैं सदा एक गति पर नहीं रहती, इसलिए "असत्" कहलाती है। इसी कारण इसका भाव झूठा माना जाता है। (८) जो तत्त्वदर्शी अर्थात् असली हाल का जानने वाला होता है वह यह जानता है कि जीवात्मा सदा एक रस रहने के कारण 'सत्' है। उसका किसी के द्वारा अभाव नहीं हो सकता और प्रकृति से बनने वाला शरीर या क्षेत्र "असत्' होने के कारण कभी एक रस नहीं रहता। इसलिये उस का भाव सदा बना रखने का यत्न निः सन्देह ही असम्भव को सम्भव बनाने का यत्न करना है। वह इसी कारण क्षेत्र के अभाव से शोक को प्राप्त नहीं होता। (९) जो देह में वास करे अर्थात् जीवात्मा । (१०) जीवात्मा का सच्चा स्वरूप अगोचर अर्थात् इन्द्रियों से न प्रतीत होने वाला है। (११) जो सदा एक रस रहे। (१२) जिसका अन्त हो जाय अर्थात जो नाशवान हो। (१३) जब यह सिद्ध हो गया कि अविनाशी जीवात्मा किसी के मारे से नहीं मर सकता, और नाशवान् देह किसी की रक्षा करने से सदा बनी नहीं रह सकती, तब धर्म युद्ध करने में किसी की मृत्यु होने का शक करना आप ही वृथा हो गया और अर्जुन की शङ्का समाधान होने पर क्षत्रिय धर्म और साख्य दोनों के अनुसार धर्म युद्ध करना उचित हो गया। (१४) जिसका जन्म नहीं होता। (१५)

जो सदा से है और सदा रहेगा। (१६) जिसमें कोई विकार और परिवर्तन न हो और जो सदा एक रस बना रहे। (१७) यह भ्रम कि मैं किसी को मारता हूँ या मरवाता हूँ तब ही तक रहता है, जब तक कि मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता, कि मरना मारना किस का नाम है। जब यह जान लिया जाता है कि आत्मा और शरीर के सम्बन्ध टूटने का नाम मरना है और यह सम्बन्ध अवश्य टूटना है, इस सम्बन्ध के टूटने से जीवात्मा का नाश नहीं होता, केवल नाशवान् देह का नाश होता है, तब मरने मारने का भ्रम दूर हो जाता है और मनुष्य अपने आपको किसी का मारने वाला या किसी से मारे जाने वाला नहीं समझता। (१८) शुद्ध और स्थिर बुद्धि रखने वाला। (१९) जीवात्मा अविनाशी है इस कारण न इसको कोई मार सकता है और न यह आप से मर सकता है। (२०) जिसको आत्म ज्ञान नहीं होता वह जीवात्मा के शरीर से निकल जाने पर जब जीवन की समाप्ति देखता है तो अज्ञानता से मृत्यु को आत्मा का नाश समझ लेता है। यह वाक्य कठोपनिषद् के मन्त्र १९, अध्याय १ वल्ली २ से लिया हुआ प्रतीत होता है।

[भजन नं० १५ श्लोक नं० २०, २३—२४]

(जीवात्मा के गुण)

(तर्ज़—बिन कुञ्जी खुलत नहीं तारा है)

तू सुन ले यह आत्म ज्ञान रे ।

देह हनन से मरता नाहीं, यह आत्म बलवान रे ॥१॥
जन्म नहीं ले मरे नहीं यह, भाव रखे ये हान रे ॥२॥
सचमुच यह है नित्य अजन्मा, शाश्वत और पुरान रे ॥३॥
शस्त्र इसे कब काटें अर्जुन, अग्नि देव कब हान रे ॥४॥
वायु जल से सूखत भीगत, नाहीं निश्चय जान रे ॥५॥
कटता जलता और सूखता, गलता कब यह मान रे ॥६॥
'विमल' इसे स्थिर नित्य सर्वगत अचल सनातन मानरे ॥७

टिप्पणी।

(१) शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा का नाश नहीं होता बल्कि जीवात्मा उस शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाता है। (२) जन्म लेना

और मरना शरीर के गुण हैं, जीवात्मा से इनका कोई प्रयोजन नहीं है। (३) जीवात्मा का भाव निर्विकार होने के कारण लाभ हानि से न्यारा है। (४) जो सदा बना रहे। (५) जिसका जन्म नहीं होता। (६) जो आदि काल से है। (७) जो सदा से है। (८) अग्नि जिस को जला नहीं सकी (९) जीवात्मा (१०) जो रूप न बदले (११) सर्वत्रव्यापी जो सब गतियों में मौजूद रहता है। (१२) जिस में विकार नहीं (१३) जिसका काल से सम्बन्ध नहीं।

[भजन १६-श्लोक न--२५--३१]

[जीवात्मा के गुण]

(तर्ज-तू तो मैके में भूल रही है सखी, सुसराल का रुप लजरा भी नहीं)
तेरो चित्त ठिकाने नहीं शोक से, जीव आतम विचार किया ही नहीं।

अव्यक्त अचिन्त्य है जीवआतमा, और अर्जुन विकार रहित है सदा।
जान कर जो इसे तुझे शोक रहा, तो जीव आतमा जाना ही नहीं ॥ १ ॥
जो यह माने कि जीव सदा जनमे, और जो जन मेवह सदा ही मरे।
पार्थ फिर क्यों होनी का शोक करे, क्या तेरे में कुछ दृढ़ता ही नहीं ॥ २ ॥
गुप्त पहिले तो यह मनुज देह थी, अब बीच में दर्श है दिखला रही।
और मरके फिर गुप्त हो जायगी, इस शोक में कुछ भी धरा ही नहीं ॥३॥
अचम्भे से कोई इसे देखता, और कोई अचम्भे सहित कहता।
कोई नर है अचम्भे से सुनता, कोई सुनकर भी समझा ही नहीं ॥ ४ ॥
सर्व देहों में देही वास करे, है वह नित्य अवध्य कभी ना मरे।
कहने पे "विपल" के जो चित्त धरे, शोक से तू जी को विधा ही नहीं ॥५॥

टिप्पणी.

(१) जो इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत न हो सके (अगोचर)। (२) जो चिन्तन में न आसके (३) जिस में विकार (परिवर्तन) न हो। जो वस्तु नाशवान होती है उसीमें विकार होता है। अविनाशी वस्तु निर्विकार होती है। (४) जैसाकि ऊपर कथन हुआ आत्मज्ञानी यह जान कर कि जीवात्मा अविनाशी और देह नाशवान है और इनका सम्बन्ध सदा नहीं रह सकता (इस कारण मृत्यु होना अवश्य है) मृत्यु का कभी शोक नहीं करता। ५) केवल मनुष्यों को दिखाने के हेतु ऐसा माना है, नहीं तो असल में आत्मा का जन्म मरण नहीं होता। (६) भावार्थ

यह है कि इन दोनों बातों में से एक पर स्थिर रह क्या तो जीवात्मा को अविनाशी मान और इस कारण मृत्यु होने पर उस का शोक न कर या उस को नाशवान् मान तब इस कारण शोक मत कर। नाशवान् का नाश होना प्रत्येक दशा में ही अवश्य है और अवश्य का शोक करना वृथा है। मनुष्य की मृत्यु हमारी दृष्टि में उस की देह का न दिखाई देना है। जब तक देह माता के पेट से प्रगट नहीं होती मनुष्य गुप्त रहता है। जब माता के पेट से निकल कर जीवन व्यतीत करता है तब प्रत्यक्ष रहता है। जब मृत्यु से देह का नाश हो जाता है तब फिर मनुष्य गुप्त हो जाता है। यह तीनों गतियां अवश्य हैं। इस लिये इनका शोक करना वृथा है। यह ही चक्र सारे संसार के संग लगा पड़ा है। प्रलय होने पर नाश आदि में जन्म और फिर प्रलय होने पर नाश होता रहता है। देखो अध्याय ८ श्लोक १८ व १६ और अध्याय ६, श्लोक ७)। (८)आत्मदर्शी आत्मा के दर्शन से अचम्भे में रह जाता है। आत्म ज्ञानी अचम्भे से उसका उल्लेख करता है। आत्म ज्ञान का श्रोता कथन सुनकर अचम्भे में हो जाता है। मलीन बुद्धि वाला मूर्ख कथन सुनकर भी उसके स्वरूप और लक्षण को नहीं समझता, क्योंकि निर्गुण आत्मा का स्वरूप समझना मनुष्य को स्वाभाविक रीति से कठिन है। यह ही कारण है कि सगुण उपासना का उत्तम कहा जाता है। कठोपनिषद् में भी यही श्लोक बिल्कुल इसी तरह आया है। (६,देह में वास करने वाला जीवात्मा। (१०)जो सदा बना रहे। (११) जो मर नहीं सकता। (१२) अर्जुन को यह भ्रम हो रहा था कि युद्ध करना मेरे लिये पाप है। कारण यह था कि वह मरण जीवन के विषय को समझा हुआ न था। सांख्य के अनुसार यह आत्मज्ञान-उपदेश देकर श्री कृष्णजी ने उसको दिखा दिया कि सांख्य या सन्यास मार्ग के अनुसार आत्मा अविनाशी है, इसके मारने का शोक वृथा है। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार जन्म मरण के चक्र में पड़ते हैं। इस कारण जिस के देहान्त का समय आता है वह अवश्य मृत्यु पाता है, और उसकी मृत्यु का शोक करना अज्ञानी का काम है। यही उपनिषदों का मत है, और उन में से भी कठोपनिषद् के श्लोकों की झलक यहां सबसे अधिक दिखाई दे रही है। इसी मत का प्रतिपादन कबीर जी ने किया है।

दोहा —पानी केरा बुद बुदा, अस मानष की जात।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यों तारा परभात॥

[भजन नं० १७ श्लोक नं० ३२-३८]

(कर्तव्य विचार)

(तरज (देस)—पानी में मीन प्यासी।)

हो धर्मयुद्ध को त्यारा, कहना यह मान हमारा।

निज धर्म ओर दे ध्याना, है तुझे उचित समाना
या में क्षत्रिय कल्याणा अर्जुन रह बना कराग ॥ १ ॥
क्षत्रिय बड़भागी है वा, अवसर ऐसा पावे जे।
बिन यत्न मिला है तुझ को, यह खुला स्वर्ग का द्वारा ॥२॥
जो नहीं यह युद्ध करेगा, तेरा निज धर्म टलेगा।
तू निश्चय पाप करेगा, अथा खोवे तू यश सारा ॥ ३ ॥
निन्दा सब लोग करेंग, दुर्वचन अयोग्य कहेंगे।
शत्रु भी तुझे हसेंगे जा सों है दरना खारा ॥ ४ ॥
जो बड़ा तुझे माने थे, वह लघु तुझ समझेंगे।
अरु महारथी जानेंगे, भय से तूने रण छोड़ा ॥ ५ ॥
जो समान दुख सुख जानें, जो हार जीत ना मानें।
निष्काम युद्ध की ठानें, फिर नाहीं पाप विकारा ॥ ६ ॥
जो 'विमल' युद्ध में जय हो, तू राज करे निर्भय हो।
अरु पाये स्वर्ग जो क्षय हो, यों अन्त होय निस्तारा ॥ ७ ॥

टिप्पणी

(१) जो युद्ध किसी अत्याचारी को दण्ड देने या किसी दुर्बल की रक्षा करने या आप को दूसरे के अधम से बचाने के हेतु किया जाता है वह "धर्म युद्ध" कहलाता है। (२) धर्मयुद्ध में विजय प्राप्त करना यश और राज्य आदिक के सुख का हेतु और मारा जाना स्वर्ग की प्राप्ति का कारण क्षत्रिय जाति में मान्य था, इस लिये ऐसा युद्ध लड़ने वाला उन की जाति में बड़भागी माना जाता था, क्योंकि जीत में लौकिक लाभ और हार कर मारे जाने में पारलौकिक लाभ समझा जाता था। साथ ही यश खोकर दुःख से जीना मरने से बुरा गिना जाता था, अर्थात् क्षत्रिय अब्दुलरहीम कवि के इस वाक्य के अनुयायी थे (दोहा) "बड़माया को दोष यह, जो कबहूँ घटि जाय। तो रहीम मरिबो भलो, दुख सहि जियें बलाय ॥" (३) धर्म युद्ध करना क्षत्रिय का कर्तव्य है और उस से बच कर भागना (धर्म त्यागन होने से) पाप (४) जो कहने के योग्य न हो। (५) छोटा। (६) हज़ार योद्धाओं से युद्ध करने की शक्ति रखने वाला सूरमा। (७) एक सा (८) जो अपनी जीत के वास्ते युद्ध करता है वह धर्मयुद्ध नहीं करता है बल्कि अपनी कामना पालन करता है। ऐसी पालना में जो हिंसा होती है वह कर्तव्य के लिये न होने के कारण पाप का भागी बनाता है, इस के विपरीत जो अपना कर्तव्य पालने को ऐसा करता है वह पुण्य कमाता है। (९) यहां भी कृष्ण जी ने कर्तव्य की दृष्टि से धर्मयुद्ध

का करना उचित सिद्ध किया है और बात भी ठीक है कि पापी को दण्ड न देना उस को और अन्य मनुष्यों को पाप करने का साहस दिलाना है।

[भजन न० १८—श्लोक न ३९-४१]

(कर्म्मयोग महिमा)

(तरज--तीर यमुना के नीर वन में, गेंद प्रभु खेलें कुजन में।)

सुनी यह बुद्धि सांख्य मत की। कथन सुन कर्म योग का भी॥
बिना योग के सांख्य से मन पवित्र नहिं होय।
यासो योग बतायदू जो तेरा मल धोय॥
शुद्ध हो जाय बुद्धि तेरी॥ १॥
योग अर्जुन है हितकारी। लाभ या का निश्चय भारी॥
यत्न कर्म निष्काम का कभी न होवे चूर।
नाश नहीं आरम्भ का करे बडे भय दूर॥
कटावे कर्मन की बेड़ी॥ २॥
दिखावे शक्ति सत्य दृढ की। खोल कर भ्रमरूपी की मुट्ठी॥
कर्म योग माहीं सदा सब ही की मति एक।
जा माहीं मति की "विमल" शाखा होत अनेक॥
कहावे कर्म काण्ड वोही॥ ३॥

टिप्पणी

(१) भजन (१३) से लेकर यहां तक सांख्य योग अर्थात् आत्मज्ञान का कथन करके यह बताया है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार जिस को सन्यास मार्ग वाले मुक्ति का मार्ग मानते हैं धर्म युद्ध पाप नहीं है, बल्कि धर्म है, और मरने मारने का शोक वृथा है। अब कर्म योग प्रचार आरम्भ होता है क्योंकि एक तो सांख्य मत के अनुसार कर्म कभी न कभी त्यागना पड़ता है, इस कारण यह शंका बनी रहती है कि कर्म को अभी क्यों न त्याग दिया जाय, दूसरे सांख्यशास्त्र का ज्ञान बिना मनकी शुद्धि के प्राभाविक नहीं हो सकता और मन की शुद्धि कम योग के बिना नहीं होती। (२) मत। (३) 'योग' या 'कर्मयोग' कर्म को निष्काम भावसे अर्थात् बिना स्वार्थ के अपना कर्तव्य जान कर-करने

का नाम है। यह योग ही मन की शुद्धि का साधन है। इसी कारण तुलसीकृत रामायण में लिखा है कि "[दोहा] योग अग्नि करि प्रगट तव, कर्म शुभाशुभ लाय। बुद्धि सिराधे ज्ञान घृत, ममता मल जर जाय॥" (४) जो कोई निज कामना से किसी कर्म को करता है वह जब तक कि उस कर्म को पूरा नहीं कर लेता, उस का फल नहीं पाता। इस कारण कर्म का अधूरा रह जाना उस के हेतु निष्फलता का देने वाला होता है। जो मनुष्य द्रव्य कमाना चाहता है उस की कामना उस के हाथ में द्रव्य आ जाने से पूण होती है, पहले नहीं होती। या यों कहो कि कर्मकाण्ड में कर्म के विधि सहित पूर्ण हो जाने तक सफलता नहीं होती। परन्तु योग में यह बात नहीं है। योग में किसी कामना का लेश नहीं होता इस कारण उस का जितना भी साधन होता जाता है, उतना ही वह प्रभाविक होने लगता है। जो मनुष्य इन्द्रिय-दमन या मन को शान्त करना चाहता है वह जितना २ यत्न करता है उतना २ ही इन्द्रियों को वश में करने वाला और मन को शान्त करने वाला होता जाता है। इस के लिये यह आवश्यकता नहीं है कि जब साधन पूरा हो जाय तब ही इस का फल प्रगट हो। दूसरे कर्म योग में यह भी गुण है कि यदि एक जन्म में इस का साधन पूरा नहीं होता तब भी यह नष्ट नहीं होता बल्कि इसका प्रभाव दूसरे जन्म में भी बना रहता है। इसी लिये कहा गया है कि इसका कभी नाश नहीं होता। छठे अध्याय में इस का विस्तारपूर्वक कथन होगा। (५) कर्म के फल न मिलने का भय मनुष्य को बहुत सताया करता है। जब तक सफलता नहीं होती मन में धकड़ धकड़ होती रहती है, परन्तु कर्मयोग का साधन करने वाला इस भय से बच जाता है। कारण यह है कि वह कर्म किसी कामना से नहीं करता, जिस में लिप्त होने से उस को धकड २ हो। यह ही कारण है कि कर्मयोगी को मृत्यु तक का भय नहीं होता, क्योंकि एक तो वह किसी के सग लिप्त नहीं होता कि उसको उसके वियोग का दुःख हो, दूसरे बुरे कर्म के बदले दण्ड पाने का भय नहीं होता, जब कि वह जानता है कि कर्म फल भोगना अवश्य है इस लिये जितनी जल्दी भुगत जाय अच्छा है। (६) कर्म आप बन्धन नहीं डालता, जिस कामना के हेतु कर्म किया जाता है वह बन्धन डालती है। इस कारण निष्काम कर्म से कर्म करते हुए भी बन्धनरूपी बेडी नहीं पड़ती। (७) कामना के कारण कर्म में निष्फलता होने का भय मनुष्य में घबराहट पैदा करके उसको स्थिर नहीं रहने देता, इस लिये जो कर्म योगी निष्काम हो जाते हैं उन में यह चंचलता नहीं रहती। (८) वह भ्रम से सदा दूर रह कर स्थिर रहते हैं। (९) ज्ञान-इन्द्रियों को जब किसी बाहर के पदार्थ का ज्ञान होता है तब वह मन में कर्म करने की इच्छा उत्पन्न करती हैं। मन उस इच्छा को बुद्धि के आगे उपस्थित करता है। बुद्धि यह निर्णय करता है कि ऐसा कर्म करना उचित है या अनुचित। जिस कर्म को बुद्धि अनुचित बतला देती है उसे मनुष्य नहीं करता। जिस को वह उचित निर्णय करती है उसको मनुष्य कर्म-इन्द्रियों के

द्वारा कर लेता है। इस लिये बुद्धि शुद्ध और स्थिर होनी चाहिये। जो कर्म को किसी कामना से करते हैं उन की बुद्धि कामना के प्रभाव से अशुद्ध हो जाती है और ऐसी बुद्धि का निर्णय इसी प्रकार ठीक नहीं होता। जैसे पक्षपाती जज ठीक हुक्म नहीं दे सकता। जो जज निष्पक्ष होकर फैसला करता है वह सदा ही कानून पर चल कर एक सा फैसला करता है। इसी तरह निष्काम बुद्धि सदा धर्म अनुकूल निर्णय करके एक मति पर स्थिर रहती है। (१०) किसी कामना के हेतु कर्म करने वाले की बुद्धि कामना से चलायमान होकर अनेक प्रकार के भ्रम में फस जाती है और ऐसी बुद्धि धर्म के अनुकूल न चलने के कारण एक मति पर स्थिर न रह कर अनेक ही प्रकार के मत उत्पन्न करती है (देखो गीता के मूल सिद्धान्त जो भूमिका के अन्त में दिये हुए हैं)।

[भजन न० १९—श्लोक न० ४२-४४]

(कर्मकाण्ड की अधमता)

(तर्ज—राधे रानी दे डालो ना बासुरी मोरी)

कर्मकाण्ड अधम है अर्जुन कहें यों ज्ञाता।
चित्त को लुभाने वाली वही मूर्ख बात कहता। जो भोगन में हो डूबा ॥१॥
कामना की सिद्धता के वेद मन्त्र पढ कर जाने। इन सा कब कोई होगा॥२॥
भोग हेत स्वर्ग को ही परमगति मान कर के। आवागमन बीच रहता ॥३॥
सदा भोग ऐश्वर्य अरु विषय प्राप्त करने कारण। क्रियायें अनेक ही करता ॥४॥
ऐसी २ बातों ने मन हर लिया 'विमल' है जिसका। वह ही स्थित नाहीं रहता ॥५॥

टिप्पणी

(१) कामनाओं की प्राप्ति के हेतु जो यज्ञ याग तीनों वेदों के अनुसार किये जाते हैं, वह कर्म काण्ड में शामिल हैं। ऐसे ही कार्यों को "मीमांसितकर्म" कहते हैं क्योंकि जैमिनि ऋषि ने इन सब यज्ञयागों की विधियों को जिस शास्त्र में संग्रह किया है वह "पूर्व मीमांसा" कहलाता है। इसी कारण अब कर्मकाण्डी भी "मीमांसक" कहलाते हैं। उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान का धर्म ज्ञानकाण्ड कहलाता है। जिस शास्त्र में यह ज्ञान बादरायणाचार्य ने संग्रह किया है वह "उत्तर मीमांसा" या "ब्रह्मसूत्र" या "वेदान्तसूत्र" के नाम से पुकारा जाता है। इसके अनुयायी "ज्ञानकाण्डी" या "वेदान्ती" कहलाते हैं। (२) गीता में वेदान्त मत मान्य है, इस लिये यहां कर्मकाण्ड को अधम और ज्ञानकाण्ड को उत्तम बताते हुए यह कथन किया है, कि जो कर्मकाण्डी धन दौलत

राजपाट, सन्तान आदिक के लभ से भांति भांति के यज्ञ योग रचाते हैं वह मूर्ख हैं। कि वह उन मन लुभाने वाली कामनाओं के बखेड़े में फंस कर जगत् में लिप्त रहते हैं, जिन से मनुष्य आवागमन म पड कर मोक्ष से दूर रहता है। (३) कर्मकाण्डी वेदों के बताये हुए उन यज्ञ यागों को रचता है जो कामनाओ की सिद्धि के हेतु बनाये गये हैं, और उनके फल से सासारिक सुखो को भोग कर जी में खुश होता है। वह यह नहीं जानता कि मोक्ष का आनन्द इन सब से कहीं बढ चढकर है और इनके वास्ते उसको खो देना मूर्खताइ है। वह अपने जी मे इन्हीं को परम सुख समझता है। (४) सब से उत्तम गीत। (५) स्वर्ग वह लोक है जहा मनुष्य अपने शुभ कर्मों के फल भोगने के हेतु आता है और वहा उतने समय वास करता है, जितने कि उसके उन कर्मों का प्रताप बना रहता है। जहा यह प्रताप पूरा हुआ, वह इस जगत् मे जो कर्मभूमि कहलाती है, फिर लौट आता है। यहा फिर जेसे कर्म करता है, वैसे २ लोको को फिर प्राप्त करता है। इस लिये कर्मकाण्ड के द्वारा स्वर्ग मिल जाने से आवागमन का चक्र बन्द नहीं होता, बल्कि उन कर्मो के फल भोगने के लिये उसको बार बार जन्म लेना पडता है। इस कारण कर्मकाण्ड आवागमन से मोक्ष न दिलवा कर उलटा आवागमन में फसाये रखता है। या यों कहो कि परम शांति स्वर्ग का नाम नहीं है बल्कि उस ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ का नाम है जहा पहुँच कर मनुष्य उलटा नहीं आता। (६) प्रभुताई और अन्य सासारिक सुखो का स्वाद भागना विषय भोग कहलाता है क्योंकि इन मे दुखदाई आवागमन का विष भरा होता है। (७) कर्मकाण्डी अपनी कामनाओ को प्राप्त करने के हेतु भांति २ के यज्ञ याग और पूजन भजन करता है, पर सब का यह ही परिणाम होता है कि वह कर्म का फल भोगता हुआ आवागमन के चक्र मे पडा रहता है। बल्कि जब इन कर्मों के फल से ऐश्वर्य और बल पाकर फूला नहीं समाता, तब ईश्वर से विमुख होकर पाप करने लगता है। यही कारण है कि "तप से राज और राज से नरक" का प्राप्त होना प्रसिद्ध है। (८) जब कर्मकाण्डी सकाम करके उसके फल को भोगता ह तब उसमे सुखो के भोगने की चाहना और भी बढ़ती हैं। उस को सदा यह ही उधेड बुन रहने लगती है कि मैं शुभ या अशुभ कर्मो के द्वारा अपनी कामनाओं को पूर्ण करू। भोगो का लालच और न मिलने का भय उसकी बुद्धि को चलायमान करके स्थिर नहीं रहने देता। इसी कारण उसकी बुद्धि का निर्णय धर्म अनुकूल नहीं रहता, न उसको भले बुरे की पहिचान रहती है।

[भजन नं० २०–श्लोक न० ४५]

(गुणातीत रहने की शिक्षा)

(तरज—बन्सी वाले तू मेरी गली आजारे)

रह तीनों गुणों से ही न्यारा रे ।

है वेदों में तीनों गुणों का कथन, नहीं ज्ञानी का इनमें गुजारा रे ॥१॥
तम् रज् सत् तीनो के तीनो ही, कर्म बन्धन में देवें सहारा रे ॥२॥
फल तीनोंही का है स्वर्ग या नरक, नहीं इनसे मिले मोक्ष द्वारा रे ॥३॥
मत रोचक भयानक का ध्याता बने, अरु कर दे तू द्वन्द्व महारा रे ॥४॥
जो वस्तु तुझे प्राप्त हैं उनकी, मत रक्षा में ह मतवारा रे ॥५॥
जो वस्तु कि तुझ को मिली ही नहीं, मत जी में कर उनका विचारा रे ॥६॥
अपना आपा "विमल" आप रख वसमें, सत् माहीं हो दृढता धारा रे॥७॥

टिप्पणी ।

(१) माया या प्रकृति के तीनो गुण अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण (जिन का विस्तार चौदहवें अध्याय में होगा) सृष्टि की आदि से पहिले और प्रलय के पीछे माया या प्रकृति में बराबर बराबर होते हैं। सृष्टि की रचना के समय परमात्मा इन तीनों को घटा बढा देता है और इस घटत बढत से सारा नामरूप आत्मिक ससार उत्पन्न होता है। जब यह गुण किसी वस्तु में फिर बराबर होजाते हैं तब वह वस्तु फिर लय को प्राप्त होजाती है। मनुष्य में भी जब यह तीनों बराबर हो जाते हैं तब शरीर समाप्त होजाने पर देह में रहने वाले आत्मा को मोक्ष होजाती है, क्योंकि इन हीं की घटत बढत जीव को शरीर में बाध कर रखती है। इसी कारण इन तीनों गुणों की समता प्राप्त करने का यत्न करना मनुष्य की असली चतुराई है। इसी गति को गुणातीत होना या गुणों से न्यारा होना कहते हैं। (दोहा) "तीन अवस्था तीन गुण, तेहि कपास ते काढ़ि । तूल तुरीय सवारि पुनि, बाती करे सुगाढ़ि" (तुलसीदास) ॥ इसी की शिक्षा यहा दीगई है। (२) वेदों में इन तीनों गुणों से उत्पन्न होन वाली सब कामनाओं को पूरा करने के हेतु भाति भाति के यज्ञ यागों का विधान किया हुआ है, परन्तु यह सब यज्ञ याग कर्म कांडिया अर्थात् सकाम कर्म करने वालों के हेतु हैं। जो ज्ञानकाण्डी हैं अर्थात् निष्काम रह कर मोक्ष पाना चाहते हैं, वह इन से अलग रहते हैं। उन्हें कर्म

योग, भक्ति और आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष पाने की धुन रहती है। (३) सत्वगुण के बढने से ज्ञान के बन्धन, रजोगुण के बढने से कर्म और कामनाओं के बन्धन और तमोगुण के बढने से मोह अज्ञानके बन्धन बढते हैं, इस कारण यह तीनोंही बन्धन में डालने वाले हैं (देखो चौदहवा अध्याय)। (४) तमोगुणी और रजोगुणी कर्मों के कारण मनुष्य को नरक में पड़कर उनके अशुभ फल भोगने पडते हैं। सत्वगुणी कर्मों से स्वर्ग में शुभफल प्राप्त होते हैं। मोक्ष इन तीनों से न्यारा रहने अर्थात् गुणातीत बन कर रहने से होती है। (५) रजोगुणी और तमोगुणी कर्मों के बन्धन से बचने के लिये अज्ञानियों को अशुभ कर्मों के बड़े भयानक फल दिखाये जाते हैं, जिस में वह अशुभ कर्मों के करने से बचे रहें। शुभ कर्मों के करने का साहस दिलाने के हेतु इनके बडे २ जी लुभाने वाले (रोचक) फल बताये जाते हैं। (६) कर्मयोगी ऐसे रोचक और भयानक शब्दों की ओर ध्यान नहीं देता (७) वह शुभ अशुभ फल का विचार न करके वही कर्म करता है जिस को वह अपना कर्तव्य मानता है। जिस समय वह किसी कर्म के करने या न करने के विषयमें निश्चय करना चाहता है वह अपने लाभ हानि, सुख दुःख, और प्रिय अप्रिय, आदिक द्वन्द्वता के भावों का प्रहार अर्थात् खण्डन करता है और शुद्ध बुद्धि से केवल अपने कर्तव्य की ओर ध्यान रखता है। (८) ज्ञानी जानता है कि जगत् की सारी वस्तु नाशवान हैं। उन को कोई अविनाशी नहीं बना सकता। इस लिये वह कभी यह धुन नहीं बांधता कि मैं किसी न किसी यत्न से उन पदार्थों को अपने पास से न जाने दूं जो उसके पास मौजूद हैं और जो उसको प्रिय हैं। ऐसा प्रयत्न वही मनुष्य करता है जिस में तमोगुण की अधिकता होती है। इस लिये तमोगुण को दबाना चाहिये। (९) अपनी कामनाओं को पूरा करने के हेतु जिन २ वस्तुओं की आवश्यकता होती है उन को प्राप्त करने का प्रयत्न करना रजोगुणी मनुष्य का काम है। रजोगुण को दबाने वाला ज्ञानी ऐसा प्रयत्न नहीं करता। (१०) अपना आपा वही अपने वश में रख सकता है जो गुणातीत होता है। इस लिये गुणातीत होना चाहिये। (११) जो पदार्थ सदा बना रहता है वह 'सत्' कहलाता है। ईश्वर और उसका अंशी जीवात्मा अविनाशी होने के कारण 'सत्' है। ज्ञानी मनुष्य आत्मज्ञान में दृढ होकर सदा ईश्वर ही में लिप्त रहता है और किसी अन्य पदार्थ की परवाह नहीं करता। ऐसा करना ही मोक्षदायक है। किसी २ टीकाकार ने ऐसा भी लिखा है कि कर्म के वास्ते कर्ता, कर्म के ज्ञान, और कर्म के साधन का होना जरूरी है। जब तक मनुष्य गुणों से उत्पन्न होने वाले नामरूप आत्मिक भेद के कारण अपने आप को कर्ता मानकर कर्म करता है और आपे का कर्म के ज्ञान और कर्म के साधन से न्यारा समझता है, तब ही तक यह कर्म बन्धन उसके हेतु बने रहते हैं। जब वह सर्वमयी भगवान का ज्ञान पाकर इन तीनों को एक जान लेता है तब ही गुणातीत होकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है (देखो भजन १२४)।

[भजन नं० २१—श्लोक नं० ४६]

(वेदों और ब्रह्मज्ञान की महिमा)

(तर्ज—ऊधो प्यारे कर्मन की गति न्यारी)

अर्जुन वेद महा कल्याणी । इन की फल दायक है बानी ॥
जैसे उदपानों से भरते सब मन माना पानी ।
सर्व प्रयोजन इन से अपना सिद्ध करें सब प्रानी ॥१॥
जैसे सागर में मिल जावे सब नदियों का पानी ।
लय हों इनके ब्रह्मज्ञान में तीनो गुण की खानी ॥२॥
तीनो गुण का त्याग "विमल" वह करता पूरा ज्ञानी ।
जिसने इनके ब्रह्मज्ञान की यह महिमा पहिचानी ॥३॥

टिप्पणी ।

(१) जलाशय अर्थात् वह स्थान जहां से पानी मिलता है जैसे कूप, तालाब, नदी आदिक । (२) जिस प्रकार जल के स्थान पर जाकर सब अपनी अपनी जरूरत के अनुसार जल से काम लेते हैं—(कोई पीने के वास्ते भरता है, कोई स्नान के लिये, कोई अन्य कामों के लिये) उसी तरह वेद भी ऐसे ग्रन्थ हैं जिन से सब की सब कामनायें पूरी होती हैं । जो कर्मकाण्डी हैं वह वेदों के बताये हुए यज्ञ याग रचा कर अपनी कामनायें पूरी करते हैं । जो ज्ञानकाण्डी हैं वह निष्काम रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते और मोक्ष के अधिकारी बनते हैं । तिलक महाराज और मिसेज एनी बिसेन्ट ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि जैसे पानी की बाढ़ आजाने से किसी और उदपान की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानकाण्डी बन जाने से वेदों की आवश्यकता नहीं रहती । यदि इस अनुवाद का फलितार्थ केवल कर्मकाण्ड को अधम और ज्ञानकाण्ड को उत्तम बताना है तब तो इसका अभिप्राय भी वही है जो हमने ऊपर लिखा है, यदि इस से वेदों के निरर्थक और ज्ञान रहित होने का मतलब है तब यह माननीय नहीं हो सकता । कारण यह कि वेदों की महिमा और उनका ब्रह्मज्ञान श्री कृष्णजी भी स्वीकार करते थे । इस लिये वह वेदों के विषय में ऐसा नहीं कह सकते थे । ऊपर भी कर्मकाण्ड ही की अधमता दिखाई है और यहां भी वही उद्देश्य है । (३) सारे सांसारिक सुख नदियों की समान हैं और ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न होने वाला आनन्द समुद्र की समान । जैसे समुद्र में सारी नदियां जा मिलती हैं वैसे ही ब्रह्मज्ञान का आनन्द सारे सुखों के लय होने का स्थान है अर्थात् सारे सांसारिक सुखों के जो आनन्द हो सकता है उस से कहीं बढ़कर

ब्रह्मज्ञान का आनन्द होता है। इस लिये जिस को ब्रह्मज्ञान का आनन्द मिल जाता है उस को सारे सांसारिक सुख फीके मालूम होने लगते हैं। (४) ब्रह्मज्ञानी तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण से उत्पन्न होने वाले सब सुखों को त्याग कर गुणातीत बना हुआ ब्रह्मज्ञान के आनन्द लूटता है और किसी सांसारिक सुख की परवाह नहीं करता।

[भजन नं० २२-श्लोक नं० ४७-४८]

(कर्म योग शिक्षा)

(तर्ज—इलाजे दर्दे दिल तुम से मसीहा हो नहीं सकता)

जगत् में कर्म की बाडी, लगाने का तू अधिकारी।
फलेगी कैसी फुलवाडी, न तू यह सोचे आचारी ॥१॥
न कर तु कर्म का त्यागन, कि है या का उचित पालन।
पर अपनी कामना कारन, न होवे है धनुषधारी ॥ २ ॥
न त्यागन कर्म का कीजो, न ऐसी भावना रखियो।
यहां जो धर्म समझा हो, तो तेरी भूल है भारी ॥ ३ ॥
कर अपने कर्म तू पूरन, परन्तु रख अकर्तापन।
उचित सम भाव का धारन, कि यह ही योग अविकारी ॥४॥
धनञ्जय साध तू मन को, असिद्धी सिद्धि जो सम हो।
स्थिर तू योग मांहीं हो "विमल" यह सर्व हितकारी ॥ ५ ॥

टिप्पणी

(१) *कर्म करना तेरे वश में है, उनका त्याग तेरे वश में नहीं* क्योंकि मनुष्य की देह प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण स्वाभाविक रीति से कर्म करने का अधिकार रखती है। प्रकृति के तीनो गुणों में से रजोगुण का प्रभाव कर्म करना है, वह मनुष्य की देह से कहां दूर हो सकता है? इस लिये कर्म का सन्यास अर्थात् बिल्कुल त्याग देना उसके वश की बात नहीं (विस्तार के हेतु देखो तीसरा अध्याय)। (२) अठारहवे अध्याय (भजन १२३) में यह बताया है कि कर्म के पूरा होने के लिये ५ पदार्थ होने चाहियें (काया, कर्ता, इन्द्रिया, इन्द्रिय शक्ति और इन्द्रियों के देवता)। इन में से इन्द्रियों के देवताओं पर मनुष्य का कोई जोर नहीं है, इस लिये *कर्म का फल सदा उसको सोचने* के अनुसार नहीं होता। यही कारण है कि कर्म के फल की आशा से कर्म करना अनुचित है। इस में दुःखदाई कामना का प्रवेश होने से वह दुःख और

बन्धन का कारण होता है । (३) कर्म करने वाले । (४) कर्म को सदा अपना कर्तव्य जान कर करना चाहिये । कभी इस प्रयोजन से कर्म करना उचित नहीं कि इस कर्म से हम का यह फल मिलेगा कारण यह कि ऐसा कामना युक्त कर्म बन्धन का कारण होता है । जो कर्म निष्काम बुद्धि से किया जाता है उस से बन्धन नहीं होता, क्योंकि कर्म आप बन्धन नहीं डालता, कर्ता की सकाम बुद्धि बन्धन उत्पन्न करती है । (५) अपने आप को कर्म का कर्ता न मान कर यह समझना कि प्रकृति के तीनों गुण जिन से हमारी देह रची हुई है हम से कर्म कराते हैं (क्योंकि कर्म करना प्रकृति का स्वाभाविक गुण है) अर्थात् यह मानना कि हम प्रकृति के कर्म पात्र हैं और इस भाव से कर्म करना "अकर्ता भाव" कहलाता है । (६) निर्द्वन्द्व भाव अर्थात् यह भाव जिस में कर्त्ता को दु ख सुख, बुराई भलाई आदि की परवाह नहीं होती । जब कर्ता को यह निश्चित होजाये कि यह कर्म करना मेरा कर्तव्य है तब उसको चाहिये कि वह और किसी बात की परवाह न करके उस कर्म को अवश्य करे । (७) यह योग अर्थात् कर्म योग का अर्थ बताया है । अकर्ता भाव से अर्थात् निरहंकार और निर्द्वन्द्व होकर कर्तव्य की पालना के हेतु कर्म करना 'योग' या 'कर्म योग' कहलाता है । (८) जिस में कोई विकार उत्पन्न न हो । कर्मयोग का नियम अटल है । इस में कर्म का फल कर्त्ता को उस की बुद्धि के अनुसार मिलना सत्य माना जाता है । जो निष्काम बुद्धि से कर्म करता है वह इसी तरह बन्धन से दूर रहता है, जैसे राजा के अधिकारी और राजा राजनीति के कर्म करने से कभी जाती तौर से जिम्मेवार नहीं होते । जो सकाम कर्म करता है वह अपने कर्म का आप जिम्मेवार ठहराया जाता है । (९) कर्मयोगी अपने कर्तव्य पालन करने में यह विचार नहीं करता कि इस मेरे कर्म से मुझे सफलता होगी या नहीं, कारण यह कि वह सफलता और निष्फलता दोनों को समान समझता है । ऐसा ही भाव रखने की यहां आज्ञा दी गई है । (१०) कर्मयोग मार्ग पर चलने वाला अपनी निष्काम बुद्धि के कारण कभी उसके फल का जिम्मेवार नहीं होता । इसलिये योग उस को कभी अशुभ नहीं होता बल्कि कर्मयोग साधन से जो चित्त की शुद्धि होती है वह मोक्ष का साधन होने के कारण उसके हेतु हितकारी है ।

[भजन नं० २३—श्लोक न० ४९-५३]

(कर्म योग विस्तार)

(तरज—मजा देते हैं क्या यार तेरे बाल घूंघर वाले)

कर्म कुशलता ले तू जान, अर्जुन यह ही योग कहाये ।
है कर्म अधम ही धनञ्जय, इस बुद्धि योग के आगे ।
जो फल की चाहना राखे, वही मनुज कृपण कहलाये ॥ १ ॥

हो योग माहीं उद्योगी, ले शरण बुद्धि की तू भी।
नहीं पुण्य पाप का भोगी, जो बुद्धि युक्त हो जाये ॥२॥
जो बुद्धि युक्त मुनि होवे, वह फल की चाहना छोड़े।
वही जन्म बन्ध को तोड़े, वही परम धाम को आये ॥ ३ ॥
अब निकल मोह दलदल से, तू बुद्धि आश्रय लेके।
मन चलेगा कब सुनने से, कब सुना हुआ अपाये ॥ ४ ॥
जब मिटे यह झगड़ा भ्रम का, जब होय बुद्धि में स्थिरता।
जब पावे चित्त निश्चलता, तुझे योग "विपल" मिल जाये ॥५॥

टिप्पणी

(१) तरकीब, हिकमत या होशियारी (कर्म करने की)। पिछले भजन म "योग" का अर्थ समता भाव का धारण करना बताया जा चुका है, यहां उसी को दूसरी परिभाषा में वर्णन किया है कि कर्मों में कौशल अर्थात् होशियारी का नाम योग है। इसी लिये "कर्म योग' या 'योग' का अर्थ यह है कि कर्म को एसे ढंग से किया जाये कि जिस में कर्त्ता को बन्धन भी न लगे और लौकिक या सामाजिक व्यौहार भी चलता रहे अर्थात् जिस में लोक और परलोक दोनों बने रह। यह तब ही हो सकता है कि जब कर्त्ता की बुद्धि निष्काम हो। यह कर्म को केवल अपना कर्तव्य मान कर करे और दु:ख सुख, लाभ हानि, मान अपमान आदिक द्वन्द्वताओं से रहित रह कर समता भाव रखता हुआ करे। इसी कारण योग का जो अर्थ पिछले भजन में और यहां बताया है, वह असल में एक ही बात है (२) कर्म करना इन्द्रियों का काम है। कम करने की इच्छा करना मन का कर्त्तव्य है। कर्म करने से पहले उसका करने या न करने योग्य निश्चय करना बुद्धि का धर्म है। इस लिये शुभ कर्म वही है जिसको बुद्धि निश्चय करके मन को उसके करने की आज्ञा देती है और जिस को मन फिर इन्द्रियों से कराता है। या यों कहो कि कर्म का शुभ या अशुभ होना बुद्धि के योग अर्थात् कौशल पर या समता भाव पर अवलम्बित है। इस कारण कर्म की पदवी बुद्धि से नीची है [विस्तार के लिये देखो भजन २६] (३) जो मूर्ख बहुत चतुराई छांट कर फल की चाहना से कम करता है और अपने जीवात्मा को बन्धन में डालता है वह बुद्धि के योग को काम में न लाने के कारण 'कृपण' कहलाता है ('कृपण' उस नीच को कहते हैं जो काम में लाने योग्य वस्तु के उपयोग मे कंजूसी करता है) (४) यत्न करने वाला। (५) बुद्धि की शरण या आश्रय लेने वाला अर्थात् बुद्धि के योग से कर्म करने वाला। जिस मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और स्थिर हो जाती है या यों कहो कि जिस को

बुद्धि योग आ जाता है वह निष्काम भाव से कर्म करने के कारण बन्धन मे नहीं पड़ता न उस को अशुभ कर्म का दोष लगता है, न वह पुण्य या पाप का भागी होता है। स्मरण रहे कि यह अर्जुन की उस शंका का उत्तर है कि मैं अपनों और गुरुजनों को कैसे मारू, मुझे उनके मारने से बड़ा पाप होगा। (६) मनन करने वाला (७) निष्काम कर्म करने वाले अर्थात कर्मयोगी को कर्म करने से पुण्य या पाप नहीं होता, इसलिये वह बन्धन में पड़कर उनके फल भोगने के हेतु बार२ जन्म नहीं लेता (८) मोक्ष गति या वैकुण्ठ (९) अज्ञान से उत्पन्न होने वाली भूल (१०) जितनी रोचक या भयानक बातें अज्ञानियों और कर्म काण्डियों के हेतु बताई जाती हैं उन के सुनने से मनुष्य तब ही तक ललचाता या धसकता है जब तक कि अज्ञान से वह उन बातों के तत्व को नहीं जानता और बुद्धि को शुद्ध और स्थिर बना कर उसके निर्णय के अनुसार कर्म नहीं करता। जब कर्मयोग से उस की शुद्धि हो जाती है और उस का तत्व ज्ञान हो जाता है वह उन बातों को सुन कर उन की परवाह नहीं करता। स्मरण रहे कि यह अर्जुन की उस शंका का उत्तर है जो उसने पहिले अध्याय (भजन ६) मे यह कह कर प्रगट की हुई है कि हमने सुना है कि कुलघात से पितृ नरक को जाते हैं और हमारे युद्ध करने में कुलघात होने से हमारे पितृ भी नरक में पड़ेंगे और हमको पाप होगा इत्यादि (११) उस मूल श्लोक का जिस का अनुवाद हमने यहा पांचवें अन्तरे में किया है किसी २ टीकाकार ने यह भी अर्थ किया है कि जब श्रुति अर्थात् वेदों के बताये हुए कर्मकाण्ड से उत्पन्न होने वाला भ्रम दूर हो जावेगा तब योग प्राप्त होगा। यदि यह अर्थ भी किया जाये तब भी भावार्थ वही रहता है जो हमारे अनुवाद का है।

(भजन नं० २४ श्लोक नं० ५४–५८, ६०–६१, ६४)

(स्थित प्रज्ञ की पहिचान)

(तरज—मुझे पसीह के एहसान से बचा लेना)

दोहा

इतनी सुन कर पार्थ ने पूछा हे भगवान।
स्थितप्रज्ञ की किस तरह होती है पहिचान॥

जो स्थितप्रज्ञ है दुख से दुखी नहीं होता।
स्वाद चाखे सुखों का खुशी नहीं होता॥ १॥
रहे मगन सदा आप आत्मा में वह।
फँसा हुआ किसी इच्छा में जी नहीं होता॥ २॥

रहे अक्रोध करे दूर राग भय जी से ।
उसे लगाव किसी से कभी नहीं होता ॥ ३ ॥
प्रिय पदार्थ मिले से बने न अनुरागी ।
अप्रिय संग उस द्वेष भी नहीं होता ॥ ४ ॥
समेट लेत है कच्छप समान इन्द्रिन को ।
विषय विलास करे से विषयी नहीं होता ॥ ५ ॥
लगाम आप रखे हाथ में सदा उनकी ।
विषय विहार यहा सारथी नहीं होता ॥ ६ ॥
चतुर सुजान मनुज को हरायें यह इन्द्री ।
बिना उद्योग सहज में विजयी नहीं होता ॥ ७ ॥
द्वेष राग करे दूर जी रखे बस में ।
अयुक्त और विषय लालची नहीं होता ॥ ८ ॥
यही विचार करे मैं "विमल" परम गति हूं ।
विषय उखेड परमधाम की नहीं होता ॥ ९ ॥

टिप्पणियाँ

(१) ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन ने अपने जी में यह समझा होगा कि स्थितप्रज्ञ (कर्मयोगी) किसी अलौकिक ढंग से रहता होगा, इस लिये यह प्रश्न किया (२) जिसकी बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो, उस कर्मयोगी को 'स्थित प्रज्ञ' कहते हैं । ऐसा ही कर्मयोगी 'ब्रह्मस्थित' कहलाता है और ऐसे ही को बारहवें अध्याय में भक्त का और चौदहवें अध्याय में गुणातीत का नाम दिया गया है । इस बात से परिणाम यह निकलता है कि कर्मयोग से योगी होकर, भक्ति से भक्त होकर और ज्ञान से गुणातीत होकर अन्त में मनुष्य उस एक ही पदवी पर पहुंच जाता है जिस के यहां लक्षण वर्णन हुए और जो जीवन्मुक्त पुरुषों की गति है । (३) निर्द्वन्द्व होने के कारण वह दुःख का दुःख और सुख का सुख न मान कर समता भाव रखता हुआ स्थिर रहता है । (४) भजन (१३) में यह बताया जा चुका है कि परमेश्वर का अंश जीवात्मा दुःख सुख से रहित है । सुख दुःख मात्रा स्पर्श से होते हैं । इस कारण जो मनुष्य आत्मदर्शन से सन्तुष्ट होकर इच्छाओं को त्याग देता है (क्योंकि यही सारे दुःखों का घर होती हैं) वह सदा ही प्रसन्न रहता है । कारण यह कि जीव जिस परमात्मा का अंश है वह परमानन्द है । अब रहा यह कि इच्छाओं या काम से दुःख और नाश किस प्रकार होता है, इस का कथन अगले भजन में होगा (५) जिस का

(किसी पदार्थ के जाते रहने या किसी कार्य्य मे विघ्न पड़ने से) क्रोध न आये (६) (किसी पदार्थ के प्राप्त होने या भोगने से उत्पन्न होने वाला) अनुराग या हर्ष (७) (किसी पदार्थ के जाते रहने या किसी कार्य्य मे विघ्न पडने का) भय (८) जिस किसी का इस प्रकार के क्रोध राग या भय से लगाव या सम्बन्ध नहीं रहता वह निर्द्वन्द्व मनुष्य किसी पदार्थ से अटकाव नहीं रखता । (६) दुःखदायी पदार्थ के मिलने या विपत्ति पडने से जी में क्लेश नहीं करता। सुखकारी पदार्थ के प्राप्त होने या अच्छा समय आने से खुश होकर जी में नहीं फूलता। कारण यह कि यह जानता है कि यह दुःख सुख उसको उसके कर्मों के फल से मिलते हैं और इनका भोगना अवश्य है। "(दोहा) कर्म भोग भोगे कटे, ज्ञानी मूरख दोय। ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोय॥" (१०) कछुवे के हाथ, पाँव और शिर आदिक अंग उसके ऐसे वस में होते हैं कि वह जब जरा सा भी खटका देखता है, तब ही उनको झट भीतर समेट कर अपनी रक्षा कर लेता है। इसी भाँति स्थित प्रज्ञ जब जरा भी किसी इन्द्रिय को चलायमान पाता है, झट उस को रोक कर अपने वस में ले आता है। (११) सांसारिक भोग या दुनिया के मजे। (१२) विषय में फँसा हुआ। (१३) दुनिया के मजे जो अन्त में विष की समान होने के कारण 'विषय' कहलाते हैं उस मनुष्य को धर्म मार्ग से हटा कर नहीं ले जा सकते। क्योंकि वह सारथी की समान इन्द्रियों की बाग को अपने हाथ में रख कर उनको अपने आधीन रखता है। (१४) सचित कर्मों के फल से मनुष्य का स्वभाव वैसा ही बनता है जैसा कि उन फलों के भोगने के हेतु होना चाहिये, और इन्द्रिया उसी स्वभाव के अनुसार कर्म कराती हैं। इसलिये ज्ञान हो जाने पर भी वह प्रारब्ध के भोगने से नहीं बच सकता। इन्द्रिया उससे वह कर्म करा देती हैं जिनको वह अनुचित जानता है। (१५) अब यह शङ्का होती है कि यदि ज्ञान होने से भी मनुष्य इन्द्रियों के आधीन होकर चलायमान हो जाता है तब क्या मोक्ष पाने की सब आशा व्यर्थ है? इस का उत्तर यह है कि उसमें केवल ज्ञान ही से इन्द्रियों को वस म लाने की शक्ति नहीं आ सकती। इसके हेतु कर्म योग आदिक के द्वारा उद्योग अर्थात् यत्न करने की आवश्यकता है। या यों कहो कि प्रारब्ध के बन्धन से छूटने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है (विस्तार के लिय देखो भजन ३२ की टिप्पणी।) आत्मा में सदा यह प्रेरणा होती है कि वह बन्धन स निकल कर मोक्ष प्राप्त करे, इस लिये जो मनुष्य इन्द्रियों का कहना न मान कर आत्मा की प्रेरणा के अनुसार चलने का उद्योग करता है वह हौले हौले इन्द्रियों को जीत कर अपने पुरुषार्थ से प्रारब्ध का बदल लेता है। कारण यह कि प्रारब्ध सचित कर्मों ही के फल का नाम है। पिछले प्रारब्ध को भोगता हुआ और पुरुषार्थ से आगे के लिये अच्छा प्रारब्ध बनाता हुआ वह धर्म मार्ग पर आकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। (१६) इन्द्रियों पर विजय पाने वाला। (१७, जिससे युक्ति अर्थात् कर्मयोग साधन

रहे अक्रोध करे दूर राग भय जी से ।
उसे लगाव किसी से कभी नहीं होता ॥ ३ ॥
प्रिय पदार्थ मिले से बने न अनुरागी ।
अप्रिय सग उस द्वेष भी नहीं होता ॥ ४ ॥
समेट लेत है कच्छप समान इन्द्रिन को ।
विषय विलास करे से विषयी नहीं होता ॥ ५ ॥
लगाम आप रखे हाथ में सदा उनकी ।
विषय विहार यहा सारथी नहीं होता ॥ ६ ॥
चतुर सुजान मनुज को हरायें यह इन्द्री ।
बिना उद्योग सहज में विजयी नहीं होता ॥ ७ ॥
द्वेष राग करे दूर जी रखे बस में ।
अयुक्त और विषय लालची नहीं होता ॥ ८ ॥
यही विचार करे मैं "विमल" परम गति हूं ।
विषम उखेड परमधाम की नहीं होता ॥ ९ ॥

टिप्पणी

(१) ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन ने अपने जी में यह समझा होगा कि स्थितप्रज्ञ (कर्मयोगी) किसी अलौकिक ढंग से रहता होगा, इस लिये यह प्रश्न किया (२) जिसकी बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो, उस कर्मयोगी को 'स्थित प्रज्ञ' कहते हैं । ऐसा ही कर्मयोगी 'ब्रह्म स्थित' कहलाता है और ऐसे ही को बारहवें अध्याय में भक्त का और चौदहवें अध्याय में गुणातीत का नाम दिया गया है । इस बात से परिणाम यह निकलता है कि कर्मयोग से योगी होकर, भक्ति से भक्त होकर और ज्ञान से गुणातीत होकर अन्त में मनुष्य उस एक ही पदवी पर पहुंच जाता है जिस के यहां लक्षण वर्णन हुए और जो जीवन्मुक्त पुरुषों की गति है । (३) निर्द्वन्द्व होने के कारण वह दुःख का दुःख और सुख का सुख न मान कर समता भाव रखता हुआ स्थिर रहता है । (४) भजन (१३) में यह बताया जा चुका है कि परमेश्वर का अंश जीवात्मा दुःख सुख से रहित है । सुख दुःख मात्रा स्पर्श से होते हैं । इस कारण जो मनुष्य आत्मदर्शन से सन्तुष्ट हो कर इच्छाओं का त्याग देता है (क्योंकि यही सारे दुःखों का घर होती हैं) वह सदा ही प्रसन्न रहता है । कारण यह कि जीव जिस परमात्मा का अंश है वह परमानन्द है । अब रहा यह कि इच्छाओं या, काम से दुःख और नाश किस प्रकार होता है, इस का कथन अगले भजन में होगा (५) जिस का

(किसी पदार्थ के जाते रहने या किसी कार्य्य मे विघ्न पड़ने से) क्रोध न आये (६) (किसी पदार्थ के प्राप्त होने या भोगने से उत्पन्न होने वाला) अनुराग या हर्ष (७) (किसी पदार्थ के जाते रहने या किसी कार्य्य मे विघ्न पड़ने का) भय (८) जिस किसी का इस प्रकार के क्रोध राग या भय से लगाव या सम्बन्ध नहीं रहता वह निर्द्वन्द्व मनुष्य किसी पदार्थ से अटकाव नहीं रखता। (९) दुःखदायी पदार्थ के मिलने या विपत्ति पड़ने से जी में क्लेश नहीं करता। सुखकारी पदार्थ के प्राप्त होने या अच्छा समय आने से खुश होकर जी में नहीं फूलता। कारण यह कि वह जानता है कि यह दुःख सुख उसको उसके कर्मों के फल से मिलते हैं और इनका भोगना अवश्य है। "(दोहा) कर्म भोग भोगे कटे, ज्ञानी मूरख दोय। ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोय॥" (१०) कछुवे के हाथ, पांव और शिर आदिक अंग उसके ऐसे वस में होते हैं कि वह जब जरा सा भी खटका देखता है, तब ही उनको झट भीतर समेट कर अपनी रक्षा कर लेता है। इसी भांति स्थित प्रज्ञ जब जरा भी किसी इन्द्रिय को चलायमान पाता है, झट उसको रोक कर अपने वस में ले आता है। (११) सांसारिक भोग या दुनिया के मजे। (१२) विषय में फँसा हुआ। (१३) दुनिया के मजे जो अन्त में विष की समान होने के कारण 'विषय' कहलाते हैं उस मनुष्य को धर्म मार्ग से हटा कर नहीं ले जा सकते। क्योंकि वह सारथी की समान इन्द्रियों की बाग को अपने हाथ में रख कर उनको अपने आधीन रखता है। (१४) सचित कर्मों के फल से मनुष्य का स्वभाव वैसा ही बनता है जैसा कि उन फलों के भोगने के हेतु होना चाहिये, और इन्द्रिया उसी स्वभाव के अनुसार कर्म कराती हैं। इसलिये ज्ञान हो जाने पर भी वह प्रारब्ध के भोगने से नहीं बच सकता। इन्द्रिया उससे वह कर्म करा देती हैं जिनको वह अनुचित जानता है। (१५) अब यह शङ्का होती है कि यदि ज्ञान होने से भी मनुष्य इन्द्रियों के आधीन होकर चलायमान हो जाता है तब क्या मोक्ष पाने की सब आशा व्यर्थ है? इस का उत्तर यह है कि उसमें केवल ज्ञान ही से इन्द्रियों को वस में लाने की शक्ति नहीं आ सकती। इसके हेतु कर्म योग आदिक के द्वारा उद्योग अर्थात् यत्न करने की आवश्यकता है। या यों कहो कि प्रारब्ध के बन्धन से छूटने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है (विस्तार के लिय देखो भजन ३२ की टिप्पणी।) आत्मा में सदा यह प्रेरणा होती है कि वह बन्धन से निकल कर मोक्ष प्राप्त करे, इस लिये जो मनुष्य इन्द्रियों का कहना न मान कर आत्मा की प्रेरणा के अनुसार चलने का उद्योग करता है वह हौले हौले इन्द्रियों को जीत कर अपने पुरुषार्थ से प्रारब्ध का बदल लेता है। कारण यह कि प्रारब्ध सचित कर्मों ही के फल का नाम है। पिछले प्रारब्ध को भोगता हुआ और पुरुषार्थ से आगे के लिये अच्छा प्रारब्ध बनाता हुआ वह धर्म मार्ग पर आकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। (१६) इन्द्रियों पर विजय पाने वाला। (१७) जिससे युक्ति अर्थात् कर्मयोग साधन

नहीं होता, या यों कहो कि जिसको निष्काम बुद्धि से कर्म करना नहीं आता। (१८) कर्मयोगी यह समझ लेता है कि मैं परम गति अर्थात् ईश्वर का भाव रखने वाला जीवात्मा हूँ। विषय भोग के बन्धन से मनुष्य जगत में दुःख पाता है। जब यह विषय भोग का त्याग देता है तब फिर उसको वही परमधाम या परमगति मिल जाती है। ऐसा विचार करके वह विषय को अपनी मुक्ति के मार्ग में विघ्न नहीं डालने देता।

(भजन नं॰ २५ श्लोक नं॰ ६२—६३)

[विषय द्वारा नाश होने का निरूपण]

(तर्ज—बलि को छलन चले री त्रिलोकी)

अर्जुन नाश विषय से होवे।

विषय चाह से संग बढ़े अरु संग काम उपजावे।
और काम में विघ्न पड़े तो, क्रोध प्रगट फिर हृदय होवे ॥१

क्रोध से मोह अधिक हो जाये, बौरापन छा जाए।
ज्ञान रहे न भले बुरे का, भ्रम की उपजन जासे होवे ॥२॥

फिर भूम के यों बढ़ जाने से, बुद्धि नष्ट हो जाए।
'विमल' बुद्धि का क्षय होने से, नाश विषय से निश्चय होवे ॥४

टिप्पणी।

(१) आनन्द के हेतु इन्द्रियों से भोग भोगना। (२) लगावट या सम्बन्ध। निष्काम भाव के विपरीत सकाम भाव। (३) मनुष्य में स्वाभाविक रीति से इस बात की चाहना होती है कि जिस बात से उसे एक बार आनन्द आता है वह उसे बार बार करना चाहता है। जो भोजन स्वाद लगता है उस को खाने की इच्छा फिर उत्पन्न होती है। जो एक बार जूआ खेलता है, उसका मन फिर भी खेलने को चाहता है। अभ्यास से बार बार ध्यान उसी ओर आता है और ध्यान जाने से उसकी चाहना प्रबल होती है। (ईश्वर के नाम की माला फेरना या जप करना भी इसी नियम के आधार पर बताया है)। इसीलिये बाह नाओं को "जितना खाय उतना लिलियाय" से बचाने के कारण यह शिक्षा दी जाती है। (४) कामना। स्मरण रहे कि श्री मद्भगवद्गीता में 'काम' का शब्द सदा ही कामना का अर्थ रखती है। इस शब्द का जो सकुचित अर्थ अब प्रचलित है

(अर्थात् स्त्री भोग की चाहना) यह अर्थ इस ग्रंथ में नहीं लिया गया है। (५) जब किसी की मर्जी के विरुद्ध कोई बात होती है तो उसको क्रोध आया करता है, कारण यह कि किसी को अपनी कामना में विघ्न का पड़ना नहीं सुहाता (६) आजकल इस शब्द का संकुचित अर्थ अर्थात् ममता या प्रीति प्रचलित है परन्तु श्री मद्भगवद्गीता में इसका अर्थ सब जगह यह 'भूल' या 'गफलत' है जो अज्ञान से उत्पन्न होती है। इसी कारण बहुत करके इसका उपयोग 'अज्ञान' शब्द के साथ हुआ है। ममता भाव से मनुष्य अपने प्रिय पदार्थों के ध्यान में लवलीन होने के कारण अन्य पदार्थों की ओर से अचेत हो जाता है, इसलिये 'मोह' शब्द का संकुचित अर्थ 'प्रीति' हो गया है। (७) जैसे ज्वर में बौरान हो जाता है वैसे ही क्रोध में भी मनुष्य को बौरान हो जाता है। उसको यह चेत नहीं रहता कि कौनसा कर्म करना उचित है और कौनसा अनुचित। यह ही कारण है कि क्रोध में मनुष्य चाहे जो कुछ कर बैठता है और क्रोध के दूर होने पर उस किये हुए पर पछताता है। आजकल के कानून में भी उस अपराधी को दण्ड कम दिया जाता है, जो किसी के क्रोध दिलाने के कारण अपराध कर बैठता है। (८) क्रोध के वेग से यह करने न करने योग्य कर्मों की पहिचान को भूलकर उचित या अनुचित का निर्णय करने के योग्य नहीं रहता। इसी दशा का नाम 'भ्रम' है (९) बुद्धि का काम यह निर्णय करना है कि कौन सा कर्म उचित है कौन सा अनुचित। जब भ्रम के कारण बुद्धि यह काम नहीं कर सकती तब मानो बुद्धि का नाश हो जाता है क्योंकि जो वस्तु समय पर अपना काम न दे उसका भाव और अभाव बराबर है। (१०) नाश। (११) जब बुद्धि यह निर्णय नहीं करेगी कि कौनसा कर्म उचित है और कौनसा अनुचित तब मनुष्य से अनुचित कर्म अवश्य होंगे। अनुचित कर्मों (पापों) का फल जीव का बन्धन और मुक्ति का नाश है। जिसकी मुक्ति का नाश हो जाता है उसका मानो सर्वनाश हो जाता है। काकभुशुण्ड जी ने कहा है—"(चौपाई) मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि ते पुनि उपजै बहु शूला॥ काम, वात, कफ, लोभ, अपारा। क्रोध, पित्त नित छाती जारा॥"

(भजन नं० २६ श्लोक नं० ५९, ६५-७२)

[स्थित प्रज्ञ बनने का फल]

(तरज (माड)—तेरे कोठे ऊपर चोर ननदी धीरे बोलो ना।)

पावे शांति वह ही पार्थ, जाकी बुद्धि अचल हो जाय॥

तजकर विषय-अहार को, इन्द्रिन बल घट जाय।

पर तृष्णा तब ही मिटे, जब हरिदर्शन पाय ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ १ ॥
जो इन्द्रिन को जीत ले, कर विषयन को चूर ।
वह ही पाय शांति मन, वा ही के दुख दूर ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ २ ॥
विषयी के समता नहीं, बुद्धि नहीं स्थिर होय ।
शांति नहीं समता बिना, सुखी कहा फिर होय ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ३ ॥
विषयी मन यों जीव को, धारा बीच डुबोय ।
जैसे वायु नाव को, जो पे खेवट होय ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ४ ॥
योगी का दिन आत्मा, और जगत् है रात ।
अज्ञानी अज्ञान से, समझे उलटी बात ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ५ ॥
योगी साधारण करें, जग के बीच अँधार ।
वह आत्म के घट पर, वह भोगन के द्वार ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ६ ॥
जैसे भरे समुद्र को, नदियन जल न बहाय ।
योगी को यों कामना, चञ्चल नहीं बनाय ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ७ ॥
चाल चले निष्काम जो, विषयन चित्त न लाय ।
"मैं मैं" ममता को तजे, शांति वही जन पाय ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ८ ॥
यही "विमल" पद, ब्रह्म का दूर करे अज्ञान ।
मरण समय जो जी बसे, पावे नर निर्वाण ॥
जा की बुद्धि अचल हो जाय ॥ ९ ॥

टिप्पणी,

(१) जिस गति में इन्द्रिया बुद्धि के आधीन रह कर बुद्धि की आज्ञा पालन करती हैं और बुद्धि को अपने आधीन न करके चचलता से रहित हो जाती हैं, उसका नाम शान्ति' है। इस गति को प्राप्त करके बुद्धि इतनी स्थिर हो जाती है कि इन्द्रिया अपनी चंचलता से उसकी स्थिरता भग नहीं कर सकतीं। (२) जिस प्रकार व्रत उपवास आदिक से मनुष्य दुर्बल हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को (उन को पुष्टि करने वाले) विषय भोगों से दूर रखने से उनकी चंचलता कम हो जाती है। कारण यह कि इन्द्रियो के हेत विषय भोग आहार अर्थात् वल देने वाले भोजन के समान होते हैं (क्योंकि भोगों के भोगने ही से इन्द्रियों में राग भाव उत्पन्न होकर उन भोगों को बार बार भोगने की चाहना होती है) जैसा कि पिछले भजन की टिप्पणी में उल्लेख हो चुका है। (३) जब ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान का परदा हट जाने से सर्व जगत् परमात्मा ही का साक्षात् रूप दिखाई देने लगता है अर्थात् जब हरि दर्शन हो जाता है, तब सब पदार्थों के तत्व का भेद जानने के कारण यह तृष्णा दूर हो जाती है, कि मैं इन्द्रिय सुख भोगू, क्योंकि इन्द्रिय भोग का आनन्द ब्रह्म ज्ञान के आनन्द के सन्मुख उस का कनिष्ट मालूम होने लगता है। यह ही कारण है कि पहले पाचवे अध्याय तक कर्म योग की शिक्षा देकर श्रीमद्भगवत् गीता के छठे अध्याय में आत्म सयम और फिर सातवे अध्याय से भक्ति युक्त ज्ञान विज्ञान का विस्तार पूर्वक कथन किया है, जिस में तत्वज्ञान मनुष्य पर प्रामानिक हो कर उस की बुद्धि को स्थिर बनावे, और वह शान्ति पद पाकर मोक्ष प्राप्त करे (४) हर एक कार्य इस विधि से होता है कि पहिले ज्ञान-इन्द्रियों के द्वारा बाहर के पदार्थ का ज्ञान चित्त को होता है। वह चिंतन करके उसको मन के आगे उपस्थित करता है। मन बुद्धि से यह निर्णय कराता है कि यह कर्म करने योग्य है या नहीं। जब बुद्धि उसको करने योग्य निश्चित कर देती है, तब मन इन्द्रियो के द्वारा उस कार्य को करा देता है। इस लिये इन्द्रिया बुद्धि के आधीन होनी चाहियें। जब वह बुद्धि के वश में न हो कर बुद्धि ही को अपने आधीन बना लेती हैं, तब बुद्धि का निर्णय ठीक नहीं होता और इन्द्रिया मनुष्य को विषय भोगो के बंधन में फंसा देती हैं। इस कारण मनुष्य को उचित है कि वह विषय का नाश करके इन्द्रियो को वश में रखे। (५) किसी कामना में विघ्न पड़ने या किसी प्रतिकूल पदार्थ के प्राप्त होने से जो भाव हृदय में उत्पन्न होता है उस को 'दुःख' कहते हैं। इस लिये जिस मनुष्य में कामना न हो या जो समता भाव के कारण अनुकूल और प्रतिकूल को समान जानता है, उसमें दुःख का भाव उत्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि निष्काम भाव रखने वाले शान्त चित्त के सब दुःख नाश हो जाते हैं (६) विषय में प्रीति रखने वाला। (७) जिसका किसी पदार्थ से

प्रीति होती है वह अपने प्रिय पदार्थ के प्रतिकूल पदार्थ से अप्रिय भाव भी रखता है, इसलिये वह द्वन्द्वता का भाव रखने के कारण समता भाव वाला नहीं हो सकता। द्वन्द्वता के न होने ही का नाम समता है। (८) जो समता ने रखकर किसी से प्रीति और किसी से वैर रखता है उसकी बुद्धि पक्षपाती होती है। वह हर घड़ी इसी उधेड़ बुन में रहता है कि प्रिय पदार्थ प्राप्त हो और अप्रिय का नाश हो। इस कामना के सिद्ध करने का वह भाँति भाति के यत्न करता है। उस का जी डावाडोल रहता है कि किस यत्न को करूं और किसको न करूं, इसलिये वह स्थिर नहीं होता [देखो भजन १६] (९) जिस का मन इस प्रकार रह कर डावाडोल रहता है वह अपने सोच विचारो के कारण भ्रम में फँसा हुआ अशान्त और दुःखी रहता है क्योंकि मन की चंचलता के मिट जाने और शांत पद पाने ही का नाम सुख है। "जी सुखी तो जहान सुखी" प्रसिद्ध प्रमाण है। (१०) जब विषय की चाहना इन्द्रियों को बलवान् करके उनको बुद्धि की आधीनता से बाहर निकाल देती हैं तब इन्द्रिया कुकर्म कराकर मनुष्य को आवागमन में डालती और मुक्ति मार्ग से हटाती हैं। बुद्धि मानो वह केवट है जो मनुष्य की नाव को इन्द्रिया के विषय भोग रूपी वायु से बचाता है। जब बुद्धि का विषय से नाश हो जाता है तो मनुष्य का भी वे केवट की नाव के समान नाश हो जाता है। जैसा कि भजन [२५] में उल्लेख हुआ है। रामायण में तुलसीदासजी ने कहा है (चौपाई) "बिनु सन्तोष न काम नशाहीं। काम अछत सुख सपने हु नाहीं॥ राम भजन बिनु मिटे न कामा। थल विहीन तरु कबहु कि जामा" ॥ (११) कर्म योगी या निष्काम भाव वाला मनुष्य (१२) आत्मा के प्रकाश को वह दिन के प्रकाश के समान समझता है (१३) वह जगत की झूठी रौनक और धूम धाम को आत्मा के प्रकाश के आगे रात के समान प्रकाश रहित और अन्धकार वाला मानता है। [१४] कर्म योग आदिक साधनो से जिसको तत्व ज्ञान नहीं होता वह जगत् के झूठे प्रकाश को दिन के समान प्रकाश वाला और आत्मा के सत्य प्रकाश को अज्ञान का परदा आखों पर पड़ा रहने के कारण रात के समान अन्धकार वाला समझता है। या यो कहो कि वह जगत् की असत्य रौनक पर मोहित हो कर सत्य प्रकाश-युक्त आत्मा के आनन्द को नहीं जानता इस लिये संसारिक सुखो की तलाश में परम आनन्द को खो देता है। (१५) दिन को आत्मा के परम आनन्द की खबर नहीं है (१६] जागरण अर्थात् वह यज्ञ (कर्म) जो रात्रि के समय जागृत रह कर किया जाय। (१७) कर्मयोगी आत्मदर्शन के हेतु उद्योग रूपी जागरण करता है अर्थात उसके जो भी कर्म होते हैं वह निष्काम भाव से मोक्ष के हेतु होते हैं। सांसारिक सुखों को वह रात्रि के समान प्रकाश—रहित जान कर उन को प्राप्त करने का कभी यत्न नहीं करता। (१८) इस के विपरीत साधारण मनुष्य जगत के झूठे जी लुभानेवाले पदार्थों मे जी लगा कर उनको प्राप्त करने के हेतु यत्न करता है और आत्मज्ञान

से मिलने वाले परम सुख की ओर ध्यान नहीं देता । (१६) नदियों का जल उन सब वस्तुओं को अपने संग बहा ले जाता हैं जो उसके मार्ग मे आजाती हैं, परन्तु समुद्र के जल मे नदियों के जल के जोर से वहाव पैदा नहीं होता बल्कि नदियों का अपना वहाव भी समुद्र मे गिर कर बन्द हो जाता है । इसी तरह कामना सर्व साधारण मनुष्यों को चचल बना कर उन को धर्म मार्ग से हटा कर ले जाती हैं, परन्तु निष्काम भाव वाला कर्मयोगी कामनाओं से चलायमान न हो कर स्थिर बुद्धि वाला बना रहता है । बल्कि जो कामना उस मे प्रवेश करती है, वह आप ही शात हो जाती है । (२०) वह भाव जिस के द्वारा जीव आत्मा एक न्यारा जीव होने का अभिमान रखता है, जिस को अहकार कहते हैं और जो 'अह' (मैं) के शब्द से प्रगट होता है । स्मरण रहे कि अहंकार का सामान्य अर्थ यही है और श्रीमद्भगवद्गीता में जहा कहीं यह शब्द आया है वहां इसी भाव को प्रगट करता है । इस भाव में अभिमान का समावेश होने से इस का प्रचलित अर्थ अब 'अभिमान' हो गया है । (२१) वह भाव जिसके द्वारा समता या निर्द्वन्द भाव का नाश होकर प्रिय और अप्रिय का भेद उत्पन्न होता है । (२२) जब कर्मयोगी की यह अवस्था हो जाती है कि उस में ऊपर वर्णन किये लक्षण और भाव पैदा हो जाते हैं, तब उस की ऐसी अवस्था "ब्रह्मस्थिति", "परमगति" "शातिपद" "स्थितप्रज्ञ" "गुणातीत" "जीवन्मुक्त" आदिक नामों से पुकारी जाती है (२३) जो इस पदवी पर पहुंच जाता है उस का सारा मोह (भूल) और अज्ञान नष्ट होजाता है । (२४) मरते समय जो विचार जी मे होते हैं (और जो सारे जन्म के कर्मों और विचारो का फल हुआ करते हैं) उसी के अनुसार मनुष्य का अगला जन्म होता है। इसलिये यदि मरते समय कोई कामना न हो, और पूर्ण निष्काम बुद्धि से ईश्वर मे ध्यान लगजाय तो अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि जब कोई कामना ही न हो तो वह जन्म किस कारण ले । (२५) वह ब्रह्मपरायण गति जिस मे मनुष्य पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर के आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है और फिर उस को जन्म मरण के चक्र मे फंसना नहीं पड़ता ।

विमल विलास

दूसरा भाग

कर्म योग

प्रकाशक—
"विमल"

इम्पीरियल प्रिंटिंग प्रेस देहली में छपी।

(ख) यदि मन और बुद्धि की शुद्धि के विना कर्म न किया जाये तो भी मन में कर्म करने की लगन लगी रहती है। जब इन्द्रियों के कर्मों को रोकने पर भी मन कर्म में फंसा रहे, तो कर्म न करने से कोई लाभ नहीं होता। इस के विपरीत कर्म करके मन की उलझन मिटा देना अच्छा है। ऐसा करने से मन, उधर से निश्चिन्त हो कर दूसरे काम के योग्य हो सकता है।

(च) जब कर्मयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्यको कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती तब भी उसका दूसरोंके हेतु कर्म करते रहना उचितहै। ऐसा करने से वह उनके लिये प्रमाण हो जाता है। अन्य मनुष्यों में भी उसकी देखा देखी कर्मयोग की श्रद्धा बढ़ती है। यदि वह कर्म त्याग देवे तो अज्ञानी भी उसको देख कर कर्म करना छोड़ देतेहैं और बुद्धि की शुद्धि व ज्ञान प्राप्ति से रह जातेहैं। बल्कि उलटे धर्म मार्ग से भटक जाते हैं। इस के अतिरिक्त सच तो यह है कि जब मनुष्य को कर्म करने की आवश्यक्ता नहीं रहती तब वह उस पदवी पर पहुंच जाताहै जहा उसको सर्व सृष्टि में एक ही आत्मा दिखाई देने लगता है। वह अपने पराये या अपने और ईश्वर में भेद नहीं मानता। वह ईश्वर की तरह सब कर्म लोक-सग्रह के लिये करता रहता है। यह बुद्धि अज्ञानी की होती है कि मुझे मोक्ष मिल जाये, मेरी ओर से और सब भाड़ में पड़ें।

(छ) यदि राजा और प्रजा सबही गृहस्थआश्रम छोड़कर सन्यासी हो जायें तो फिर ससार-चक्र किस प्रकार चले? सारे ससार में गड़बड़ फैल जाये। कारण यह कि ईश्वर कोई अपने हाथसे सृष्टि चक्र चलाने नही आता। वह मनुष्यों ही के द्वारा सब कुछ कराता है। मनुष्य का यह अहकार ही झूटा है कि मैं कर्म करता हूं।

(ज) कर्म योग से यह काम क्रोध दूर होते हैं जो सारे पापों की जड़ हैं। कर्मयोग हीसे देहको इन्द्रियोंके इन्द्रियोंको मनके मनको बुद्धिके और बुद्धिको आत्मा के आधीन रखनेकी शक्तिप्राप्त होतीहै। इस शक्तिके विना मोक्ष नहीं हो सकती।

"करनी विना कन्त नहीं पावे कहे सुने क्या होय" (दाऊजी)

कर्मयोगका फल यह होता है कि कर्मयोगी निष्काम बुद्धि से कर्म करके उन में लिप्त नहीं होता। इसी लिये वह उनके बन्धन में नहीं पड़ता। जब बन्धन नहीं होता तो मोक्ष आप हाथ बांधे खड़ी रहती है। कारण यह कि बन्धन के न होने ही का नाम मोक्ष है। सकाम कर्म इसी तरह बन्धन पैदा करता है जिस तरह रेशम का कीड़ा अपने ऊपर आप ही कोया तनता है। जब बुद्धि निष्काम हो जाती है, यह कोया फट जाता है और मोक्ष प्राप्त हो जाती है।

विमल विलास

दूसरा भाग

✻ कर्म योग ✻

प्रकाशक—
"विमल"

इम्पीरियल प्रिंटिंग प्रेस देहली में छपी।

तीसरे अध्याय का सार।

दूसरे अध्याय में जो ज्ञान (सांख्य) और कर्म (योग) के दो मार्ग बताये गये हैं उनकी विधि सुनकर अर्जुन को यह शंका रही कि जब ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग दोनों ही मुक्तिदायक हैं, तो कर्ममार्ग पर क्यों चला जाय और ज्ञान मार्ग को क्यों न धारण किया जाय ? जब ब्रह्म ज्ञानी को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती तो कर्म किस कारण किया जाय ? जिस को सन्यासमार्ग अच्छा लगता हो वह कर्ममार्ग पर किस वास्ते चले ? इन शंकाओं को दूर करने के हेतु श्री कृष्णजी ने अर्जुन को इस अध्याय में कर्मयोग का अर्थ कर्मयोग की आवश्यकता और कर्म योग का फल विस्तार पूर्वक समझाया है।

श्रीकृष्णजी ने वर्णन किया है कि निष्काम बुद्धि से कर्म करना, कर्म फल की चाह न रखना फल में कोई सम्बन्ध न रखना इस बात का विचार न करना कि कर्म से क्या फल उत्पन्न होगा, बल्कि उसको केवल अपना कर्तव्य जानकर कुशलता से करना ही कर्मयोग कहलाता है।

कर्म करने की आवश्यकता यह है कि –

(क) स्वभाविक कर्म मनुष्य को करने ही पड़ते हैं। उनके बिना देह का निर्वाह नहीं हो सकता।

(ख) सारे संसार का आधार कर्म ही पर है। परमात्मा के कर्म से प्रकृति अर्थात माया सर्व सृष्टि की रचना करती है। प्रकृति के पांचों महाभूत (आकाश, वायु जल अग्नि पृथ्वी) अपना अपना कर्म (जिसको ब्रह्म यज्ञ कहते हैं) करके संसार–चक्र चलाते हैं। मनुष्य शरीर भी इन ही के कर्म से बनता है। मनुष्य की उत्पत्ति कर्म द्वारा होने से कर्म मनुष्य का स्वभाविक गुण है। इस का करना मनुष्य के हेतु अवश्य है।

(ग) परमेश्वर ही ने कर्मको सृष्टि के संग संग पैदा किया है। कुछ मनुष्य ने इसको उत्पन्न नहीं किया जो वह इसको छोड़ सके। इसी कारण यज्ञ आदिक कर्मों से बन्धन नहीं होता बल्कि यह सृष्टि की उन्नति का कारण होते हैं। उन का करना मनुष्य मात्र का धर्म है।

(घ) निष्काम बुद्धि के निश्चय किये हुये कर्मों अर्थात योग से मनकी शुद्धि होती है। बुद्धि स्थिरता प्राप्त करती है। इन्द्रिय-निग्रह या आत्म-संयम अर्थात आपेको वस में करने और काम क्रोध के वेग को रोकने के हेतु कर्म ही करने पड़ते हैं। ज्ञान भी कर्म के बिना प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार कर्म की आवश्यकता बनी रहती है। इसी नियम के आधार पर कबीर जी ने कहा है –

(दोहा) "करनी बिन कथनी कथे, गुरु पद लहे न सोय।
बातों के [illegible]

(ख) यदि मन और बुद्धि की शुद्धि के बिना कर्म न किया जाये तो भी मन में कर्म करने की लगन लगी रहती है। जब इन्द्रियों के कर्मों को रोकने पर भी मन कर्म में फंसा रहे, तो कर्म न करने से कोई लाभ नहीं होता। इस के विपरीत कर्म करके मन की उलझन मिटा देना अच्छा है। ऐसा करने से मन उधर से निश्चिन्त हो कर दूसरे काम के योग्य हो सकता है।

(च) जब कर्मयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्यको कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती तब भी उसको दूसरोंके हेतु कर्म करते रहना उचितहै। ऐसा करने से वह उनके लिये प्रमाण हो जाता है। अन्य मनुष्यों में भी उसकी देखा देखी कर्मयोग की श्रद्धा बढ़ती है। यदि वह कर्म त्याग देवे तो अज्ञानी भी उसको देख कर कर्म करना छोड देतेहैं और बुद्धि की शुद्धि व ज्ञान प्राप्ति से रह जातेहैं। बल्कि उलटे धर्म मार्ग से भटक जाते हैं। इस के अतिरिक्त सच तो यह है कि जब मनुष्य को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती तब वह उस पदवी पर पहुंच जाताहै जहां उसको सर्व सृष्टि में एक ही आत्मा दिखाई देने लगता है। वह अपने पराये या अपने और ईश्वर में भेद नहीं मानता। वह ईश्वर की तरह सब कर्म लोक-सग्रह के लिये करता रहता है। यह बुद्धि अज्ञानी की होती है कि मुझे मोक्ष मिल जाये, मेरी ओर से और सब भाड में पड़ें।

(छ) यदि राजा और प्रजा सबही गृहस्थआश्रम छोडकर सन्यासी हो जायें तो फिर संसार चक्र किस प्रकार चले ? सारे संसार में गड़बड़ फैल जाये। कारण यह कि ईश्वर कोई अपने हाथसे सृष्टि चक्र चलाने नही आता। वह मनुष्यों ही के द्वारा सब कुछ कराता है। मनुष्य का यह अहंकार हो झूटा है कि मैं कर्म करता हूं।

(ज) कर्म योग से यह काम क्रोध दूर होते हैं जो सारे पापों की जड़ हैं। कर्मयोग हीसे देहको इन्द्रियोंके इन्द्रियोंको मनके,मनको बुद्धिके और बुद्धिको आत्मा के आधीन रखनेकी शक्तिप्राप्त होतीहै। इस शक्तिके बिना मोक्ष नहीं हो सकती।

"करनी बिना कन्त नहीं पावे कहे सुने क्या होय' (दादूजी)

कर्म योगका फल यह होता है कि कर्मयोगी निष्काम बुद्धि से कर्म करके उन में लिप्त नहीं होता। इसी लिये वह उनके बन्धन में नहीं पड़ता। जब बन्धन नहीं होता तो मोक्ष आप हाथ बांधे खड़ी रहती है। कारण यह कि बन्धन के न होने ही का नाम मोक्ष है। सकाम कर्म इसी तरह बन्धन पैदा करता है जिस तरह रेशम का कीड़ा अपने ऊपर आप ही कोया तनता है। जब बुद्धि निष्काम हो जाता है यह कोया फट जाता है और मोक्ष प्राप्त हो जाती है।

तीसरा अध्याय-कर्मयोग

भजन नम्बर (२७) श्लोक १—२

[अर्जुन की शंका कर्म के विषय में]

दोहा—अर्जुन सुन इतना कथन, बोला हे भगवान ।
साँख्य योगका ज्ञानका[1], मैं ने सुना बखान ॥

चौपाई

बुद्धि बड़ी जो करमन सेती, बुद्धि वृद्धि[2] सब ही को देती ॥१॥
मुझे फसावत फिर किस कारण, क्यों फिर कर्म करावत धारण ॥२॥
युद्ध माँहि हसा मन मानी, होवेंगे नष्ट बहुत अगवानी ॥३॥
कभी बुद्धि[3] गौरव जतलाया, कभी कर्म करना बतलाया ॥४॥
सुन कर एसी बात तिहारी, मोरे मन में दुविधा भारी ॥५॥
यह बतलादो हे पुरुषोत्तम, भाव रखे को इन में उत्तम ॥६॥
मैं इन में से वह ही ध्याऊ, जासों निज कल्याण उपाऊ[4] ॥७॥
सुनने की इच्छा अति भारी, एक परख बतलाउ मुरारी ॥८॥

सोरठा—बोले[5] यों व्रजनाथ, अर्जुन की यह बात सुन ।
इन दोनों को साथ, मिला रहा तू किस लिये ॥

छन्द

हे पार्थ तूने तत्व मेरी बात का पाया नहीं ।
क्यों योग का सिद्धान्त तेरी बुद्धि में आया नहीं ॥
अज्ञानता दिखला रहा है[6] ज्ञान के व्यवहार में ।
हाकर "विमल" क्यों पड रहा है भ्रान्ति के अन्धकार में ॥

टिप्पणी

(१) आत्मज्ञान। (२) उन्नति। (३) दूसरे अध्यायमें (देखो भजन नं० २३) यह कहा है कि बुद्धि योग के आगे कर्म अधम है। अर्जुन अब प्रश्न करता है कि,

यदि यह बात ठीक है तो कर्म की क्या आवश्यकता है ? मैं कर्म नहीं करता बुध्दि का आश्रय लेलूगा । स्मरण रहे कि बहुत से टीकाकारों ने इस स्थान पर 'बुध्दि" का अर्थ 'ज्ञान" करके यह अनुवाद किया है कि यदि ज्ञान को कर्म से उत्तम मानें, तो ज्ञान मार्ग (सन्यास) पर ही क्यों न चलें ? परन्तु ऐसे टीकाकार यह मानते हैं कि मुक्तिदायक मार्ग सब के हेतु केवल ज्ञान मार्ग ही है। कर्मयोग सन्यास मार्ग का केवल एक साधन है यह मति गीता को मान्य नहीं है। गीता में दो मार्गों का प्रतिपादन है और एक को दूसरे का साधन नहीं माना है। (देखो इस अध्याय का श्लोक ३ व आठवें अध्याय के श्लोक २५-२६) (४) पैदा कर । (५) श्रीकृष्णजी । (६ साख्य को ज्ञान मार्ग या सन्यास मार्ग भी कहते हैं ।

भजन न० (२८) (श्लोक ३-६)

[श्री कृष्ण जी की मति कर्म के विषय में]

तर्ज—अब के बालम फिर बिनदा दे आसमानी चूड़यां ।

कर्म त्यागन फल स्वय देता नहीं कल्यान का ।
इस तरह होता नहीं "निष्कर्म"[1] पद इन्सान का ॥१॥
इस जगत् में हैं धनञ्जय निष्ठाए[2] दो भांति की ।
एक रस्ता कर्म का है दूसरा है ज्ञान[3] का ॥२॥
कर्म छोड़े से छुटे कब एक क्षण भर के लिये ।
गुण स्वभविक हैं[4] यही है पार्थ प्राकृत खानका ॥३॥
कर्मके जिस त्याग में धुन कर्म की उठती रहे ।
सत्य उसको मानना[5] भी काम है अज्ञान का ॥४॥
कर्म बिन रहना असभव[6] जीव का इस देह में ।
कर्म त्यागन से बड़ा पद कर्म के भुगतान का ॥५॥
मान कर कर्त्तव्य[7] अपना कर्म तू निष्काम कर ।
जो तुझे अधिकार[8] हो सत्कार का सम्मान[9] का ॥६॥
कर्म के निष्काम[10] करने से नहीं प्राणी फसे ।
कामना का भाव रोके रास्ता निर्वान[11] का ॥७॥
इस लिये हर कर्म[12] म तू ब्रह्म-आराधन निभा ।

टिप्पणी

(१) यह गति जिस में मनुष्य कर्म से रहित हो अर्थात कर्म के करने में स्वतन्त्र हो "निष्कर्म पद" कहलाता है। स्मरण रहे कि कर्म को त्यागने और कर्म के न करने में स्वतन्त्रता रखने में बड़ा अन्तर है। मनुष्य केवल उनही कर्मों को त्याग सकता है जिन के त्याग देने पर भी उसका निर्वाह हो सकता है। जो कर्म देह के संग ऐसे लगे हैं कि उनके किये बिना यह रह ही नहीं सकता, उनके न करने में यह स्वतन्त्र नहीं होता। खाने पीने, सोने आदिक कर्मों का परित्याग असम्भव है। इसीलिये यह इनके परित्याग करने में स्वतन्त्र नहीं कहला सकता। साथ ही जब कुछ कर्म करने में उसको स्वतन्त्रता नहीं, तब यह निष्कर्म पद किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? इसके अतिरिक्त केवल कर्म का परित्याग स्वयं कोई कल्याणकारी वस्तु नहीं। कर्म का परित्याग बन्धन छुड़ाने के हेतु किया जाता है। यदि कर्म इस कौशल से किया जाय कि उससे बन्धन न हो बल्कि दूसरे को लाभ पहुंचे तब निश्चय ही उसका करना न करने से उत्तम है। (२) गीता को दो निष्ठाएं अर्थात् मुक्ति-मार्ग मान्य हैं-एक कर्मयोग और दूसरा सांख्य या सन्यास। इन दोनों को स्वतन्त्र मार्ग बताया गया है। यह मत कि कर्मयोग सन्यास के हेतु एक साधन है गीता को मान्य नहीं। मनुस्मृति में सन्यास को चौथा आश्रम बताने से यह परिणाम नहीं निकलता कि यह दोनों मार्ग स्वतन्त्र नहीं। सन्यास आश्रम का भाव केवल यही है कि मनुष्य को तीनों आश्रम पालन करने के पीछे वृद्ध अवस्था के कारण कर्म करने की आवश्यकता से रहित कर दिया जाता है। यदि यह कर्म करता रहे तो बहुत उत्तम बात है नहीं तो न करने से यह दोष का भागी नहीं होता। (३) कर्म का रास्ता कर्मयोग है और ज्ञान का सांख्य (४) सर्व सृष्टि में जितने जड़ पदार्थ हैं यह प्रकृति से और जो चेतन हैं यह जीव से उत्पन्न होते हैं। वेदान्ती इसी प्रकृति को माया कहते हैं। सांख्यवादी इसको स्वतंत्र और स्वयम्भू (आप से आप पैदा होने वाली) मानते हैं परन्तु वेदान्ती इस को ब्रह्म की शक्ति समझते हैं। इस प्रकृति के तीन स्वाभाविक गुण हैं—सत्व रज, तम। इन तीनों गुणोंके द्वारा सर्व सृष्टिके उत्पत्ति-कर्म होते हैं। मनुष्य-देह इन ही से बनती है, इस लिये कर्म करना उसका स्वभाविक गुण है और यह उस से छूट नहीं सकता। (५) कर्म करने की इच्छा पहिले मन में उत्पन्न होतीहै। इसके बाद इन्द्रियों द्वारा यह कार्य किया जाता है। यदि मन में कर्म करने की इच्छा है और इन्द्रियों द्वारा उसे न किया जाये, तो भी मन की कल्पना दूर नहीं होती। जब मन कर्म में फँसा हो तब कर्म न करते हुये भी हम यह नहीं कह सकते कि उस कर्म को इन्द्रियों द्वारा न करने वाला त्यागी है। सच्चा त्याग मन से होता है, इस लिये विषयी मन रखते हुये कर्म न करने वाले का त्याग मिथ्या होता है। कर्म योग से इन्द्रिय निग्रह प्राप्त करके ही सच्चा त्याग होना संभव है। योग वशिष्ठ में भी यही शिक्षा दी गई है। (६) जो गुण स्वभाविक होता है उस का त्यागना असम्भव

(न होने के योग्य) होताहे। (७) धर्म या करणीय कर्म। (८) केनोपनिषद् में लिखा है कि जो मनुष्य ब्रह्म को जानता हे उस का सब आदर करते हैं। कर्म योगी भी ब्रह्मज्ञानी हो जाताहे, इस लिये यह भी सत्कार का अधिकारी होताहे। (९) सत्कार =आदर। (१०) कर्म आप बन्धन नहीं डालता कर्त्ता की बुद्धि बन्धन डालने वाली होती है। इस कारण जो कर्म कि धर्म से सम्बन्ध न रखकर किया जाता है वह बन्धन पैदा न करके मुक्ति में बाधा नहीं डालता। (११) निर्वाण=मोक्षगति। (१२) वेदान्त अनुसार नाम रूप आत्मिक देह का नाम रूप आत्मिक कर्म से कभी छुटकारा नहीं होता, परन्तु कर्त्ता का कर्मफल का बोझ अपने ऊपर लादने या न लादने का पूरा अधिकार है। इस लिये कर्म को निष्काम बुद्धि से ईश्वर अर्पण कर के करना न केवल कर्म-बन्धन पैदा नही करता, बल्कि ऐसा कर्म ईश्वर की सेवा या आराधन भी है। इस कारण कर्म योग ही को भक्ति मार्ग की परिभाषा म ब्रह्म आराधन कहते हैं। (१३) कर्म योग में हानिकारक बन्धनों का लेश नहीं होता इस लिये निष्काम कर्म हानि नहीं करते।

[भजन नं० २६ श्लोक १०--१८]

(कर्म की स्वभाविक अटलता)

तर्ज—रंग में कैसे होली खेलूगी सांवरया के संग।

जीव यह बन्धा हुआ है कर्मों से, पाकर माया संग।

प्रारम्भ में यज्ञ सहित जब रची प्रजा ब्रह्मा ने।
यज्ञ किये से वृद्धि होयगी बतलाया यह ढंग ॥१॥
पराक्रम यज्ञों से बढ़कर पूर्ण होयगी इच्छा।
तू देवन से वह तेरे से पाकर अधिक उमंग ॥२॥
पूर्ण आवश्यकतायें सारी होंगी यज्ञ रचाकर।
प्राप्त होयगी सदा सफलता नहाय ऐसी गंग ॥३॥
करके यज्ञ शेष जो भोगे वा को पाप न होय।
चोर धनञ्जय होत वही, जो स्वार्थ रूप दे रंग ॥४॥
भूत अन्न से, अन्न मेंह से, मेंह यज्ञ से होवें।
नित्य यज्ञ के द्वारा बाजे माया रूपी चंग ॥५॥
कर्म ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से अर्जुन पैदा होकर।

ब्रह्मयज्ञ[18] का बाँच सुनावें मुख से आप प्रसंग[19] ॥६॥
जो इस माया कर्म-चक्र[20] को नहीं चलावे आगे[21] ।
वृथा[22] जन्म वह पापी खोवे पीकर भ्रम की भंग ॥७॥
जो आपे में है आनन्दित, तृप्त, तुष्ट[23], लवलीन ।
कर्म रहे[24] क्य उसके नाईं चढ़कर ज्ञान तरंग ॥८॥
उसे प्रयोजन[25] कर्म किये से न कर्म त्याग किये से ।
न वह किसी से अटका राखे रहकर "विमल" असंग[26] ॥९॥

टिप्पणी

(१) पिछले भजनमें यह कहा गयाहै कि मनुष्य देह को प्रकृतिके तीनों गुणों से बनने के कारण स्वभाविक रीति से कर्म करना पड़ता है। सारी सृष्टि में जितने पदार्थ मौजूद हैं, वह इन तीनों के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं। विकार से नाम और रूप न्यारे न्यारे होजाते हैं। मट्टी का जब घड़ा बनजाता है तब यह घड़ा ही कहलाकर मट्टी नहीं कहलाता। जब यह टूट जाता है तब ठीकरा कहलाने लगता है और घड़े का नाम नहीं रहता। इसी भांति इन गुणों से महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी) और महाभूतों से सब पदार्थ बनते हैं। विकार के कारण नाम रूप का भेद होताहै। मनुष्य देह भी इन ही से बनती है इस लिये उस में भी विकार होना अवश्य है। यह विकार कर्म द्वारा होता है। इस लिये जीव को देह पाकर कर्म करना ही पड़ताहै। वह देह और कर्म के सम्बन्ध को नहीं छोड़ सकता। (२) सृष्टि के आदि में। (३) यज्ञ का अर्थ 'कर्म' है। यह सङ्कुचित अर्थ नहीं है जो आज कल प्रचलित है। अध्याय ४ श्लोक २५-३३ में भी इस का यही अर्थ प्रत्यक्ष है। मनुस्मृति में भी इस का इसी प्रकार उपयोग किया गया है। (४) श्लोक १० के अर्थ करने में टीकाकारों में बहुत मति-भेद है। कोई यह अनुवाद करते हैं कि 'ब्रह्मा जी ने मनुष्य को यज्ञ के साथ उत्पन्न किया। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं" इत्यादि। इस लिये मनुष्य को यज्ञ करना चाहिये। कोई अर्थ करते हैं कि ब्रह्म ने सृष्टि के आदि से ही मनुष्य को कर्म का अधिकारी बनाया है। कर्म से सब शक्तियां बढ़ती हैं" इत्यादि। कोई टीका करते हैं कि "सृष्टि रचाने वाले प्रजापति ने सृष्टि की रचना और कर्म की उत्पत्ति साथ साथ की और यह कहा कि कर्म के द्वारा मनुष्य देवताओं का और देवता मनुष्यों को सन्तुष्ट करें। पहिले अनुवाद में यज्ञ के सङ्कुचित अर्थ लेने से भूल पड़ी हुई मालूम होती है। ऐसा अर्थ श्लोकों के सम्बन्ध को तोड़कर सकाम कर्म की शिक्षा देनेलगता है और देव पूजन का अवश्य बताता है। परन्तु गीता को न सकाम कर्म की शिक्षा और न देव पूजन की उत्तमता मान्य है (देखो अध्याय ६ श्लोक २३-२४) इस कारण

यह अर्थ ग्रहणीय नहीं है। दूसरे और तीसरे अनुवाद में कुछ अधिक अन्तर नहीं है। दोनों का भाव यह है कि कर्म से सृष्टि चली और अब तक चलती है इसलिये कर्म हमारे लिये न केवल स्वभाविक है बल्कि अवश्य और अटल भी है। कर्म द्वारा सब प्रकार की वृद्धि होती है। देवता मनुष्यों के और मनुष्य देवताओं के परस्पर सहायक होते हैं। इन दोनों में केवल "देव" शब्द के अर्थ में भेद रह जाता है। एक अनुवाद "देव" शब्द के साधारण अर्थ लेकर यह कहता है कि इस श्लोक में महाभारत के नारायणीय धर्म की उस कथा का वर्णन है जहां भगवान ने ब्रह्मा की तपस्या पर सृष्टि के भरण पोषण के लिये प्रवृत्ति प्रधान यज्ञ-चक्र उत्पन्न किया और देवताओं व मनुष्यों दोनों को परस्पर रक्षा करने की आज्ञा दी। दूसरा अनुवाद 'देव" शब्द का अर्थ करता है–' ईश्वर की दिव्य व अपूर्व शक्तियों व वह भण्डार जिन पर मनुष्य के कर्म की सफलता का आधार है'। ऐसे अर्थ करने से श्लोक का भाव यह होजाता है कि मनुष्य जब अपने कर्मों में ईश्वर की किसी देव शक्ति का व्यय करता है तो उस को साथ ही ऐसे कर्म भी करने चाहियें जिन से वह कसर पूरी हो और भण्डार में कमी न आये। जो अनाज खाता है वह उस के पैदा करने का भी प्रबन्ध करे या कराये। जो अपने श्वास से वायु को अशुद्ध बनाता है वह हवन आदिक से उसको शुद्ध भी करे। (५) सृष्टि में यह सिद्धान्त कि कर्म से उन्नति होती है प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता हुआ दिखाई देता है। (६) ऊपर उल्लेख हुआ है कि 'देव' शब्द के दो अर्थ हैं–एक साधारण और दूसरा गूढ़। यदि साधारण अर्थ लिया जाये तो पौराणिक कथाओं से यह सिद्ध है कि देवता यज्ञों से प्रसन्न होकर यज्ञकर्त्ता को मनोकामनाएं प्रदान करते रहे हैं। यदि गूढ़ अर्थ लिया जाये तो ईश्वर की शक्तियों के देव रूप भण्डार (Natural Agents) ही अपनी सहायता से मनुष्य की वृद्धि करते हैं और आप मनुष्य से सन्तुष्ट होते हैं। इन की सहायता के बिना कोई मनुष्य-कर्म पूरा नहीं होसकता सूर्य भगवान के बिना अर्थात अंधेरे में नेत्र कोई कर्म नहीं कर सकते। वायु के बिना न कान शब्द सुन सकते हैं न नाक श्वास ले सकती है इत्यादि (७) मनुष्य इन देवताओं को अपने कर्म से सन्तुष्ट करता है। जब वायु अशुद्ध हो जाता है तब हवन से शुद्ध करता है। हवन से वर्षा होतीहै और जल प्राप्त होताहै इत्यादि

'देव' शब्द इसी गूढ़ अर्थ में अध्याय १८ श्लोक १४ में भी उपयोगी हुआ है ऐतरेयोपनिषद् खण्ड २ मन्त्र ४ और प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३ मन्त्र ८ भी इसी अर्थ के प्रमाण हैं। (८) उत्तजना। (९) कर्म करके सब वस्तु प्राप्त होती हैं। बिना कर्म कोई आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती। बिना रुदन रूपी कर्म के माता भी बालक को दूध नहीं देती। (१०) मनोकामना की प्राप्ति। (११) यज्ञ का बचा हुआ प्रसाद 'शेष" कहलाताहै। (१२) जो मनुष्य कर्मफल यह मान कर भोगता है कि कर्मरूप प्रकृति का प्रसाद है वह कर्म को अपना स्वभाविक गुण जानकर निष्काम बुद्धि से करने के कारण कर्मके लेप अर्थात पापसे दूर रहता है। पाप कर्म से पाप उत्पन्न

नहीं होता बल्कि कर्त्ता की बुद्धि से होता है, इस लिये निष्काम कर्म से पाप नहीं होता। (१३) जो मनुष्य पराई वस्तु को अपनी बनाता है वही चोर कहलाता है। जो प्रकृति के स्वभाविक गुण से पैदा होने वाले कर्म को अहंकार से अपना कर्म बताता है वह भी चोर है। इस लिय मनुष्य को उचित है कि वह कर्म अकर्त्ता भाव से यह जान कर करे कि मैं प्रकृति का कर्म-पात्र हूं और कर्म करने वाली प्रकृति है। जोटीका कार यह अनुवाद करते हैं कि देवताओं का दिया हुआ भोग उन को भोग लगाये बिना खाने वाला चोर होता है उसका तात्पर्य भी यही है। हां जो यज्ञ का प्रचलित अर्थ लेकर यह टीका करते हैं कि भोजनादि बनाने में जो कीड़ों मकोड़ों की हानि होती है वह मनुष्य को पाप का भागी बनाती है, परन्तु देवताओं के भोग लगाने के हेतु रसोई बनाने से यह दोष मिट जाता है, वह गीता उपदेश के अनुकूल नहीं है इस लिये मान्य नहीं हो सकता। (१४) भूत=प्राणी। (१५) प्रकृति में सदा ही विकार होता रहता है। यह विकार ही इस का यज्ञ अर्थात कर्म है। (१६) कर्म ईश्वर का पैदा किया हुआ और अनादि है। यह मनुष्य का बनाया हुआ नहीं है, इस कारण मनुष्य उसको छोड़ने में असमर्थ है। (१७) प्रजापति ब्रह्म अर्थात सगुण ब्रह्म को 'ब्रह्म" और निर्गुण ब्रह्म को 'अक्षर" (अविनाशी) कहा गया है। जब निर्गुण ब्रह्म अपने संकल्प से सगुण ब्रह्म बनकर पुरुष व प्रकृति द्वारा सृष्टि की रचना करता है तब उसके इस कर्म से सृष्टि होती और चलती है। इस तरह अक्षर से ब्रह्म और ब्रह्म से कर्म पैदा होता है। (१८) प्रकृति में हर वक्त विकार होता रहता है। इस विकार चक्र से संसार चलता है। प्राणी अनाज खाकर जीते हैं। अनाज वर्षा से होता है। वर्षा सूर्य के द्वारा पृथ्वी के तपने से होती है इत्यादि। प्रकृति के इसी विकार-चक्र को यजुर्वेदके महानारायणोपनिषद् में ब्रह्म यज्ञ का नाम दिया है और यहां पर "कर्म" का। इस के बिना सृष्टि नहीं चल सकती।

(१९) यह ब्रह्म-यज्ञ अपना चक्र चलाकर मानो अपने मुख से यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को जो प्रकृति से अपनी देह पाता है कर्म करना अवश्य है। (२०) सृष्टि के क्रम को जारी रखना मनुष्य का धर्म है। (२१) जब मनुष्य प्रकृति गुण के आधीन प्रकृति के विकारों में आप भी विकार पैदा करता है तब उस का यह धर्म है कि वह प्रकृति के जिस विकार अर्थात जिस पदार्थ का व्यय करता है उस को किसी यत्न से पूरा भी करे। यदि वह ऐसा न करे तो संसार-चक्र बन्द हो जाये। जब अन्न खाता है तब खेती से पैदा भी करे। जब काष्ट जलाता है तो वृक्ष भी लगाये जो इन में कमी न हो। (२२) जिस का जन्म इस जगतमें जो कर्म-भूमि है कर्म किये बिना बीत जाता है वह वृथा जाता है। कारण यह कि वह कर्म करने के हेतु पैदा होता है। कर्म न करने से उलटा उस को पाप होता है। जिस प्रकार विषयी विषयों में लिपटा रह कर किसी का उपकार नहीं करता, उसी प्रकार वह भ्रम में पड़ कर आप भागों को भोगता हुआ दूसरों के हेतु उस का

बदला नहीं चुकाता और इस भांति स्वार्थी बना रहकर पाप कमाता है। (२३-२४) जो महापुरुष इस पदवी पर पहुंच जाता है कि वह अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके हर वक्त मग्न रहता है और आत्मा के परम आनन्द को जानकर फिर किसी अन्य सुख की इच्छा नहीं करता, वह कोई चाहना न रखने के कारण किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रखता। उस का भाव अकर्त्ता हो जाता है। वह जो कर्म करता है उसे प्रकृति आधीन अपने जीवन के निर्वाह के हेतु करता है या लोक संग्रह के लिये। अपनी कामना की पूर्ति के लिये वह कुछ नहीं करता। इस भांति कर्म से कर्त्ता-गुण को नष्ट कर के मानो कर्म ही को नष्ट कर देता है। (२५) जिस को कोई कामना नहीं होती वह अपने मन में कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, इस लिये उस के हेतु कर्म का करना और न करना समान होता है। वह निष्काम बुद्धि रखकर न किसी वस्तु को गृहण करने दौड़ता है और न किसी से पीछा छुड़ा कर भागता है। स्वभाविक कर्मों को इस कर्म-भूमि में अटल जान कर उन को वासना के आधीन नहीं बल्कि प्रकृति-गुण के आधीन करता है। (२६) जी में किसी वस्तु से लगाव या सम्बन्ध न रखने अर्थात निष्काम भाव बनाने का नाम "असंग भाव" रखना है।

[भजन नं० ३० श्लोक १९--२५]

(कर्मयोग-आवश्यकता)

तर्ज—वारी जाऊं रे सांवरया तो पर वारना रे।

तुम निष्काम कर्म को अर्जुन सदा सकारना रे।
जो नर निज कर्त्तव्य निभाये। वह ही परम पुरुष को पाये।
कभी न यासों ऐसे कर्म उसारना रे ॥१॥
कर्म योग माहीं मन लाई। सिद्धि जनक आदिक ने पाई।
सर्व लोक-संग्रह ध्याकर कर डारना रे ॥२॥
सज्जन जिस मग पर पग धरते। सब अनुसरण उसी का करते।
आप प्रमाण दिखाकर जग निस्तारना रे ॥३॥
तीन लोक में आवश्यकता। मैं कर्मन की नाहीं रखता।
करता हूं कर्मन का फिर भी पालना रे ॥४॥
कोई वस्तु धनञ्जय नाहीं। मम इच्छा हो जाके माहीं।
भुगताता हूं फिर भी कर्म-पसारना रे ॥५॥

जो हम ही कर्मन को त्यागें । मनुष्य उन से अवश्य भागें ।

हम से भ्रम[8] की जग में हो उकतारना[9] रे ॥६॥

[10]विकार लोकों में हो भारी । नष्ट[11] प्रजा हो जाये मारी ।

होय सकरन[12] की हम आप उभारना रे ॥७॥

जिस प्रकार है रिपु संहारन[13] । कर्म करे अज्ञानी धारन ।

ज्ञानी को भी उनका उचित[14] सभारना रे ॥८॥

ज्ञानी भेद करे पर इतना । काम[15] रहित राखे मन अपना ।

"विमल" चाह के जी में जगत्–संवारना रे ॥९॥

टिप्पणी ।

(१) अर्जुन को भगवान कृष्ण ने शिक्षा दी है कि कर्म का त्यागना अच्छा नहीं है । कर्म को स्वीकार करना और कर्मयोग को पालन करना उत्तम है । (२) जो मनुष्य अपना धर्म पालन करता है वही परम पुरुष (परमेश्वर) को पाने का अधिकारी होता है । (३) परमेश्वर को प्राप्त करना ही मोक्ष गति पाना कहलाता है । (४) राजा जनक (सीता जी के पिता) राज करते हुये भी पूर्ण कर्मयोगी थे । बड़े बड़े महात्मा इन के पास ज्ञान सिखने आते थे । यह कर्मयोगीयों के शिरोमणि माने जाते हैं । यह इस बात का उत्तम प्रमाण है कि मनुष्य कर्मयोग द्वारा सिद्धि पासकता है । (५) जब मनुष्य को कर्म की आवश्यकता नहीं रहती, तब भी लोक सग्रह अर्थात जगत् की प्रवृत्ति के लिये उसका कर्म करना चाहिये । (६) ससार में बडे आदमीयों की देखा देखी छोटे आदमी भी वही कर्म करते हैं जो वह बड़ों का करते देखते हैं । यह नियम सब ही स्थानों में पालन होता है । इस कारण बडे आदमीयों को सदा उत्तम मार्ग पर चलना चाहिये जिस में उन की नकल कर के छोटे आदमी भी उत्तम पथ पर चलें और उन का कल्याण हो । (७) भगवान कृष्ण अपना दृष्टान्त देकर कहते हैं कि यद्यपि मुझे किसी कर्म करने की न इच्छा है न आवश्यकता, तथापि मैं सब कर्म करता हूं जिस में दूसरों के हेतु मैं प्रमाण बनूं । मेरा कर्म करना अर्थात कर्म को पूरा करना अपने लिये नहीं है बल्कि केवल जगत् के कल्याणार्थ है । (८) यदि भगवान कर्मों का परित्याग करते तो जग में कर्म परित्याग की परिपाटी चलजाती । कर्म–त्याग से जो जो विघ्न दुनिया में पड़ते वह सब उनही के कारण होते । हर एक आदमी उनका उदाहरण देकर कर्म–त्यागी बनता और भगवान कृष्ण सकरों अर्थात् विकारों के कारण समझे जाते । (९) भगवान के परित्याग को प्रमाण मानकर यदि मनुष्य कर्म न करते, तो परित्याग की उकतारना अर्थात कर्म–त्याग के पक्षपाती होने का दोष

उन के सिर रहता। (१०) विना कर्मयोग साधन इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता। विना इन्द्रिय-निग्रह मन शुद्ध नहीं होता। मन की शुद्धि के विना मोक्ष नहीं होती। इस कारण यदि मनुष्य सिद्ध पुरुषों की नकल कर के कर्म छोड दे तो मोक्ष से रह जाये। इस विकार को दूर करने के हेतु सिद्ध पुरुषों को भी कर्म करना आवश्यक हो जाता है। (११) इन विकारों से जब मनुष्य मोक्ष प्राप्ति से रहजाते हैं तब वह मानो नाश को प्राप्त होतेहैं। (१२) जो नेता-गण कर्म न करें तो जगत्‌की परिपाटी बिगड जाये और सकरों अर्थात विकारों की उन ही के द्वारा उत्तेजना हो जाये। (१३) शत्रु को मारने वाला अर्जुन। (१४) लोक-सग्रह की दृष्टि से ज्ञानी को जब अपने लिये कर्म की आवश्यकता नहीं रहती, तब भी दूसरों के लिये कर्म करना आवश्यक रहता है। (१५) उस को साधारण आदमीयों के से सब कर्म उन के हेतु प्रमाण बनाने के कारण करने होते हैं। परन्तु वह सब कर्म निष्काम भाव से करता है। यदि वह ऐसा भाव न रक्खे तो वह भी कर्म बन्धन में फँस जाये।

(भजन न० ३१ श्लोक २६ व २९)

[कर्म-सन्यास की अयाज्ञता चंचल वुद्धि के हेतु]

तर्ज---श्री राधे कृष्णा बोल तेरा क्या लगेगा मोल ।

मत त्यागन कर उपदेश, वा को जो कर्मन लवलेश ।

शिक्षा जो दें कर्मन की, श्रद्धा घट जावे मन की, ।

होता है लाभ विशेष, वा को जो कर्मन लवलेश ।१।

सत् रज तम जिस पर छावे, बस उसे विषय ही भावे, ।

दुख देता राग द्वेष, वा को जो कर्मन लवलेश ।२।

जो "विमल" मूढ अज्ञानी, भटकाय न उसको ज्ञानी, ।

दे कर्मन का उपदेश, वा को जो कर्मन लवलेश ।३।

टिप्पणी

(१) भजन नं० (२८) में यह बताया जा चुका है कि जब तक मन में कर्म करने की इच्छा रहती है तब तक कर्म का परित्याग व्यर्थ और मिथ्या संन्यास है। सच्चा सन्यास यही है कि जिसमें मन त्यागी हो जावे। जब तक मन कर्म में फंसा रहता है सन्यास नहीं निभ सकता। "ये मन चाकर दुशमन बराबर" प्रसिद्ध है। (२) मन भाती बात झट जी में बैठ जाती है। उस पर श्रद्धा (विश्वास) भी अधिक होती है। इस के विपरीत जो बात जी को भली नहीं लगती, उसका जी में जमना

कठिन होता है। शिक्षा देने वाले (गुरु) को उचित है कि वह शिष्य को ऐसी शिक्षा दे जिस पर चलने के लिये शिष्य तैयार हो। जिस का मन कर्म में फंसा है उस को सन्यास की शिक्षा न दे कर कर्म ही में दृढ़ करना चाहिये। पहिले अशुभ कर्म छुड़ा कर शुभ कर्म में लगाना, फिर निष्काम मार्ग पर चलाकर योग धारण कराना उचित होता है। इस तरह करने से शिष्य का कल्याण होता है। (३) ऐसा करने से वह चल निकलता है और कर्म योग को लाभदायक मार्ग प्राप्त करलेता है। (४) प्रकृति के तीनों गुण (सत्, रज, तम,) ही कर्म का कारण होते हैं। जब यह तीनों गुण समान हो जाते हैं, तब ही मनुष्य गुणातीत होकर मोक्ष पाता है। जब तक यह गुण छाये रहते हैं, तब तक कर्म के छुड़ाने का यत्न व्यर्थ होता है। यह छुटकारा भी योग ही से होता है न कि संन्यास से। (५) जो वस्तु प्राप्त हो जाये उस का सुख मानना "राग" और जो प्राप्त न हो उसका दुःख मानना "द्वेष" कहलाता है। जब तक मनुष्य गुणातीत नहीं होता, यह भाव बने रहते हैं। (६) सब के मन और बुद्धि एक प्रकार के नहीं होते। इस लिये सब को एक ही शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकती। नीचे की श्रेणी का बालक ऊपर की श्रेणी की पढाई को समझने के योग्य नहीं होता। यदि उसको ऐसी शिक्षा दी जाये तो वह उस को न समझ कर उलटा भ्रम में पड़जाये। इसी भांति धर्मगुरू की चतुराई यह ही है कि वह शिष्य का भाव और उस की योग्यता देख कर उस को उचित शिक्षा दे। ऐसी शिक्षा देनी जो उस की समझ से बाहर हो या जो उस से न निभे उस के हेतु लाभदायक न होकर हानिकारक होती है। वह उचित शिक्षा प्राप्त करने से रहजाता है और जो शिक्षा पाता है वह उस के लिये बेकार होती है। "धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का" उस के हेतु सत्य हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नियम के अनुसार बुद्धिमान ऋषियों ने केवल ब्राह्मणों को वेद का अधिकारी बताया था। शूद्र आदिकों को इस लिये वेद पाठ से रोका गयाथा कि वह उन का ज्ञान न समझ कर भ्रम में पड़ेंगे।

(भजन नं० ३२ श्लोक २७-२८, ३०-३४)

[अहंकार से कर्म दोष उत्पत्ति । प्रारब्ध व पुरुषार्थ विचार]

तर्ज—श्री गंगाजी के तीर नीर पीने को नाग इक आया।

सब कर्मों का कर्त्ता है माया गुण हैं कुन्तीनन्दन ॥

भर अहंकार में प्राणी आपे ही को कर्त्ता जाने।

जो होय तत्व का ज्ञाता आत्म को न्यारा पहिचाने।

गुण को जड़ कर्मो को विषयों को रागद्वेष की मानें।

यह राग द्वेष दो ठग[७] हैं इन के कभी न पड़ने वाले[८]।
मम[९] हेतु कर्म से सज के, निज अहंकार[१०] को तज के।
अपनी आतम को भजके[११], मम रहित[१२] और बे कज के[१३]।
अर्जुन अब तू करले योधन[१४] ॥१॥
जो दृढ़ता से श्रद्धा[१५] से नित मेरी इस मति पर चाले।
वह भाव अकर्त्ता[१६] राखे वाको कर्म-दोष[१७] कब घाले।
जो चले न इस पर और तर्क[१८] का भाव चित्त में ढाले।
वह नष्ट-चित्त[१९] निर्बुद्धि[२०] बांह में आप सर्प[२१] को पाले।
निज भाव "विमल" हों जैसे, वह ज्ञानी अज्ञानी से।
सब कर्म करावें वैसे[२२], फिर कर्मी माहीं कैसे,।
कोई डाले निग्रह-बन्धन[२३] ॥२॥

टिप्पणी।

(१) ऊपर कथन हो चुका है कि प्राणी की देह प्रकृति से बनी है। इस कारण कर्म उस का स्वभाविक गुण है। इस दृष्टि से कर्मों की कर्त्ता प्रकृति और उस के तीनों गुण हैं। (२) जो मनुष्य यह भाव रखता है कि "मैं" कर्म करता हूँ वह अहंकारी है। असली कर्त्ता उस की प्रकृति के गुण हैं। (३) जिस को आत्म ज्ञान हो जाता है वह इस तत्व का जान लेता है कि आत्म अकर्त्ता है और आत्मा को कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सब कर्म प्रकृति कराती है। (४) तत्व ज्ञाता जान लेता है कि प्रकृति के तीना गुण ही सब कर्मों का कारण होते हैं अर्थात यह गुण सब कर्मों की जड़ होते हैं। (५) इन्द्रियाँ और उन के विषयों की उत्पत्ति भी प्रकृति से है, इस लिये राग द्वेष के द्वारा कर्म-बन्धन पैदा करना उन का स्वभाव है। मनुष्य में विषय भोग की चाहना और राग द्वेष का उत्तेजन इन्हीं के कारण होता है। (६) किसी पदार्थ के प्राप्त होने की खुशी "राग" और प्राप्त न होने का शोक "द्वेष" कहलता है। (७) विषय भोग का लालच मनुष्य को धर्म-मार्ग से हटा कर ले जाता है और उस के शुभ भाव का हरण करलेता है, इसी लिये यह ठग है। (८) मनुष्य को उचित है कि विषय भोग रूपी ठग से अपना बचाव कर के उस के फंद में न पड़े। (९) मनुष्य जो कर्म करे वह विषय भोग या स्वार्थ के हेतु न करे बल्कि जो कुछ करे वह निष्काम भाव से करे अर्थात ईश्वर हेतु करे। (१०) कर्म करने में कभी यह भाव न रखे कि मैं कर्म कर्ता हूँ। (११) सदा यह ही विचार करता रहे कि मैं निर्गुण ब्रह्म का अंश हूँ। मेरा गुण अकर्त्ता रहना है।

देह प्रकृति से बनती है इस लिये वह कर्म करती है। (१२) किसी वस्तु से प्रेम अर्थात ममता भाव रखना बन्धन का कारण होता है। इस लिये कर्म करने में ममता भाव को दूर रखना चाहिये। (१३) ममता भाव ही कज अर्थात दोष पैदा करता है, इस लिये भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तू ममता छोड़ कर युद्ध कर। ऐसा करने से तुझे कोई दोष न लगेगा बल्कि तेरे धर्म का पालन होगा। (१४) अर्जुन को शका थी कि युद्ध से मुझे पाप होगा उस का यहाँ समाधान किया है कि सदा ही बांधन से पाप नहीं होता। धर्म-युद्ध से धर्म की पालना और अधर्म युद्ध से पाप उत्पत्ति होती है। (१५) जो विश्वास सहित कर्मयोग की पालना करता है उसी को सिद्धि प्राप्त होती है। कारण यह है कि कर्मयोग साधन की पूर्ति शुद्ध मन और बुद्धि से होती है और जब तक मन और इन्द्रिय-कर्म एक रस न हों तब तक द्वन्द्व दूर नहीं होता। मन और कर्म-इन्द्रियों के एक रस होने ही का नाम विश्वास सहित काम करना है। (१६) जब अहकार छोड़ कर और यह मान कर कर्म किया जाता है कि कर्त्ता प्रकृति है, मैं केवल उस का कर्म-पात्र हूं, तब कर्त्ता का भाव अकर्त्ता के ही समान होता है। (१७) कर्म स्वयम् बन्धन उत्पन्न नहीं करता। कर्त्ता की सकाम बुद्धि बन्धन का कारण होने की वजह से कर्म को दोषमय बनाती है। इस लिये जो अकर्त्ता बुद्धि से कर्म करता है उस को कर्म दोष नहीं लगता। (१८) जो मनुष्य हुज्जती बनकर कर्मयोग साधन नहीं करता, उस की बुद्धि शुद्ध नहीं हो सकती। बिना शुद्ध बुद्धि मोक्ष असंभव है। (१९) इस कारण ऐसा मनुष्य चित्त की शुद्धि न पाकर अपने चित्त को स्थिर नहीं कर सकता। बिना स्थिरता के मोक्ष नहीं होती और चित्त का भ्रम उस को नष्ट करदेता है। (२०) बुद्धि का गुण उस की शुद्धि और स्थिरता है। जिस मनुष्य की बुद्धि में यह गुण नहीं, उस को निर्बुद्धि कहना उचित है। (२१) जो कोई मनुष्य ऐसी बुद्धि प्राप्त नहीं करता वह तम रूपी सर्प से अपना नाश कराता है। (२२) प्रकृति-गुण मनुष्य से अवश्य कर्म कराते हैं। जैसी जिसकी प्रकृति (स्वभाव) होती है वसे ही कम उस से बन पड़ते हैं। (२३) यदि कोई यह हट करे कि मैं इन स्वभाविक कर्मों को बन्द करदू तो उस की हट नहीं चल सकती। कर्म-निग्रह (कर्म को रोकने की शक्ति) इन्द्रिय निग्रह ही से आ सकती है। इन्द्रिय-निग्रह योग साधन से प्राप्त हो सकता है न कि हट से। मनुष्य का स्वभाव उसके सचित कर्मों का फल होता है। यह सचित कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं। यह सचित कर्मों के फल (प्रारब्ध) कर्म द्वारा भोगे जाते हैं। इस लिये कर्म को कोई रोक नहीं सकता। जब यह प्रारब्ध या प्रकृति आधीन कर्म निबड़ जाते हैं और मनुष्य निष्काम भाव बनाकर आगे के लिये कोई कर्म-भोग नहीं छोड़ता तब ही कर्म-निग्रह हो सकता है पहिले नहीं। प्रारब्ध भोगने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है पुरुषार्थ कर के आगे के लिये मार्ग बनाने में स्वतन्त्र है। पिछले जन्म के कर्म से उस का स्वभाव बनता है और अब के जन्म के कर्मों से अगले जन्म का। इस प्रकार पुरुषार्थ ही से प्रारब्ध तैयार होता है। किसी कवि ने कहा है —

विभाग को अब कितना ही बुरा कहें, पर इस का सिद्धान्त बड़ा उत्तम है और प्रत्येक देश व काल में यह विभाग किसी न किसी रूप से विद्यमान रहता है। (२) यह विचार मिथ्या है कि निकृष्ट कर्म करने वाली जातियें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सक्तीं या कि समाज में उन का पद तुच्छ है। प्रत्येक जाति समाज के हेतु समान रूप से आवश्यक है। कालू भंगी जिसने राजा हरिश्चंद्र को खरीदा था) अपना कर्त्तव्य पालन करते हुये बढ़जाने की प्रमाण है। धर्म मार्ग में कबीर, रैदास, चेता, सदना आदिक अधम जाति के होते हुये भी जीवन्मुक्त हो गये और सारा हिन्दू-समाज आज तक उन को अपना पूज्य मानता हुआ पूर्ण सम्मान करता है। (३) निंद्रा को अपने वश में करने के कारण अर्जुन का यह नाम पड़गया था। (४) मनुष्य का धर्म है कि वह संसार चक्र चलाये न कि उस में विघ्न डाले। इस लिये जो सामाजिक बंधन तोड़कर और अपना काम छोड़ कर दूसरी जाति का काम धारण करता है, वह समाज में गडबड़ डालता है। उस का पराया धर्म पालन करना इसी कारण अनुचित होता है। (५) सांसारिक दृष्टि से निज धर्म की पालना पर ऊपर विचार हुआ। अब धर्म-मार्ग की दृष्टि से देखा जाये तब भी यही बात सिद्धिदायक पाई जाती है। आत्मा अविनाशी निर्गुण ब्रह्म का अंश है। अकर्त्ता भाव उस का गुण अर्थात् धर्म है। इस लिये मनुष्य को उचित है कि वह अपने अकर्त्ता धर्म को धारण करे अर्थात कर्मयोग पालन करे। (६) विषय भोग करना इन्द्रियों का धर्म है क्योंकि यह प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। इस लिये मनुष्य को उचित है कि इन्द्रियों के विषय को इन्द्रियों का गुण जान कर भोगे और अपने आप को उन में लिप्त न होन दे। विषय-भोग को पराया धर्म (इन्द्रियों का धर्म) जाने और आप उन से न्यारा रहे। (७) जब मनुष्य की यह बुद्धि दृढ़ हो कर उस के कर्मों पर प्रभाव-शाली हो जाती है तब ही वह प्रकृति-बन्धन से छूटकर मोक्ष पाता है। (८) विषय-भोग करने वाला सदा ही भयभीत रहता है कि कहीं मेरे सुखदायक पदार्थ नष्ट न हो जायें। साथ ही अपनी मृत्यु का भय बना रहता है। इस लिये उस को कभी सुख प्राप्त नहीं होता। कबीरजी ने सत्य कहा है:—

" झूटे सुख का सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत् चबैना काल का, कछु मुख में कछु गोद॥ "

[(भजन नं० २४ श्लोक ३६-३७)]

[काम क्रोध से पाप की उत्पत्ति]

अर्जुन का वाक्य कृष्णजी से

तर्ज—श्याम मोहे न मोरी बईयां।

होवे कौन पाप का कारन

पुरुष न राखे इच्छा इस की, कौन करावे धारन ॥ १ ॥
कारण इसका काम क्रोध हैं, बोले जग-निस्तारन ॥ २ ॥
होत रजोगुण से यह पैदा, अर्जुन ज्ञान-प्रहारन ॥ ३ ॥
"विमल" यही यह पेटू पापी, वैरी पाप-उभारन ॥ ४ ॥

टिप्पणी ।

(१) मनुष्य (२) भजन नं० (३२) में यह कहा गया है कि मनुष्य प्रारब्ध के कर्म-भोग को रोकने में असमर्थ है । उस को इन्द्रिय-निग्रह के हेतु बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है । इस पर अर्जुन के मन में यह शंका हुई कि जब आत्मा मोक्ष की प्रेरणा करता है, तो वह कौन है, जो मनुष्य के मार्ग में रोड़े अटकाकर उस को मोक्ष पाने से रोकता है ? (३) कृष्ण भगवान इस का उत्तर देते हैं कि कामना और कामना से उत्पन्न होने वाला क्रोध इस विघ्न का कारण होते हैं । भजन नं० (२५) में उल्लेख हो चुका है कि काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से भ्रम, भ्रम से बुद्धि का नाश होता है । बुद्धि का नाश मनुष्य के क्षय का कारण होता है । इस लिये यद्यपि मनुष्य पाप की इच्छा नहीं करता तथापि कामना उस को पाप में लगाकर उस के मोक्ष-मार्ग में हानिकारक बन जाती है । मनुष्य को उचित है कि वह कामना का त्याग करे और निष्काम भाव को धारण करे (४) जगत् को तारने वाले कृष्ण भगवान । (५) प्रकृति के तीनों गुणों में से रज का गुण है कामना का उत्पन्न करना और सत्व का है ज्ञान उत्पन्न करना । इस लिये जो मोक्ष की चाहना करता है उसे रज को त्याग कर सत्व को धारण करना चाहिये । विस्तार के लिये देखो अध्याय १४ । (६) ज्ञान-प्रहारन = ज्ञान को नाश करने वाला । (७) मनुस्मृति में लिखा है कि काम ऐसी अग्नि है जो कभी तृप्त नहीं होती । "जितना खाये उतना ललियाये" प्रसिद्ध है । एक इच्छा पूरी होते ही झट दूसरी पैदा हो जाती है और यह तांता बराबर जारी रहता है जब तक कि इन्द्रिय-दमन न किया जाये ।

[भजन नं० ३५ श्लोक ३८—४१]

[काम की असन्तुष्टता और उस का परिणाम]

काम कारण न यह दृष्टि में आवे ।

धुआं अग्नि पर मल दरपन पर, झिल्ली जैसे गर्भ पर छा आवे ॥१॥
यह ज्ञानी का नित्य विरोधी, ज्ञान पर याही का परदा आवे ॥२॥
करे बुद्धि मन इन्द्रिनि में घर, इन के द्वारा जीव को विचलावे ॥३॥

अग्नि समान न धापे कबहू, जितना खाय उतना हि ललियावे ॥४॥
"विमल" ज्ञान विज्ञान हने यह, कर इन्द्रिनि का संयम इसे ढावे ॥५॥

टिप्पणी

(१) यह ज्ञान कामनाओं से ढक जाता है अर्थात जिस किसी पर कामना छाजाती है उसका ज्ञान दबजाता है। (२) यह ज्ञान इसी प्रकार ढकजाता है जिस प्रकार अग्नि को धुआ, शीशे को मैल और गर्भ को झिल्ली ढके रहते हैं (३) कामना अज्ञान को बढ़ाने वाली होती है या यों कहो कि ज्ञान का नाश करनेवाली होती है। इस कारण उस का और ज्ञान का अवश्य वैर है। (४) बाहरी पदार्थों के स्पर्श से ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा मन में किसी कर्म के करने की कामना उत्पन्न होती है। मन बुद्धि से यह जाच कराता है कि यह कर्म करने योग्य है या नहीं। जब बुद्धि उस के करने की आज्ञा दे देती है तब कर्म इन्द्रिया उस कर्म को पूरा कर देती हैं। जब कामना का लेश आजाता है तब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों ही उस में लिप्त हो जाते हैं। इसी कारण इन तीनों को कामना का घर कहा गया है। इन ही के द्वारा मनुष्य कामना-युक्त कर्म कर के पाप में फसता है। (५) इस कामना को रोकने के लिये इन्द्रिय-निग्रह, मन-दमन और शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होतीहै। इन साधनों से जब रजोगुण दब जाता है और सत्वगुण की वृद्धि हो जाती है तब ही ज्ञान का नाश करने वाली कामना नष्ट होती है।

(भजन न० ३६ श्लोक ४२--४३)

[कर्म-विधान-निरीक्षण]

तर्ज—नशयारे सेती कोई मत कीजो रे झमेला।

आतम उत्तम है सर्व इन्द्रिनि बुद्धि मन से।
बाह्य वस्तु जितनी कहलायें। उन्हें इन्द्रियें ही जतलायें।
उन्हें कार्य अपने में लायें। परे इन्द्रियें पदार्थन से
इन सब ही कारणन से ॥१॥
मन इन्द्रिनि की बाग मरोड़े। जित को चाहे उत को मोड़े।
जिस से चोह तोड़े जोड़े। मन है उत्तम इन्द्रिय-गन से,
इन सब ही कारणन से ॥२॥
बुद्धि सर्व इन्द्रिनि को जाने। बुद्धि भाव मन का पहिचाने।

गुण अवगुण का अन्तर छाने । बुद्धि श्रेष्ट तुम जानो मन से,
इन सब ही कारणन से ॥३॥

चलो बुद्धि से जो तुम बढ़कर । आतम मिले बुद्धि से बढ़कर ।
अपरा से हो परा है चढ़कर । जड़ नाहीं उत्तम चेतन से,
इन सब ही कारणन से ॥४॥

आतम को जब उत्तम मानो । मन को अपने वश में लानो ।
काम रूप-बैरी बलवाना । या को "विमल" चूर कर मन से,
इन सब ही कारणन से ॥५॥

टिप्पणी

(१) मनुष्य की अपनी देह को छोड़ जितने प्राकृत पदार्थ सृष्टि में पाये जाते हैं वह सब बाह्य अर्थात् बाहरी पदार्थ कहलाते हैं। (२)-ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा मनुष्य को इन सब बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है और कर्म-इन्द्रियों द्वारा वह उन को अपने काम में लाता अर्थात् भोगता है। इस प्रकार इन्द्रिया पदार्थों से उत्तम हैं।

(३) यह तन जिस को तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्र' का नाम दिया गया है २४ तत्वों से बना है। यह तत्व उसी अध्याय में वर्णन हैं। इन तत्वों में दस इन्द्रिया (५ ज्ञान इन्द्रिया अर्थात नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा और ५ कर्म-इन्द्रिया अर्थात मुंह, हाथ, पांव, मल व मूत्र के स्थान) शामिल हैं। यह देह बिना इन इन्द्रियों के कुछ कर्म नहीं कर सकती। इन इन्द्रियों में इस प्रकार कर्म व्यापार होता है। जब ज्ञान-इन्द्रियों का स्पर्श बाहरी पदार्थों से होता है (जिस को मात्रा स्पर्श कहते हैं) तब यह स्पर्श चित्त में उस पदार्थ के भोगने या त्यागने की प्रेरणा पैदा करता है। इस प्रेरणा का ज्ञान मन को होता है। मन इस को बुद्धि के आगे इस बात का निर्णय करने के लिये उपस्थित करता है कि उस पदार्थ को ग्रहण या त्याग किया जाय या नहीं। बुद्धि जो कुछ निर्णय करती है उसी के अनुसार मन कर्म-इन्द्रियों से उसको ग्रहण या त्याग कराता है। इन्द्रियां ज्ञाता नहीं होतीं। ज्ञान कराना मन का काम है। यह ही कारण है कि जब मन एक ओर लगा हुआ होता है तब ज्ञान-इन्द्रिया अपना काम नहीं कर सकतीं। आंखों के आगे धरी हुई वस्तु तक दिखाई नहीं देती और कानों में शब्द तक सुनाई नहीं देता यदि मन किसी और ओर लगा हो। मन के हाथ में इन की कल है, इस लिये मन इन से उत्तम है। (४) बुद्धि के निर्णय कराये बिना मन भी इन्द्रियों से कर्म नहीं कराता। जिस समय रोग या मद से बुद्धि नष्ट हो जाती है मनुष्य अपने मन को वश भी

नहीं कर सकता। यह करना चाहता है कुछ और, होता है कुछ और। भले बुरे की पहिचान करना बुद्धि ही का काम है। बुद्धि ही जब परख कर मन को बताती है कि अमुक कर्म करने योग्य है या नहीं, तब ही मन उस को कराता है। इस लिये वह मन से भी उत्तम है। बुद्धि राजा है। मन उस का मन्त्री है। चित्त समाचार देने वाला डयोढ़ीवान है। इन्द्रिया आज्ञा पालने वाली प्रजा हैं। शुद्धता व स्थिरता से न्याय अनुसार जो आज्ञा बुद्धि रूपी राजा देता है वही मन रूपी मंत्री इन्द्रिय रूपी प्रजा से पालन कराता है। (५) देह इन्द्रियें, मन व बुद्धि प्रकृति अर्थात ईश्वर की जड़ शक्ति के विकार हैं। आत्मा ईश्वर की चैतन्य शक्ति है। इस लिये यह बात प्रत्यक्ष है कि आत्मा इन सब से उत्तम है। (६) जड़ प्रकृति "अपरा" और चैतन्य "परा" कहलाती है। (७) आत्मा ईश्वर का अंश है। उसकी पदवी जड़ प्रकृति से बड़ी है। प्रकृति सृष्टि का खेल रचाती है। आत्मा उस के खेल का दर्शक है और प्रकृति से उत्तम पदवी रखता है। कामना मनुष्य के आत्मा को दर्शक पद से हटा कर उस को उस खेल में लिप्त करती है। इस लिये वह आत्मा की स्वतन्त्रता का छीनने वाली है। मनुष्य का धर्म है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाले शत्रु का बल-पूर्वक नाश करे। (८) 'घन" हथौड़े को कहते हैं।

स्मरण रहे कि पदार्थों इन्द्रिया, मन, बुद्धि और आत्मा का जो श्रेणीबद्ध कथन यहाँ हुआ है वह कठवल्ली उपनिषद, प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली मन्त्र १०-११ के कथन से इतना मिलता जुलता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वहीं से लिया गया है।

ॐ चौथे अध्याय का सार ॐ

इस अध्याय में कर्मयोग का विवेचन जारी रखते हुये कर्म-सन्यास अर्थात ज्ञानयोग की व्याख्या की गई है। पहिले यह बताया गया है कि कर्मयोग यह प्राचीन और सनातन मार्ग है। यह आत्मा के समान अविनाशी है। मनुष्य मात्र अज्ञान में पड़कर इस को भूल जाते हैं। इस को नवजीवन देने के लिये अवतार होता है। यह शंका कि इस को कृष्ण भगवान ने केवल अर्जुन के लिये घड़दिया था, निर्मूल है। योग वशिष्ट में महर्षि वशिष्ट ने भी शिखध्वज का दृष्टान्त देकर इसी ज्ञानमय कर्मयोग का प्रतिपादन किया है।

कर्म दो भावनाओं से किये जाते हैं—एक यह समझ कर कि "मैं" कर्त्ता हूं, दूसरे यह मानकर कि प्रकृति उसकी कर्त्ता है और मैं केवल उस का कर्म-पात्र हूं। पहिले भाव को 'कर्त्ता भाव' या "कर्म भाव" कहते हैं, दूसरे को "अकर्त्ता भाव" या 'अकर्म भाव"। अकर्त्ता भाव से कर्म करने ही का नाम "ज्ञानयोग" या "कर्म-सन्यास योग" है। कर्मयोग और कर्म-सन्यास योग के अन्तिम भाव में कुछ अधिक भेद नहीं है। इसी कारण बहुत स्थानों पर ज्ञानयोग का समावेश कर्मयोग में कर लिया जाता है। निम्नलिखी जन्तरी से यह व्याख्या सहज में समझ में आसकती है —

कर्म

अकर्त्ता भाव वाले — (ज्ञान-योग या कर्म-सन्यास योग के साधन)

कर्त्ता भाव वाले

- काम्य (कर्मयोग के साधन)
- निष्काम्य (कर्म काण्ड विहित कर्म)
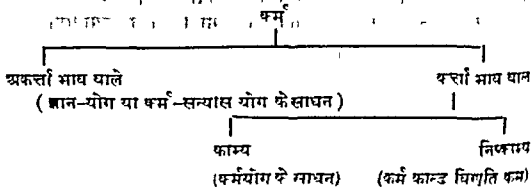
सकाम कर्मों में शुभ कर्म अच्छे हैं। सहल होने के कारण बहुत से मनुष्य उन्हें करते हैं। निष्काम कर्म उन से उत्तम हैं। अकर्त्ता भाव से कर्म करना निष्काम कर्म से भी उत्तम है। इस लिये कर्म सन्यास योग अर्थात ज्ञान-योग मार्ग बड़ा दुर्लभ है। इस का निर्वाह किया बल्कि इस के भाव तक को समझना कठिन है। 'कर्म-संन्यास' का जो अर्थ आजकल प्रचलित है वह गीता को मान्य नहीं है। गीता में कर्म-संन्यास का अर्थ अकर्त्ता भाव से कर्म' होता है न कि कर्म का परित्याग'। देखो भजन नं० (१२८)। यह अर्थ कुछ भ्रष्ट भी नहीं है। जब कर्म करने वाला अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता तब उसको न करने वाला संन्यासी ही जानना उचित है। योग वशिष्ट में भी सन्यास का यही भाव बताया गया है। संन्यासी का प्रचलित रूप भी हम को भ्रम में डालता है। गीता मत अनुसार

संन्यासी को मूंड मुडाने, गेरवा बाना पहनने लगोटी बान्धने की आवश्यकता नहीं है। गीता मत अनुसार वह सन्यासी कहलाने का अधिकारी नहीं जो दुनिया दिखाये के लिये बहुरूपीया बनता है या जो अपने कर्त्तव्य से जी चुराकर साधु बनजाता है। इस का नाम सन्यास नहीं कि

' नारि मुई सुख सम्पद नासी। मूंड मुडाय भये सन्यासी ॥ "

सन्यासी जी से होता है न कि रूप से। जो रोटी कमाने और अपनी सेवा कराने के लिये यह भेष धारण करते हैं वह ठग हैं। जिस का यह भाव हो कि।

' मूंड मुडाये तीन गुण, मिटी सीस की खाज।
लड्डा खाने को मिलें, कहलायें महाराज ॥ "

वह सन्यास-आश्रम को कलंकित करता है।

ज्ञान-योग से कर्म करने में कभी कर्म से बन्धन उत्पन्न नहीं होता। ब्रह्म ज्ञानी इसी भाव से कर्म करते हैं। साधारण मनुष्यों को यह भाव बड़ा कठिन है क्योंकि "मैं" उन का पीछा नहीं छोड़ता। ब्रह्म-ज्ञानीयों की कृपा से उन की शिक्षा द्वारा यह भाव प्राप्त होता है।

कर्म-फल से जैसा मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, उस ही के अनुसार उस का वर्ण और धर्म बनता है। उसी वर्ण में उसे अपने कर्म-फल भोगने पडते हैं। उसी वर्ण का धर्म पालना उस का कर्त्तव्य होता है। कर्त्तव्य पालन से बन्धन नहीं होता, बल्कि उन्नति होती है। इस दृष्टि से आजकल की यह लहर कि अन्त्यज जातियों से उन के व्यवहार छुडाकर उन को अन्य वर्ण वालों में स्थापन किया जाये इस धर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

ज्ञानयाग का अभ्यास प्राप्त करने के हेतु श्लोक २५-३० में यत्न बतायें गये हैं। जितने यज्ञ याग वेद शास्त्रों में वर्णन हैं, उन सब का यही अभिप्रायहै। स्मरण रहे कि 'यज्ञ' का अर्थ केवल स्मृति-प्रतिपादित यज्ञ नहीं है। इन में उन सब कर्मों का समावेश है जो इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-सयम या उपासना के हेतु किये जाते हैं।

ज्ञानयोग से मोह दूर हो कर बुद्धि में समता आजाती है। मनुष्य सर्व प्राणीयों में, अपने आपे में और ईश्वर में कोई अन्तर न पाकर सब को समान दृष्टि से देखता है। या यों कहो कि इन्द्रिय-निग्रह द्वारा उस को अनुभव हो जाता है और वह अव्यक्त ब्रह्म का दर्शन पाता है।

उसी व्यक्ति का नाम है जो जगत् सुधार के हेतु ब्रह्म-शक्ति का प्रत्यक्ष प्रकाश दिखाती है। यह हमारी मति प्रमाण रहित नहीं है। जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य जी ने भी अवतार उसी जीव को माना है जो अविद्या को दूर कर के अपनी ब्रह्म-शक्ति को जानलेता और उस का उपयोग करता है। (१२) यह शक्ति जिस के द्वारा ब्रह्म सर्व सृष्टि की रचना करता है और अवतार लेकर जगत् की अवश्यकतायें पूरी करता है "माया योग" कहलाती है।

(भजन नं० ३८ श्लोक ७--६)

[अवतार की आवश्यकता]

तर्ज—मौला की मैं जोगन बनूं।

धर्म हेतु मैं लूं अवतार।

जब घट जाये धर्म जगत् में, पाये पाप अधिक विस्तार ॥१॥

होकर रक्षक साधु जनन का, करता हूं दुष्टन संहार ॥२॥

मोरे ऐसे कर्म जन्म की, निश्चय जाने ज्ञानी सार ॥३॥

मम गति पाये एसा ज्ञानी, "विमल" जन्म की छूटे रार ॥४॥

टिप्पणी

(१) जब लौकिक धर्म अर्थात सांसारिक कर्त्तव्य का पालन और पारलौकिक धर्म अर्थात मोक्ष-साधनों का सेवन जगत् में कम हो जाते हैं अनीति होने लगती है और परमेश्वर विसर जाता है, तब ही अवतार होता है। निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म सगुण और व्यक्त रूप से संसार में प्रगट हो कर जगत् का सुधार करता है। भागवत पुराण में लिखा है —

" जन्म मरण से रहित हैं, नारायण करतार।
पर भक्तन के हेतु सों लेत मनुज अवतार॥
जब पृथ्वी पर होत है, पाप अधिक विस्तार।
तब ही सतगुण धरत हैं एक रूप अवतार॥ "

(२) मुक्त पुरुषों की सात श्रेणीयां होती हैं—यागी साधु मुनि ऋषि महर्षि महात्मा, व ब्रह्मण। इन में साधु वह है जो ईश्वर के इस संकल्प का साधन करे और कराय : "एकोहं बहु स्या अर्थात ' मैं एक हूं बहुत हो जाऊं "। साधु से मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी कारण साधु संग का बड़ा महात्म्य है और ब्रह्मण की सब शास्त्रों और पुराणों में इस की महिमा वर्णन है। जब एस पुरुषों को दुष्ट सताने लगते हैं और धर्म प्रचार में हानि पहुंचने लगती है तब ही

उन की सहायता और धर्म की वृद्धि के लिये अवतार होता है।

(३) अवतार साधुजनों की सहायता करने के लिये उन सब दुष्टों का नाश करता है जो धर्म मार्ग में हानिकारक होते हैं। दुष्ट वह हैं जो न आप धर्म पर चलते हैं न औरों को चलने देते हैं। वह आप कुमार्ग पर चलते है और दूसरों को वैसा ही करने के लिये उकसाते है। जो उन के कुमार्ग पर नहीं चलते, उन्हें दुःख देते हैं। इस कारण उन का संहार करके पृथ्वी का भार उतारा जाता है (४) इस अवतार के विषय को ज्ञानी जन ही भली प्रकार जानते हैं। साधारण मनुष्यों को अनसमझी से भ्रम उत्पन्न होते रहते हैं। जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता कि निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार से सगुण बनता है अथात जब तक वह आत्म व अध्यात्म ज्ञान में निपुण नहीं होता, उस में अवतार का विषय ग्रहण करने की योग्यता नहीं आती (५) जो ज्ञान विज्ञान में सम्पन्न हो कर ब्रह्मज्ञानी बन जाता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्ष ही का नाम ब्रह्मगति है।

(६) ऐसी गति का प्राप्त कर के आवागमन का झमेला दूर हो जाता है।

[भजन न० ३६ श्लोक १०--१२]

[ईश्वर की सर्वव्यापकता]

तर्ज—विघ्न हरण गौरी के नन्दन का सुमरन सुखदाई है।

जिस प्रकार जो ध्यावें[१] मो को वैसा मो को पाते हैं।
किसी[२] ओर से ही नर चालें मम मग पर आ जाते हैं॥
त्याग दिये भय[३] क्रोध[४] राग[५] मम आश्रय[६] पर जिन लोगों ने।
शुद्ध[७] ज्ञान-तप से वह हो कर मो में आन समाते हैं॥१॥
"विमल" करें देवन की पूजा कर्म--फलों की लगन जिन्हें।
जल्दी ऐसी पूजा से वह जग में सिद्धि[८] कमाते हैं॥२॥

टिप्पणी

(१) वोह जिस तरह से कोई ईश्वर का भजन करे, ईश्वर प्रसन्न हो कर उस को फल देते हैं। जिस रूप की उपासना की जाती है वही रूप उपासक के हेतु फल दायक होता है। (२) गीता को वह पक्षपाती मत मान्य नहीं हैं जिन में मोक्ष प्राप्त करना किसी विशेष व्यक्ति पर निर्भर होता है। इस का प्रतिपादित मत सब के लिये समान है। इस के मत अनुसार जो मनुष्य ईश्वर को भजता है वह चाहे किसी मत या धर्म में हो, मोक्ष मार्ग पर चलने वाला है क्योंकि सारे धर्म उसी एक ईश्वर तक पहुंचने के लिये बने हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी मोक्ष

के अधिकारी हो सक्ते हैं। अन्तर केवल धर्म उपदेशों और साधनों के सुगम व दुर्गम होने, और शंका समाधान की योग्यता का है। (३) किसी वस्तु के अपने पास से जाते रहने का डर "भय" कहलाता है (४) किसी वस्तु की हानि पर जो रोष भाव उत्पन्न होता है वह "क्रोध" है। (५) किसी वस्तु के प्राप्त होने की खुशी "राग" कहलाती है। (६) जो जी में यह भ्रम रखते हैं कि केवल हमारे उद्योग से प्रत्येक वस्तु हमें प्राप्त होती है, अथवा हमारी रक्षा से वह सुरक्षित रहती है, अथवा जगत् के नाशमान् पदार्थ आनन्ददायक हैं, वह अन्त में अवश्य दुःख उठाते हैं। उन का चित्त अशान्ति से दुखी रहता है। इस के विपरीत जो यह भाव रखते हैं कि परमेश्वर हमें हमारे कर्मों के अनुसार सर्व वस्तुएं प्रदान करता है और उन की रक्षा करता है, वह परमेश्वर के आश्रय पर रह कर बहुत शान्त रहते हैं शान्ति से आनन्द है, शान्ति से मोक्ष है, यह सब जानते हैं। (७) यह परमेश्वर का आश्रय लेने का भाव तब ही उत्पन्न होता है कि जब मन आत्म व अध्यात्म ज्ञान से शुद्ध हो कर कर्म तत्व को जानता हुआ अकर्त्ता भाव से कर्म करने लगता है। ऐसी गति प्राप्त करने वाला मोक्ष का अधिकारी होता है। (८) पहिले यह कथन हो चुका है कि सकाम कर्म से जगत् में मनाकामना पूर्ण हो सक्ती है, परन्तु मोक्ष के हेतु निष्काम भाव रखना अवश्य है। सकाम कर्म करना सहल है और उस का प्रत्यक्ष फल जल्दी प्राप्त हो जाता है। इस लिये बहुत से मनुष्य ऐसे ही कर्म करते हैं। कोई कोई विरला ऐसा होता है जो मुक्ति के परम आनन्द के आगे सब को तुच्छ समझ कर सकाम भाव का त्याग करता है। यह मार्ग कठिन है और इस का फल प्रत्यक्ष व जल्दी नहीं होता। इसी कारण बहुत कम महानुभाव इस को धारण करते हैं।

(भजन नं० ४० श्लोक १३--१४)

[वर्ण उत्पत्ति]

तर्ज—देखो कर के ख्याल, किया कैसा कमाल, मैं हूं यह ही ख्याल आके पहुंचा यहां।

सुनो देकर कर्ण, होवें चारों वर्ण, कर्म-गुण कर कर्पण,
सत, रज, तम से।

विप्र उत्तम विशेष, रखें सत् का प्रवेश, गहें सत्व ही हमेश,
सत्व, रज, तम से॥

क्षत्रिय अरु वैश्य जो, जाति मिश्री हैं दो, गहें वह रज ही को,
सत्व, रज, तम से।

होता जो शूद्र अधम, गहे सत् रज वह कम, लेत हैं तम ही तम,
सत्व, रज, तम से ॥

न कर्मों में लिपटूं, न ही मैं फल चाहूं, चारों का हेतु हूं,
सत्व, रज, तम से ॥

अकर्त्तानय "विमल", मुझे जाने जो नल, यह ही रहते अचल,
सत्व, रज, तम से ॥

टिप्पणी ।

(१) पिछले भजन में यह कथन हुआ है कि जैसी जैसी भावनाओं से मनुष्य कर्म करते हैं, उन को वैसे वैसे ही फल प्राप्त होते हैं । एक बार एक प्रकार के कर्म करने से मनुष्य में फिर उसी प्रकार के कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है । परिणाम यह होता है कि एक प्रकार के कर्म करते करते उसी प्रकार के कर्मों की बान पड जाती है । वह कर्म उस का स्वभाव बन जाते हैं । कर्म के गुण का आधार प्रकृति-गुण पर होता है । इसलिये जो मनुष्य सदा ऐसे कर्म करते हैं जिन में सत्वगुण अधिक होता है, उन में सत्व ही विशेष छा जाता है । जो ऐसे कर्म करते हैं जिन में रज या तम् की अधिकता होती है, उन में उसी गुण की प्रधानता हो जाती है । इस सिद्धान्त को लेकर मनुष्य जाति के चार विभाग बनाये गये हैं जो वर्ण कहलाते हैं । पहिले वर्ण-निर्णय के लिये मनुष्य के कर्म अर्थात आचार देखे जाते थे यही कारण है कि पुराणों में ऐसी कथाएं मिलती हैं जिन में एक मनुष्य का क्षत्रिय से ब्रह्मण, ब्रह्मण से शूद्र आदिक हो जाना लिखा है । परन्तु धीरे धीरे वर्ण का आधार जन्म पर हो गया । इस के दो कारण हुये – (।) पुत्र में माता पिता का अंश होता है । वह पुत्र को अपने स्वभावों व विचारों अनुसार शिक्षा देते और दिलाते हैं । इस का यह परिणाम होता है कि ब्रह्मणपुत्र में ब्रह्मणपन, क्षत्रियपुत्र में क्षत्रियपन, वैश्यपुत्र में वैश्यपन और शूद्रपुत्र में शूद्रपन स्थिर होजाता है । (।।) पुत्र को पिता का काम सभालने में सुभीता रहता है । वह पिता के काम में जल्दी निपुण होजाता है । इस कारण यह प्रथा चल गई कि प्रत्येक घर में पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही काम होने लगा । यह काम इस प्रकार वर्ण का अंग बन गया । यह मान्य होगया कि जो कुल ब्रह्मण का काम करता है वह ब्रह्मण ही कहलाये चाहे उस कुल में कोई ऐसा भी निकल आये जो निजकुल कर्म न करके अन्य काम करने लगे । यद्यपि इस परिपाटी ने वर्ण के उस सिध्दान्त में परिवर्तन पैदा कर दिया जिस पर वर्ण स्थापन हुआ था, तथापि अब भी यह वर्ण आश्रम धर्म लाभ शून्य नहीं है । इसके बन्धन तोडने में हिन्दू समाज की अवश्य हानि है । इसी वर्ण आश्रम धर्म ने अब तक हिन्दू समाज

की रक्षा की है नहीं तो अन्य जातिया इस को कभी का हड़प कर गई होती। (२) चारों जातियों में से प्रत्येक ने प्रकृति के किसी एक गुण को विशेषतासे कर्षण कर लिया है अर्थात अपनी ओर खेंच लिया है। (३) तीनों गुणों में से जिस जाति ने सत्यगुण को अपने में प्रधान रखा वह ब्राह्मण हुई, जिस ने रज को अधिकता दी वह क्षत्रिय या वैश्य बनी और जिसने तम् को ग्रहण किया वह शूद्र कहलाई। (४) परमेश्वर अपने मायायोग से सारी सृष्टि की रचना करता है, परन्तु आप उस में लिप्त न होकर सब से न्यारा रहता है। इसी कारण वह सर्व बन्धनों से परे है। बन्धन उसी को सताते हैं जो कामना द्वारा कर्म में लिप्त हो जाता है। (५) परमेश्वर अकर्त्ता और अक्षय है। वह अकर्त्ता है क्योंकि किसी कर्म को कर्ता भाव से न कर के सब से न्यारा रहता है। वह अक्षय है क्योंकि उस का कभी नाश नहीं होता। (६) मनुष्य। (७) जो परमेश्वर के मायायोग को जानकर उस की तरह आप भी अकर्त्ता भाव से कर्म करता है वह कामना रहित होने के कारण मन की चंचलता को जीत कर अचल हो जाता है।

(भजन न० ४१ श्लोक १५-२१)

[कर्म अकर्म विवेचन]

तर्ज—कान्हा आइया लेले रे।

कर्म अकर्म की टेढ़ी बानी, या सों होत हैं चकित ज्ञानी।
याप समझ के मोक्ष चाहके, पूर्व काल के मानी।
कर्म करें थे तू भी वासों, चल वह डगड़ पुरानी ॥१॥
कर्म शुभाशुभ अकर्म गति की, तुझे उचित पहिचानी।
जो तू सीखे करना इनका, देख लाभ अरु हानी ॥२॥
अकर्म कर्मन कर्म अकर्मन बीच देख जिन जानी।
युक्ति रखे वह कर्मन मांही, वही चतुर अगवानी ॥३॥
ज्ञानअग्नि में भस्म करे जो, निज कर्मन की घानी।
और कर्म निष्काम करें तो, पंडित मानें ज्ञानी ॥४॥
त्याग कर्म-फल रहे तृप्तिमय, निराश्रय जो मानी।
अकर्म ही से होवें वाके, सर्व कर्म कल्यानी ॥५॥
चित्त आत्मा जो वश में कर, छोड़ यत्न-महानी।

तन के द्वारा कर्म किये से, वाको पाप न हानी ॥६॥

१४
यक्ति कर्म की जो अब मैं ने, तो से पार्थ वखानी।

इसी यक्ति का "विमल" हथोड़ा तोड़े पाप कमानी ॥७॥

टिप्पणी।

(१) अकर्त्ता भाव से अर्थात प्रकृति-गुण को कर्त्ता मानकर किया हुआ कर्म "अकर्म" कहलाता है। ऐसी बुद्धि से कर्म करना बड़ा कठिन है। बड़े बड़े ज्ञानी भी इस में चक्कर खाजाते हैं। साधारण मनुष्यों को यदि भ्रम हो जाये तो क्या आश्चर्य है? साधारण यह समझता है कि यह वैरागी ही क्या हुआ जो सांसारिक कर्म करता रहा? परन्तु यह उस की भूल है। (२) भूतकाल में जनक सरीखे इस अकर्मका पालन कर चुके हैं। (३) जब जनक आदिक का जीवन इस योग की सफलता का प्रमाण है तब हमें इस देखे भाले रास्ते पर चलने में क्या शंका हो सकती है? (४) इस में सन्देह नहीं कि जब तक किसी को यह मालुम न हो कि शुभ कर्म किसे कहते हैं और अशुभ किसे, किस कर्म का करना उचित है और किस का अनुचित, अकर्त्ता भाव से कर्म करना किसका नाम है और कर्त्ता भावसे करना किसका, तब तक उस की बुद्धि का निर्णय क्याकर ठीक हो सकताहै? केवल त्याग भी इस ज्ञान के बिना वृथा है। अज्ञानी का त्याग भी तमोगुणी अर्थात अधम होता है जैसा कि अन्तिम अध्याय में कथन है। (५) ऐसा ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य को यह पहिचान नहीं हो सकती कि उस के किसी कर्म से लौकिक या पारलौकिक हानि होगी या लाभ। जो कर्म मनुष्य का जगत् में भला करते हैं वह लौकिक लाभ देने वाले होते हैं। जो उसे हानि पहुंचाते हैं वह लौकिक हानि का कारण होते हैं। इसी तरह जिन कर्मों से मोक्ष मार्ग में सहायता मिलती है वह पारलौकिक लाभ दायक और जिन से बाधा पड़तीहै वह हानिकारक होते हैं। (६) जो यह जानलेता है कि अकर्त्ता भाव से किये हुये कर्म अकर्म समान हैं (क्योंकि उन से बन्धन नहीं होता) और कर्म न करने में यह अहंकार भाव रखना कि हम कर्म नहीं करेंगे कर्म करने के बराबर है (क्योंकि उस में अहंकार बन्धन मौजूद होता है), वह कर्म करने के कौशल को जान कर सदा योग निभाता है। कर्म करने या न करने में वैराग्य भाव रखना सच्चा अकर्म है। इस कारण जब तक कर्म से प्रीति या द्वेष बना रहता है तब तक वैराग्य कहाँ? इसी नियम के आधार पर किसी कवि ने कहा है —

"कता कीजे न ताल्लुक़ हम से। कुछ नहीं है तो अदावत ही सही"॥

(७) कर्मयोग अर्थात कर्म-कुशलता ही का नाम "युक्ति" है। (८) तत्व-ज्ञानी वही है जो ज्ञानयोग अर्थात अकर्त्ता भाव से कर्म कर के कर्म के कर्मत्व को भस्म कर दे। कर्मत्व के भस्म होने पर कर्म अकर्म समान हो जाते हैं। यही कर्मों का

भस्म कर देना है। श्री शंकराचार्यजी भी इस विषय में प्रमाण हैं। अकर्त्ता भाव से कर्मों को उन्हों ने भी कर्म नहीं माना है। जो टीकाकार सन्यास-मार्ग प्रतिपादन करते हैं वह इस का भावार्थ यह करते हैं कि कर्म का सर्वथा परित्याग करना चाहिये। परन्तु जब कर्म-सन्यास या ज्ञानयोग में कर्म का केवल अकर्त्ता भाव से होना आवश्यक है, उन का सर्वथा त्याग आवश्यक नहीं, तब यहां भी वैसा ही अर्थ करना उचित है। (६) जिस प्रकार भोजन से तृप्त हो कर मनुष्य को फिर किसी भोजन की इच्छा नहीं रहती, उसी तरह निष्काम भाव वाला अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखता। (१०) जो कर्म-फल के आश्रय अर्थात आधार पर अपने कर्म का अवलम्बन नहीं करता वह बेधड़क वही बात करता है जो करने योग्य होती है। जिस के जी में कामना का लक्ष होता है वह उस कामना पर ध्यान रखता हुआ कर्म करता है। उसे उस कर्म की योग्यता या अयोग्यता की पर्वा नहीं होती। (११) जो अकर्त्ता भाव से कर्म करता है उस को कर्म बन्धन नहीं सताता। इस कारण उस के सारे ही कर्म हानि-रहित और कल्याणकारी होते हैं (१२) चित्त आत्मा=अपना आपा। (१३) जिस प्रकार मदारी या भठियारा सारे दही को चक्कर देती है उसी प्रकार कामना चित्त को चलायमान कर के मनुष्य को अपने आपे में नहीं रहने देती। जो वासना को त्याग देता है वह उस के चक्कर से बाहर निकल कर शान्ति पाता है। वह अकर्त्ता भाव से कर्म करता है इस लिये कर्म के बन्धन में नहीं आता। जिससे हेतु कर्म-बन्धन नष्ट हो जाता है, उसे कर्म कोई हानि नहीं पहुंचा सकते। (१४) जो मनुष्य इस कौशल से कर्म करता है कि अकर्त्ता भाव से अपने कर्मों को अकर्म बना लेता है वह अपने कौशल से कर्म के दाव की कमाई को ताड़ देता है अर्थात उस के थकाम में सब कर्म-दोष दूर हो जाते हैं। भावार्थ इस सारे विवेचन का यह है कि कर्म योग प्रधान है। केवल कर्म करने से बन्धन नहीं होता। कर्त्ता की बुद्धि बन्धन-क्लेश पैदा करती है। मोक्ष चाहनेवाले को कर्म का सर्वथा परित्याग करना जरूरी नहीं है। सच तो यह है कि मनुष्य को भोग और वैराग्य दोनों की आवश्यकता है। "हिन्दी निबन्ध रत्न माला" में प० रघुवरशर्मा जी ने लिखा है कि "न तो संसार में सर्वथा निवृत्त होना अच्छा है और न ही सर्वथा आसक्त होना अच्छा है, किन्तु इन दोनों से यथावत् उपयोग लेना बुद्धिमता है।" यह विचार गीता के इस कर्म-सिद्धान्त को प्रत्यक्ष दिखाता है।

(भजन नं० ४- श्लोक २२--२४)

[अकर्म गति से मान-शांति]

तर्ज—मादरे हिन्द की आंखों का सितारा गांधी।

जो द्वन्द्व मार मजे हाल फैंक आप परे।

मांग विना जोइ मिले सोइ जिसे तृप्त करे ॥१॥

सिद्धि मिले या न मिले एक जिसे होय दोउ ।

कर्म रूप बोझ, वही नाहिं कभी सीस धरे ॥२॥

जोइ मुक्त संग रहित ज्ञान माहि चित्त अचल ।

यज्ञ होय कर्म जिसे वाय हेतु कर्म जरे ॥३॥

यज्ञ रूप ब्रह्म स्वयं हव्य रूप ब्रह्म स्वयं ।

अग्नि रूप ब्रह्म स्वयं, ब्रह्म स्वयं यज्ञ करे ॥४॥

ब्रह्म रूप माहि वही सिद्ध पुरुष जाय समा ।

जोइ कर्म माहि "विमल" ब्रह्म बीच ध्यान धरे ॥५॥

टिप्पणी

(१) जो दो, विपरीत भावों की जोड़ी "द्वन्द्व" कहलाती है, जैसे प्रीति वैर, राग द्वेष, मान अपमान इत्यादि । साधारण मनुष्य में यह भाव अधिक होता है । ज्यों ज्यों मनुष्य अकर्ता भाव धारण करता जाता है त्यों त्यों यह द्वन्द्व भाव घटता जाता है और समता आती जाती है । जब मनुष्य सिद्धि प्राप्त करलेता है यह भाव सर्वथा दूर हो जाता है । इस कारण जो मनुष्य द्वन्द्व त्याग दे, उस को सिद्ध और जीवन्मुक्त समझना चाहिये । (२) जिस सिद्ध पुरुष से द्वन्द्व दूर हो जाता है, उस में ईर्षा अर्थात डाह का प्रवेश भी नहीं रहता, क्योंकि डाह तब ही पैदा होता है कि जब मनुष्य दूसरे को अपने से भिन्न मान कर उस की उन्नति से विरोध रखता है । (३ ऐसे भाव वाला मनुष्य किसी पदार्थ की लालसा न रखता हुआ प्रत्येक दशा में प्रसन्न रहता है । जो वस्तु उस को मिल जाती है उस से द्वेष न करके अकर्ता भाव से उसे भोग लेता है । जो वस्तु नहीं मिलती उस की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता । न यह यत्न करता है कि किसी तरह जो वस्तु प्राप्त हुई है, वह उस के पास सदा बनी रहे । (४) वह जो कुछ अपना कर्त्तव्य समझता है उसे निर्भय हो कर करता है । इस बात की परवा नहीं करता कि उस का क्या फल होगा । चाहे उसे किसी काम में सफलता हो चाहे न हो, उस को दोनों बरा बर होते हैं । न सफलता की ख़ुशी होती है न असफलता का दुःख । (५) इस प्रकार के समता भाव से कर्म करने वाले पर कोई कर्म-दोष नहीं लगता । किसी पाप का भार उस के सिर पर नहीं पड़ता क्योंकि कर्त्ता भाव ही से यह बोझ सिर पर आ पड़ता है । (६) जो अकर्ता भाव धारण कर के कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात छूट जाता है वही जीवन्मुक्त कहलाता है । (७) जिस के हृदय में किसी से प्रेम-सम्बन्ध और किसी से द्वेष-सम्बन्ध रहता है उस का भाव संग

भाव कहलाता है। जब मनुष्य अपने दिल से सब वस्तुओं से सग अर्थात सम्बन्ध छोड़ देता है तब उस के भाव को असंग या सग रहित कहते हैं। (८) मनुष्य पर जब कोई विपता आजाती है तब उस का चित्त भ्रम हो जाता है। वह यह विचार करने और निर्णय करने के योग्य नहीं रहता कि क्या करना उचित है। ऐसी दशा कामनाओं से चित्त चलायमान होने पर भी हो जाती है। जो योग साधन से अपना भाव निष्काम बनालेते हैं उन का चित्त स्थिर हो जाता है। दूसरे अध्याय में योगी की यही पहिचान बताई गई है। (९) यज्ञ का अर्थ है निष्काम कर्म अर्थात कर्त्तव्य। केवल यह संकुचित अर्थ नहीं है जो आज कल प्रचलित है। अगला भजन भी इस में प्रमाण है। निष्काम कर्मों को इस कारण यज्ञ' कहा गया है कि यज्ञ निष्काम भाव का विलक्षण स्वरूप है। यज्ञ में प्रत्येक आहुति के साथ यह कहा जाता है "इदनमम" (यह मेरा नहीं)। ऐसे उच्चारण से बढ़कर निष्काम भाव को कौन प्रकट कर सकता है ? (१०) कर्त्तव्य पालन करने से कभी दोष नहीं होता। अकर्त्ता भाव कर्मत्व का जला देता है। यह ही कर्म का जल जाना है। (११) सर्व सृष्टि ब्रह्म ने रची है। ब्रह्म ही उस को चलाता है। ब्रह्म ही उसको नष्ट कर देता है। ससार में जितने जीव और पदार्थ हैं, वह सब ब्रह्म का प्रकाश है। इस दृष्टि से जो कुछ ससार में होता है वह ब्रह्म ही करता है। संसार-चक्र को यदि ब्रह्म यज्ञ कहें, तो इस यज्ञ में ब्रह्म ही अग्नि है ब्रह्म ही द्रव्य है, ब्रह्म ही यज्ञ की क्रिया है, ब्रह्म ही आहुति है और ब्रह्म ही यज्ञ कर्त्ता है। आशय यह है कि भगवान सर्वमयी और सर्व कर्त्ता है। जो योग आदिक साधनों से इस मर्म को जानकर अकर्त्ता भाव से कर्म करता है वही ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष का अधिकारी होता है।

(१२) जो हवन में चढ़ाया जाता है वह द्रव्य' कहलाता है।

[भजन न० ४३ श्लोक २५–३०]

[यज्ञों का विस्तार]

तर्ज—दिखाय सुग्रवि जो जो तुम ने, वह वस्त्र भूषण हैं जानकी के।

(१) विधान से योग-युक्त कोई, सदैव देवन यजन रचावें।

(२) जला जला ब्रह्म अग्नि कोई, स्वयम् यजन को यजन करावें ॥१॥

(३) जलाय निषादी अग्नि कोई, चढ़ाय श्रोत्रादि इन्द्रियों को।

(४) अग्निन्द्रियों से मनुष्य कोई, शब्दादि विषयन यजन जगावें ॥२॥

(५) प्रचण्ड कर ज्ञानयोग कोई, अग्नि मझावें दम और शम की।

(६) समस्त प्राण और इन्द्रियों के, कर्त्तव्य का में यजन करावें ॥३॥

(७) कई महद्र द्रव्य दान कोई, कमायें तप योग ज्ञानि कोई।

करें भजन और गान कोई, कथन पठन का यजन निभायें ॥४॥
दहय प्राण से अपान कोई, अपान से प्राण वायु कोई।
थमा थमा प्राण वायु दोई, इसी मनन का यजन जुहायें ॥५॥
विचार आहार में हमेशः, रखाय के नैम बन्धनों का।
अहार से प्राण बीच कोई, स्वयम् इन्हीं का यजन चलायें ॥६॥
रचायें जो यज्ञ इस तरह के, वही यजन का स्वरूप जानें।
छुड़ा छुड़ा सर्व पाप मल को, उन्हें "विमल" यह यजन बनायें ॥७॥

टिप्पणी

इस भजन में विविध प्रकार के उन कर्मों का वर्णन है जो विविध भाव के मनुष्य अपने पापों को दूर करने और मोक्ष पाने के हेतु धारण करते हैं। "यजन" या "यज्ञ" के शब्द का ऐसे ही कर्मों के वास्ते उपयोग हुआ है। (१) कोई मनुष्य कर्म-अनुष्ठान का मुख्य मानकर अनेक प्रकार के देव पूजन करते हैं। ऐसे मनुष्यों को कर्म-कुशल होने के कारण यहां पर योग-युक्त अर्थात् (कर्म) योगी का नाम दिया गया है। (२) कोई यह बुद्धि रखते हैं कि सब कर्म करने वाला ब्रह्म है। वह ही संसार-चक्र को चलाता है, अर्थात् महानारायणोपनिषद् की परिभाषा में 'ब्रह्म यज्ञ' करता है। वह अकर्त्ता भाव से सब कर्म करता है, यह भाव रखकर वह ज्ञानयोग के धारण करने वाले सर्व कर्म रूपी यज्ञ को अकर्त्ता भाव रूपी हवन में स्वाहा कर देते हैं अर्थात् अकर्त्ता भाव बनाकर अपने कर्मों के कर्मत्व को भस्म कर देते हैं। इस तरह स्वयं यजन (कर्म) को यजन (स्वाहा) कर देते हैं। (३) कोई संयमी इन्द्रिय-निग्रह करते हैं। वह निग्राही अर्थात् निग्रहकर्त्ता कर्म कर के इन्द्रियों को अपने वश में लाते हैं। याज्ञिकों की परिभाषा में वह निग्रहरूपी अग्नि जलाकर अपनी इन्द्रियां (की चंचलता) का होम देते हैं। वह जितेन्द्रिय बन कर इन्द्रियों को केवल उन की मर्यादा के भीतर व्यवहार करने देते हैं। इस लिये विषयों में लिप्त न होकर मोक्ष पाते हैं। (४) कोई त्यागी विषय को सर्वथा त्याग कर इन्द्रियों को बिलकुल ही मार डालते हैं। पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं:- श्रोत्र (कान) का विषय शब्द नेत्र का विषय रूप, नाक का विषय गन्ध, जीभ का विषय रस और त्वचा का विषय स्पर्श। ऐसे त्यागी निग्रह से श्रोत्र को इतना वश में कर लेते हैं कि प्रिय व अप्रिय वचन सुनकर उनको अच्छा बुरा नहीं लगता स्वरूप वान व कुरूप वान समान दृष्टि से उन के प्रेम पात्र बनते हैं, सुगन्ध की चाहत और दुर्गन्ध से द्वेष नहीं रहता, स्वाद व अस्वाद भोजन को समान रुचि से ग्रहण करते हैं और सर्दी व गर्मी के दुःख सुख की परवाह नहीं होती। इसी निग्रह के लिये वह यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,

भाव कहलाता है। जब मनुष्य अपने दिल से सब वस्तुओं से संग अर्थात सम्बन्ध छोड़ देता है तब उस को भाव को असंग या संग रहित कहते हैं। (८) मनुष्य पर जब कोई विपता आजाती है तब उस का चित्त भ्रम हो जाता है। वह यह विचार करने और निर्णय करने के योग्य नहीं रहता कि क्या करना उचित है। ऐसी दशा कामनाओं से चित्त चलायमान होने पर भी हो जाती है। जो योग साधन से अपना भाव निष्काम बनालेते हैं, उन का चित्त स्थिर हो जाता है। दूसरे अध्याय में योगी की यही पहिचान बताई गई है। (९) यज्ञ का अर्थ है निष्काम कर्म अर्थात कर्त्तव्य। केवल वह संकुचित अर्थ नहीं है जो आज कल प्रचलित है। अगला भजन भी इस में प्रमाण है। निष्काम कर्मों को इस कारण 'यज्ञ' कहा गया है कि यज्ञ निष्काम भाव का विलक्षण स्वरूप है। यज्ञ में प्रत्येक आहुति के साथ यह कहा जाता है "इदन्नमम" (यह मेरा नहीं)। ऐसे उच्चारण से बढ़कर निष्काम भाव को कौन प्रकट कर सकता है? (१०) कर्त्तव्य पालन करने से कभी दोष नहीं होता। अकर्त्ता भाव कर्मत्व को जला देता है। यह ही कर्म का जल जाना है। (११) सर्व सृष्टि ब्रह्म ने रची है। ब्रह्म ही उस को चलाता है। ब्रह्म ही उसको नष्ट कर देता है। संसार में जितने जीव और पदार्थ हैं, वह सब ब्रह्म का प्रकाश है। इस दृष्टि से जो कुछ संसार में होता है वह ब्रह्म ही करता है। संसार-चक्र को यदि ब्रह्म यज्ञ कहें, तो इस यज्ञ में ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही हव्य है, ब्रह्म ही यज्ञ की क्रिया है, ब्रह्म ही आहुति है और ब्रह्म ही यज्ञ कर्त्ता है। भावार्थ यह है कि भगवान सर्वमयी और सर्व कर्त्ता है। जो योग आदिक साधनों से इस मर्म को जानकर अकर्त्ता भाव से कर्म करता है वही ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष का अधिकारी होता है। (१२) जो हवन में चढ़ाया जाता है वह "हव्य" कहलाता है।

[भजन न० ४३ श्लोक २५-३०]

[यज्ञों का विस्तार]

तर्ज—दिखाय सुग्रीव जो जो तुम ने, यह वस्त्र भूषण हैं जानकी के।

(१) विधान से योग-युक्त कोई, सदैव देवन यजन रचायें।
(२) जला जला ब्रह्म अग्नि कोई, स्वयम् यजन का यजन करायें ॥१॥
(३) जलाय निग्राही अग्नि कोई, चढ़ाय श्रोत्रादि इन्द्रियों को।
(४) अग्निन्द्रियों से मनुष्य कोई, शब्दादि विषयन यजन जगायें ॥२॥
(५) प्रचण्ड कर ज्ञानयोग कोई, अग्नि जलायें दम और शम की।
(६) समस्त प्राण और इन्द्रियों के, कर्त्तव्य या में यजन करायें ॥३॥
(७) करें सदा द्रव्य दान कोई, कमाय तप योग खानि कोई।

करें भजन और गान कोई, कथन पठन का यजन निभायें ॥४॥
(८)
दहय माण से अपान कोई, अपान से माण वायु कोई।
थमा थमा माण वायु दोई, इसी मनन का यजन जुहायें ॥५॥
(९)
विचार आहार में हमेशा, रखाय के नैम बन्धनों का।
अहार से प्राण बीच कोई, स्वयम् इन्द्रीं का यजन चलायें ॥६॥
रचायें जो यज्ञ इस तरह के, वही यजन का स्वरूप जानें।
(१०)
छुडा छुडा सर्व पाप मल को, उन्हें "विमल" यह यजन बनायें ॥७॥

टिप्पणी

इस भजन में विविधि प्रकार के उन कर्मों का वर्णन है जो विविधि भाव के मनुष्य अपने पापों को दूर करने और मोक्ष पाने के हेतु धारण करते हैं। यजन" या 'यज्ञ' के शब्द का ऐसे ही कर्मों के वास्ते उपयोग हुआ है। (१) कोई मनुष्य कर्म-अनुष्ठान का मुख्य मानकर अनेक प्रकार के देव पूजन करते हैं। ऐसे मनुष्यों को कर्म-कुशल होने के कारण यहां पर योग-युक्त अर्थात् (कर्म-) योगी का नाम दिया गया है। (२) कोई यह बुद्धि रखते हैं कि सब कर्म करने वाला ब्रह्म है। यह ही संसार-चक्र को चलाता है, अर्थात् महानारायणोपनिषद् की परिभाषा में 'ब्रह्म यज्ञ' करता है। वह अकर्त्ता भाव से सब कर्म करता है, यह भाव रखकर वह ज्ञानयोग के धारण करने वाले सर्व कर्म रूपी यज्ञों को अकर्त्ता भाव रूपी हवन में स्वाहा कर देते हैं अर्थात् अकर्त्ता भाव बनाकर अपने कर्मों के कर्तृत्व को भस्म कर देते हैं। इस तरह स्वय यजन (कर्म) को यजन (स्वाहा) कर देते हैं। (३) कोई सयमी इन्द्रिय-निग्रह करते हैं। वह निग्राही अर्थात् निग्रहकर्त्ता कर्म कर के इन्द्रियों को अपने वस में लाते हैं। याज्ञियों की परिभाषा में वह निग्रहरूपी अग्नि जलाकर अपनी इन्द्रियों (की चचलता) को होम देते हैं। वह जितेन्द्रिय बन कर इन्द्रियों को केवल उन की मर्यादा के भीतर व्यवहार करने देते हैं। इस लिये विषयों में लिप्त न होकर मोक्ष पाते हैं। (४) कोई त्यागी विषय को सर्वथा त्याग कर इन्द्रियों को बिलकुल ही मार डालते हैं। पाचों इन्द्रियों के पाच विषय हैं - श्रोत्र (कान) का विषय शब्द नेत्र का विषय रूप नाक का विषय गन्ध, जीभ का विषय रस और त्वचा का विषय स्पर्श। ऐसे त्यागी निग्रह से श्रोत्र को इतना, वस में कर लेते हैं कि प्रिय व अप्रिय वचन सुनकर उनको अच्छा बुरा नहीं लगता स्वरूप वान व कुरूप वान समान दृष्टि से उन के प्रेम पात्र बनते हैं, सुगन्ध की चाहत और दुर्गन्ध से द्वेष नहीं रहता, स्वाद व अस्वाद भोजन को समान रुचि से ग्रहण करते हैं और सर्दी व गर्मी के दुःख सुख की परवाह नहीं होती। इसी निग्रह के लिये वह यम, नियम, आशन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,

और समाधि आठों साधनों का, (जो अष्टांगयोग कहलाते हैं) अभ्यास करते हैं। (५) इन्द्रियों को दमन करने मन को शान्त रखने और प्राणों को प्राणायाम द्वारा अपने वश में लाने के हेतु अकर्त्ता भाव पैदा करना जरूरी है। जब तक यह अहंकार बना रहता है कि साधनों का करने वाला मैं हूं, तब तक दम शम नहीं निभ सकता। इस लिये इन्द्रियों और प्राणों को जीतने के लिये दम शम रूपी अग्नि को आत्मयोग (अकर्त्ता भाव) से प्रचण्ड करके उस में इन्द्रियों और प्राणों के कर्मों को जलाना (वश में लाना) पड़ता है। (६) कोई महापुरुष न केवल इन्द्रियों के कर्मों को बन्द कर देते हैं बल्कि प्राणों के व्यापारों को भी रोक कर अचल समाधि लगाते हैं। वह पाचों कर्म इन्द्रियों (हाथ, पाओं, मुख, मल व मूत्र स्थानों) के व्यापारों को "शुद्ध ध्यान" नामक साधन के द्वारा और पांचों प्राणों (प्राणों अपानों समानों, व्यानों व उदानों) के व्यापारों को प्राणायाम अर्थात् योगाभ्यास के द्वारा रोकते हैं। (७) कोई दानी दृढ़ता के साथ द्रव्य पुण्य कर के द्रव्य-यज्ञ रचाते हैं कोई तपेश्वरी या योगी तप्य या कर्म योग करके तप्य या योग यज्ञ करते हैं और कोई हरि-भक्त हरि के गुण गा कर या कथा व पाठ करके स्वाध्याय यज्ञ निभाते हैं। (८) कोई योगाभ्यासी पातञ्जल-योग के अनुसार प्राणायाम करते हैं। बाहर जानेवाली वायु जो उच्छ्वास कहलाती है योग की परिभाषा में "प्राण" के नाम से और भीतर जाने वाली वायु जो श्वास कहलाती है "अपान" के नाम से पुकारी जाती है। अपान में प्राण के दहन (हवन) करने अर्थात् प्राण को भीतर रोककर बाहर न आने देने से 'पूरक' नामक प्राणायाम, प्राण में अपान के हवन करने अर्थात अपान को बाहर रोककर भीतर न जाने देने से "रेचक" नामक प्राणायाम और दोनों के हवन करने अर्थात् दोनों की क्रियाएं रोकने से "कुम्भक" नामक प्राणायाम होता है। प्राणों के व्यापारों ही से चित्त में चञ्चलता पैदा होती है। इन व्यापारों के रोक लेने से यह चञ्चलता रुक जाती है और चित्त को एकाग्र करने की शक्ति आजाती है। इस शक्ति से योगी चाहे परमेश्वर में ध्यान लगाये चाहे आठों सिध्यिां प्राप्त करे, जैसे कि रेचक से इच्छा अनुसार मन मानी चोला धारण कर लेना पूरक से आकाश मार्ग में उड़ना आदिक आजाता है। (९) कोई सज्जन भोजन के सम्बन्ध में नियम बांधकर प्राणों में प्राणों ही को हवन कर देते हैं अर्थात् गृहस्थाश्रम के हेतु नियत किये हुए पंच महायज्ञ आदिक की पालना करने में वह इतने दृढ़ होते हैं कि अपनी जान तक पर खेल जाना भी उन के लिये कोई बात नहीं होता। उदाहरण के लिये देखये कि राजा हरिश्चन्द्र ने कई दिन के भूखे होते हुये भी इस अपने नियम का नहीं तोड़ा कि आप भोजन करने से पहिले अतिथि को खिलाना चाहिये और अतिथि का अपना भोजन देकर आप भूखे रहे। (१०) जो जो अनेक साधन वेदों में वर्णन हैं और जिन में से कुछ का उल्लेख ऊपर हुआ, उन सब ही से चित्त की शुद्धि होती है और पाप दूर होते हैं। पाप का मैल हट जाने ही से मनुष्य विमल अर्थात् निर्मल हो जाता है। जो

मनुष्य कामनाओं में फस कर कोई कर्म नष्काम बुद्धि से करना नहीं जानते, वह इन यज्ञों के भाव को नहीं पासकते। जो तर्कना छोड कर इन साधनों को धारण करते है वह ही इनके तत्व को समझते हैं।

(भजन नं० ४४ श्लोक ३१--३७)

[यज्ञों की आवश्यकता और उन का फल]

तर्ज़—न छेड़ो हमें हम सताय हुये हैं।

(१) यजन ब्रह्मने जो बताय हुये हैं। सभी (२) कर्म से जन्म पाय हुये हैं ॥१॥

(३) जिन्हें ज्ञान है यह वही मोक्ष पाय। फंसें मोह के जो फसाय हुये हैं ॥२॥

(४) उनको न यह लोक है फिर कहां वह ?। यजन चित्त से जो भुलाय हुये हैं ॥३॥

(५) कमायें वही ब्रह्म पदवी सनातन। जिन्हें यज्ञ (६) अमृत पिलाय हुये हैं ॥४॥

(७) धन यज्ञ से ज्ञान का यज्ञ उत्तम। कि सब कर्म उस मांहि आय हुये हैं ॥५॥

(८) ऐसे गुरु के चरण में पड़ो, जो। ज्ञान और सब तत्व पाय हुये हैं ॥६॥

करो टहल, पूछो, तुम्हें वह देंगे। वही (९) द्रव्य जो वह कमाय हुये हैं ॥७॥

(१०) सताय नहीं फिर कभी मोह आकर। यदि जी में यह गुर बिठाय हुये हैं ॥८॥

(११) अर्जुन लखेगा इसी ज्ञान से तू। सब तो में मो में समाय हुये हैं ॥९॥

तारेगी (१२) यह ज्ञान नाव तुझे भी। चाहे अधिक पाप ध्याये हुये हैं ॥१०॥

(१३) जलाय "विमल" जिस तरह अग्नि ईंधन। वुहीं कर्म इसके जलाय हुये हैं ॥११॥

टिप्पणी।

(१) यहा ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'परमेश्वर' भी किया जा सक्ता है और "वेद" भी। तिलक महाराज ने पहिला अर्थ लेकर श्लोक का अनुवाद यह किया है कि भांति भांति के यजन अर्थात् यज्ञ ब्रह्म के मुख में जारी हैं अर्थात् ब्रह्म ही अपने अग्नि मुख से सर्व यज्ञों को ग्रहण करता और भोगता है। अन्य टीकाकारों ने इस शब्द का दूसरा अर्थ लेकर श्लोक का अभिप्राय यह बताया है कि वेदों ने भांति भांति के यज्ञ वर्णन किये हैं। हमें इस स्थान पर पिछला अनुवाद अधिक शोभाय मान मालूम होता है इस लिये हम ने उसे ही ग्रहण किया है। (२) सारे ही यज्ञ अर्थात् साधन कर्मों के द्वारा पूर्ण होते हैं। कर्मों के सन्यास अर्थात् त्याग से उन का पूर्ण होना सम्भव नहीं। इन साधनों के बिना मोक्ष नहीं होती, इस लिये यह सिद्ध हुआ कि कर्म का सन्यास हितकारी नहीं होता। (३) जो इस मर्म को जानने

है अर्थात् जिन को कर्मयोग की महिमा का ज्ञान है, वह कर्मयोग धारण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो मोह में फंसे हुये हैं अर्थात् जिनको कामनाओं ने ऐसा घेर रखा है कि वह कर्मयोग के भाव को न पाकर उसको धारण नहीं करते यह मोक्ष के हेतु कोई उद्योग न करते हुये बन्धनों में पड़े रहते हैं। (४) कर्म के बिना कोई यत्न नहीं होता। यत्न के बिना न सांसारिक उन्नति होसकती है न आत्मिक। इस कारण जो कर्मों से बचते हैं वह कोई यज्ञ अर्थात् साधन नहीं निभा सक्ते और इसीलिये उनकी न लौकिक उन्नति होसक्ती है न पारलौकिक। (५) जो यज्ञों अर्थात् कर्मों के द्वारा मोक्ष पाने की चेष्टा करता है वही कभी न कभी सिद्धि पाकर ब्रह्म की पदवी अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। जो इस मार्ग पर नहीं चलता, वह आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। (६) यज्ञों की बची हुई सामिग्री को अमृत कहते हैं। यहां यज्ञों के प्रसाद अर्थात् उनके फलों के उपभोग करने का आशय है। (७) बहुत से यज्ञों अर्थात् साधनों में थोड़ा या बहुत धन अवश्य लगता है, इसलिये वह द्रव्यमय अर्थात् धनके यज्ञ कहलाते हैं। जो यज्ञ अर्थात् साधन केवल बुद्धि पर निर्भर होता है वह "ज्ञान यज्ञ" कहलाता है। तिलक महाराज ने "परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर उस ज्ञानके अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति करलेने के इस मार्ग या साधन", को ज्ञान-यज्ञ बताया है, परन्तु हमारी तुच्छ मति में ज्ञानयोग ही को "ज्ञान यज्ञ" समझना चाहिये। इसके ३ कारण हैं (क) अकर्त्ता भाव से कर्म करना योग या युक्ति का परम ध्येय है। (ख) योग का उद्योग इसी भाव या बुद्धि में समाप्त होता है अर्थात् इस भाव के पाने के बाद किसी अन्य कर्म या साधन की आवश्यकता नहीं रहती। (ग) इसी ज्ञान की महिमा पहिले अध्यायों में कथन होती आई है। इन्हीं के आधार पर हमें यह प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग ही को याज्ञिकोंकी परिभाषा का उपयोग करके "ज्ञान यज्ञ" का नाम दिया गया है। (८) आत्मिक उन्नति के इन साधनों का ज्ञान प्राप्त करने, उनके विधि विधान को जानने, उन में से अपनी योग्यता और स्वभाव के लायक साधन को छांटने और उसका अभ्यास कराने के हेतु मनुष्य को ऐसे गुरु की जरूरत होती है जो इन सब बातों को जाननेवाला और इनका उपयोग करके इनके तत्त्व का भेदी हो। कोई मनुष्य गुरु से शिक्षा पाये बिना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि गुरु के बिना शिक्षा अधूरी रहती है। योग वसिष्ठ में लिखा है कि दूसरे के बताये बिना ज्ञान चित्त में स्थिर नहीं होता। कारण यह कि अपनी बुद्धि पर पूर्ण विश्वास नहीं हुआ करता और शिष्य की योग्यता देखकर जितनी अच्छी शिक्षा गुरु देसक्ता है उतनी अच्छी शिक्षा वह आप नहीं पासक्ता। इसी लिये तुलसीकृत रामायण में कहा है –

"बिनु गुरु कि होइ ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु", और
"गुरु बिनु भव निधि,तरै न कोइ" ॥

कबीर जी ने भी यही कहा है :–

(दोहा) "वहे वहाये जात थे, लोक वेद के साथ। पंडा में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ॥" (६) जो जिस मार्ग पर चलकर उस का भेदी वनजाता है, वही वहा के लिये अच्छा अगवानी वनसकता है। जिस गुरु को आप ही ज्ञान न हो, जो आप ही तत्व दर्शी न हो, वह अपने शिष्य को क्या सिखा सकता है ? इसलिये गुरु उसी को वनाना चाहिये जो ज्ञान में भरपूर हो और साथ ही तत्व वेत्ता हो। उस को गुरु वनाने से वह अपनी ज्ञान रूपी पूंजी शिष्य के आगे रखदेता है। जो आप ही अंधा है वह दूसरे अंधे को कुएं में गिरने से नहीं वचा सकता। जिसके ज्ञान नेत्र खुले हों, वही दूसरों को ज्ञानमार्ग वताने के योग्य होता है। (१०) जो ज्ञान और तत्व को पा लेता है और उन के सिद्धान्तों पर चलता है वह कभी मोह म नहीं फंसता। (११) जब कर्मयोग निवहा कर मनुष्य अकर्त्ता भाव प्राप्त करलेता है और अहंकार छूटकर बुद्धि स्थिर व शुद्ध हो जाती है, तब ही उसको सव प्राणी मात्र में एक ब्रह्म का प्रकाश दिखाई देने लगता है। जिस ब्रह्म को वह अपने भीतर देखता है वही उसे सब में दीख पड़ता है। इसी ' सर्वमयी भगवान 'के कारण उस के जी से अपने पराये का सब भेद मिट जाता है अर्थात् ' आतमा सो परमात्मा" उस के हेतु सत्य हो जाता है। देखो अध्याय ६ भजन न० ५८ व अध्याय ७ भजन न ६८। (१२) मनुष्य इसी "सर्वमयी भगवान" के ज्ञान से जीव और ब्रह्म के भेद को दूर कर देता है अर्थात् मोक्ष पा लेता है। इसी मोक्ष पाने को 'भवसागर से तरने" का नाम दिया जाता है। जो आवागमन से मुक्त हो जाता है वही वैतरनी नदी पार करने वाला कहलाता है। यह वैतरनी मनुष्य की अपनी देह है। देह रुधिर थूक, हाड, मास, चाम आदिक की वनी हुई है। जीव जव तक कि आवागमन में रहता है इसी में गोते खाता रहता है। जहां मोक्ष पाई वहीं यह नदी पार हुई। इस नदी को पार करनेके लिये ज्ञान योग रूपी नाव की आवश्यकता होती है। जो इस नाव पर चढ़ जाता है वह निश्चय ही पार उतर जाताहै। किसी मनुष्य को कभी निराश नहीं होना चाहिये चाहे वह कितना ही पापी क्यों न हो। यह वात ज़रूर है कि पाप में फसकर वह धर्म मार्ग से जितनी दूर चला जाता है उस को उतनी ही अधिक कठनाई और समय लगता है। (१३) यहां जो यह सिद्धान्त वर्णन है कि ज्ञान अग्नि सव कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है और मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी वनाती है, इस का क्या अर्थ है ? इस विषय में टीकाकारों में मति-भेद है। कर्म-सन्यास मार्ग के अनुयायी कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करके कर्मों का विलकुल त्याग देना कर्मों को भस्म करदेना है। कर्मयोग के अनुयायी यह मानते हैं कि ज्ञान योग साधन करके अर्थात् निष्काम वुद्धि व अकर्त्ता भाव रखे से कर्मों का कर्मत्व यानी वन्धन टूट जाता है और यह ही कर्मों का भस्म होना है। हमारी मति में पिछला अर्थ गीता के सिद्धान्ता के अनुकूल है और मुण्डक उपनिषद् से भी इसी का अनुमोदन होताहै। ज्ञान का अर्थ है ज्ञान योग अर्थात् अकर्त्ता भाव से कर्म करना। यही इस अध्याय का विषय है। इस

कारण इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिये। जब कर्त्ता से कर्त्तापन का गुण जाता रहता है, तब उस कर्त्ता को अकर्त्ता मानना ही उचित है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्मज्ञान होने पर अविद्या का नाश होजाता है और उसके नाश होने पर कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। अध्यात्म ज्ञान के इस वाक्य को भक्ति मार्ग वालों की परिभाषा में इस भांति वर्णन किया जाता है कि परमेश्वर ही कर्म करने की बुद्धि देता है और वही फल दाता है इस लिये जो परमेश्वर का कर्म पात्र बनकर उसी के निमित्त कर्म करता है, वह भक्त कभी कर्म से दूषित नहीं होता। कर्म कराने की जिम्मेवारी उसी की होती है जो कर्म कराता है। देखो अध्याय १८ श्लोक ६१ (भजन न० १३७)।

(भजन न० ४५ श्लोक ३८-४२)

[ज्ञानयोग से मोक्ष की प्राप्ति]

तर्ज— कैसे बेदर्दों से पाले पड़े हैं।

ज्ञानी बनें जिन की (१) श्रद्धा बड़ी है। जिन्हों ने निज इन्द्रियां जीती पड़ी हैं॥१॥
उन्हें (२) शान्तिप्रद राज निश्चय मिलेगा। सजी ज्ञान (३) सैनाएं जिनकी खड़ी हैं॥२॥
मिले (४) योग की सिद्धिता से स्वयं यह। कहाँ वस्तु (५) उज्वल नयामों पड़ी है॥३॥
(६) अश्रद्धा से वह नष्ट होते हैं अर्जुन। जिन्हें (७) मोह संदेह देते तड़ी हैं॥४॥
(८) न लोक और परलोक उनके लिये है। न उनके लिये कोई सुखकी घड़ी है॥५॥
करें दूर सदेह जो ज्ञान द्वारा। बने जो मनुज (९) योग की कोठड़ी हैं॥६॥
हुआ (१०) आतमा का जिन्हें ज्ञान पूरा। नहीं कर्म उनके लिये (११) मकड़ी हैं॥७॥
उड़ा (१२) ज्ञान-तलवार से मोह का सिर। कि संशय इसी पर भरें चौकड़ी हैं॥८॥
स्थिर योग में रह "विमल" इसलिये तू। प्रारम्भ कर रण कि (१३) सैना खड़ी है॥९॥

टिप्पणी।

(१) ज्ञानयोग या अकर्त्ता भाव के प्राप्त करने के लिये दो मार्ग हैं (क) कर्मयोग जिस का उल्लेख पिछले भजन में हुआ (ख) श्रद्धा अर्थात् विश्वास सहित इन्द्रिय-निग्रह कर के भक्ति करना जिसका कथन इस भजन में है। गीता-उपदेश का यही महाशय है। इस में कर्म-योग, ज्ञानयोग और भक्ति को संग संग बढ़ाने की शिक्षा दी गई है। (२) जो ज्ञानयोग प्राप्त कर के दुनिया के सब बंधनों को तोड़ डालता है, वह ही सच्चा शान्ति पद अर्थात् मोक्ष का धाम पाता है। (३) ज्ञानयोग रूपी सैना लेकर जो मनुष्य पाप रूपी शत्रुओं को जीतता है वही मोक्ष का अधि

कारी होता है। (४) कर्मयोग का साधन कर के अर्थात् सर्व कर्मों को परमेश्वर के अर्पण कर के करने से अवश्य भक्ति प्राप्त होती है (५) भक्ति भाव की महिमा अकथनीय है। केवल भक्त ही इस की महानता को जानते हैं -

'विमल'' भक्ति महिमा भला, कौन कथन कर पाय।
जब मीरा के कन्ठ में, विष अमृत हो जाय॥

(६) भक्ति से विमुख होने वाला और कर्मयोग को त्यागने वाला कर्म-बन्धन में पडे रह कर अपना नाश करता है क्योंकि यह दोनों ही मोक्ष के साधन हैं। (७) सदेह अर्थात् दुविधा में फँसी हुई बुद्धि यह निश्चय करने योग्य नहीं रहती कि कौनसा कर्म करने योग्य है और कौनसा नहीं। कर्मयोग और भक्ति इस दुविधा को दूर करते हैं। इस कारण मोक्ष की प्राप्तिके हेतु सदेह का दूर होना और कर्म-योग व भक्ति का धारण करना अवश्यक है। इसी लिये रामायण में कहा है -

"मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ अनुराग"

(८) प्रसिद्ध कहावत है कि "दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम"। कारण यह कि लोक और परलोक दोनों को बनाने के लिये स्थिर बुद्धि की आवश्यकता होती है और दुविधा रखने वाले की बुद्धि कभी स्थिर नहीं हो सकती। (९) यह कथन कर्मयोग से ज्ञान योग पाने वालों के विषय में है। (१०) यह कथन भक्ति द्वारा ज्ञानयोग पाने वालोंके विषय में हैं। (११) जो भक्ति द्वारा भेद भाव मिटा कर 'आत्मा सो परमात्मा" के मानने वाले बनजाते हैं, या जो कर्म-योग से कर्म बन्धन तोड कर अपनी आत्मा में सदा प्रसन्न रहते हैं (देखो भजन न० २४) और कर्मों को अकर्त्ता भाव से करते हैं उन के हेतु कर्म मकडी की समान जाला तन कर बन्धन में डालने वाले नहीं रहते। कारण यह कि कर्म करते हुये भी उन की लौ परमात्मा में लगी रहती है। उन के लिये कबीर जी का यह वाक्य सत्य हो जाता है —

(दोहा) "सुमरन की सुध यों करे, ज्यों गागर पनिहार।
हाले डोले सुरत में, कहे कबीर विचार॥"

(१२) ज्ञान योग अर्थात् अकर्त्ता भाव से मोह छूट जाता है, इस लिये ज्ञानयोग को धारण कर के मोह का खण्डन करना चाहिये। (१३) बारम्बार अर्जुन को योग के साथ युद्ध के लिये कहना यह प्रकट करता है कि गीता का उद्देश कर्म-सन्यास सिखाना नहीं है बल्कि कर्म-योग की शिक्षा देना है। यदि सन्यास का प्रचार करना होता, तो अर्जुन को इतने उपदेश देने की आवश्यक्ता न होती क्योंकि उस समय पर अर्जुन स्वयं ही कर्म-सन्यास की पालना करना चाहता था।

पाचवें अध्याय का सार ।

तीसरे अध्याय में सकाम कर्म से निष्काम कर्म को उत्तम बताया गया है, चौथे अध्याय में कर्म को अकर्त्ता भाव से करना उस से भी श्रेष्ठ कहा गया है, इस अध्याय में यह कथन किया गया है कि—

(१) कर्म—संन्यास अर्थात् कर्म को छोड़ देना और ज्ञानयोग अर्थात् कर्म को अकर्त्ता भाव से करने का मूल एक ही है। इन में कोई भेद नहीं है। काम्य कर्म (सकाम कर्म) और ज्ञान (सांख्य) में विरोध है पर निष्काम कर्म और ज्ञान में केवल नाम मात्र ही भेद है क्योंकि इन दोनों का भाव भी एक है और फल भी एक। रूप में जो नाम मात्र भेद है उस पर पूर्ण दर्शी कुछ ध्यान नहीं देता। जो अन्तर समझते हैं वह ज्ञानी नहीं। कबीर जी ने कहा है कि।

(दोहा) सांख्य योग दो मानना, है अहिवल का काम
कहने मात्र हि जानिये, सांख्य योग दो नाम "।

(२) कर्मयोग और सन्यास मार्ग में जो भेद माने जाते हैं वह यह हैं—

(क) कर्मयोगी वैराग्य या निष्काम बुद्धि से कर्म करने में इन्द्रिय-निग्रह समझते हैं, सन्यासी कर्म के छोड़ देने में (ख) सन्यासी कर्म को दुःख-मय मानते हैं, कर्मयोगी कर्म को अचेतन मान कर दुःख का कारण कर्त्ता की भावना को बताते हैं। वह इसी लिये स्वयं कर्म को दोषमय नहीं मानते।

(ग) सन्यासी कर्म की आवश्यकता चित्त की शुद्धि हो जाने तक समझते हैं, योगी इस के पीछे भी लोक-सग्रह के हेतु इस की ज़रूरत मानते हैं। (घ) सन्यासी यज्ञ आदिक को केवल गृहस्थआश्रम में कर्त्तव्य मानते हैं, योगी उन को सदा शुभ गिनते हैं। (ङ) सन्यासी केवल पेट पालने के कर्म को सन्यास में बुरा नहीं मानते योगी किसी निष्काम कर्म को भी बुरा नहीं समझते। (च) सन्यासी लोक-सग्रह को कर्त्तव्य नहीं मानते इस लिये वह जनक सरीखों को अप-वाद स्वरूप मानते हैं, योगी उस को कर्त्तव्य समझते हैं इस लिये जनक आदिक को प्रमाण मानते हैं। (छ) सन्यासी चित्त की शुद्धि को पाकर गृहस्थ आश्रम का त्यागन उचित जानते हैं, कर्म योगियों के मत में यह अनुचित है (ज) संन्यासी केवल दम शम का पालन करते हैं योगी सारे निष्काम कर्मों का।

इन सब भेदों पर विचार करने से विदित होता है कि यह भेद बहुत तुच्छ साम्प्रदायिक भेद हैं, मूल दोनों का एक ही है।

(३) कर्म सन्यास का अर्थ है "कर्म का त्याग देना " ज्ञान योग का "अकर्त्ता भाव से कर्म करना "। इस लिये दोनों में कर्त्ता अपनी जान में अकर्त्ता रहता है।

इस भांति विचार करने से ज्ञात होता है कि इन में भेद है ही क्या ? सच पूछो तो बिना योगी बने कोई सन्यासी हो भी कैसे सकता है ?

सच्चा सन्यास यही है कि कर्म करे, पर उस से सम्बन्ध न रक्खे अर्थात् रूप वैरागी का न हो मन वैरागी जरूर हो। सन्यास-मार्ग में ज्ञान को प्रधान माना जाता है परन्तु यह ज्ञान भी बिना कर्म के नहीं होता। कर्मयोग में कर्म प्रधान है पर यह भी ज्ञान पूर्वक किया जाता है इस से परिणाम यह निकलता है कि दोनों मार्गों में भेद भाव मानना व्यर्थ है।

(४) मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से सन्यास और कर्मयोग दोनों बराबर हैं पर यह विचार करते हुये कि कर्मयोग में लोक-सग्रह बना रहता है इस को उत्तम समझना चाहिये। योग वशिष्ट में लिखा है कि ससार की बीमारी का विष अगर दूर हो सकता है तो योग ही से हो सकता है।

(५) जो परमात्मा का अंश इस मनुष्य-देह में "जीवात्मा" या "पुरुष" या 'जान' के नाम से वास करता है और मनुष्य के जीवन का कारण है वह कोई कर्म नहीं करता अर्थात् कर्म से स्वतन्त्र है। यह देह जो प्रकृति से बनी है कर्म कराती है। मोह और अज्ञान से मनुष्य जीवात्मा या पुरुष को कर्त्ता मानता है।

(६) यह सन्यास-योग या ज्ञानयोग उस साधन से प्राप्त हो सकता है कि जिस को "सुरत साधन" या 'त्रिकुटि ध्यान" या "सून्य ध्यान" या 'युक्ति" या "सहज अवस्था" कहते है। इस साधन का फल यह होता है कि मनुष्य समदर्शी हो कर अर्थात् सब जीवों को समान जान कर परम आनन्द में मग्न रहता है। वह इस आशा में नहीं रहता कि मुझे मरने पर इस के द्वारा मुक्ति मिलेगी बल्कि वह जीते जी मुक्त हो जाता है।

(७) इस सुरत साधन करने वाले अर्थात् जीवन मुक्तपुरुष के जो जो लक्षण होते हैं, वह इस अध्याय के १६ – २८ श्लोकों में बताये गये हैं। योग वशिष्ट में भी उन के इसी प्रकार के गुण लिखे है। रामायण में संतों के लक्षण भी ऐसे ही वर्णन किये गये है।

पांचवां अध्याय--संन्यास योग

(भजन नं० ४६ श्लोक १-७)

[योग और सांख्य की एकता]

दोहा—जब सुन ली इतनी कथा, बोले अर्जुन राव ।
कर्मयोग और सांख्य में, किस का उत्तम भाव ॥

चौपाई

बोले यह सुनि कृष्ण मुरारी । सुन अर्जुन यह बात हमारी ॥१॥
मोक्ष मार्ग हैं यह दोनों ही । उत्तम योग-होत है फिर भी ॥२॥
समता राखि कर्म जो करता । दुख सुख और ध्यान नहिं धरता॥३॥
हुई कामना जाकी दासी । योगी होत वही संन्यासी ॥४॥
योग सांख्य दोनों के माहीं । पण्डित भेद बतावत नाहीं ॥५॥
दोनों बीच एक फल आवे । परम धाम दोनों से पावे ॥६॥
सांख्य मनुज को दे जो पदवी । कर्मयोग से मिलती वह ही ॥७॥
योग सांख्य जो एक बतावे । सत्य दर्श वह पुरुष रखावे ॥८॥

सोरठ—जानि एक जो लेत, आतम अपनी और की ।
कर्म दोष कब देत, वा निर्मल निष्काम को ॥

छन्द

इस सांख्य का मिलना कठिन है योग जब लग ना सने ।
वह ब्रह्म की पदवी गहे जो श्रेष्ट मुनि योगी बने ॥
है कर्म का करना उचित मन शुद्ध करने के लिये ।
इस के विना कैसे "विमल" नर साँख्य का अमृत पिये ॥

टिप्पणी

(१) यहां भी दोनों साधनों का स्वतन्त्र मार्ग कहा गया है (यह नहीं

कि कर्म-योग को सांख्य का साधन कहा हो) (२) मोक्ष देने के लिये दोनों समान हैं परन्तु योग लोक-संग्रह का लाभ मोक्ष से उपरान्त रखता है इस कारण यह उत्तम है। (३) सांख्य का अर्थ यहां तत्व या आत्मा का ज्ञान है कपिल देव जी के सांख्य शास्त्र का सकुचित अर्थ यहां नहीं लिया जा सकता। (४) सत्यदर्शी यह पक्षपात नहीं करता कि सन्यास कर्म योग से या कर्म योग सन्यास से विशेष है, बल्कि वह यह जानता है कि दोनों स्वतन्त्र रीति से मोक्ष दायक होने के कारण समान बल वाले हैं (५) जो सांख्य योग अर्थात् आत्म-ज्ञान द्वारा या कर्म योग के द्वारा सर्वमयी भगवान का ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसमें कामना बाकी नहीं रहती, किंतु वह अकर्त्ता भाव पाकर कर्म बन्धन से छूट जाता है और निर्मल हो जाता है (६) सांख्य मार्ग में भी चित्त की शुद्धि के लिये पहिले कर्म योग साधना पड़ता है। इसी लिये सन्यास को चौथा आश्रम ठहराया है। (७) मनन करने वाले मुनि को भी सर्वथा निवृत्ति मार्ग लाभकारी नहीं होता। प्रवृत्ति मार्ग की सहायता थोड़ी बहुत अवश्य लेनी पड़ती है। बिना इसके सफलता नहीं होती।

(भजन नं० ४७ श्लोक ८--९)

[तत्व ज्ञानी का अकर्त्तापन]

तर्ज—गंगा माई तार देगी तार।

नहीं कुछ कर्म मैं करता

युक्त[1] पुरुष जो भी हो जावे, तत्व ज्ञान[2] वाको जब आवे,।

जी में वह यह धरता ॥ १ ॥

कहना, सुनना[3] और देखना, नेत्र खोलना, और मीचना।

इन इंद्रिन को परता ॥ २ ॥

खाना चलना और सूंघना, है इन्द्रिन का विषय भोगना,।

जो कभी नहीं टरता ॥ ३ ॥

ग्रहण[4] स्पर्श[5] विसृजन[6] करना, लेना श्वास " विमल " अरु सोना,

इन बिन नाहीं सरता ॥ ४ ॥

टिप्पणी

(१) युक्त=जो युक्ति अर्थात् कौशल से कर्म करे। कर्म योगी। (२) अध्यात्म ज्ञान। (३) यह सब इन्द्रियों के कर्म वर्णन किये हैं। जीभ का कर्म

कहना, कान का सुनना, नेत्रों का देखना, हाथ का ग्रहण करना, चर्म का स्पर्श करना, मल व मूत्र के स्थानों का मल व मूत्र त्याग करना, मुख का खाना, पांव का चलना, नाक का सूंघना और सांस लेना। (४) हाथ से पकड़ना (५) छूना (६) मल व मूत्र त्याग करना।

(भजन न० ४८ श्लोक १०-१२)

[योगी की कर्म-दोष से मोक्ष]

तर्ज—पिया बिन रतियां हमारी कटें ना।

फन्द में पापों के योगी फसे ना।

जो तत्व ज्ञान सहित कर्म योग करते हैं, ।

असंग भाव से जो कर्म भोग करते हैं।

प्रभू को कर्म समर्पण जो लोग करते हैं, ।

कमल समान विषय-जल वियोग करते हैं।

उन्हें तो कर्मों से बन्धन लगे ना॥ १॥

जो काम त्याग पवित्र अपना मन बनाते हैं, ।

जो छोड़ काम नहीं वासनायें ध्याते हैं।

जो कर्म देह से निर्वाह को कराते हैं।

कभी वह हानि नहीं कर्म से उठाते हैं।

मोक्ष में उन की "विमल" कोई फँ ना॥ २॥

टिप्पणी

(१) अध्यात्म ज्ञान रख कर। सब वस्तुओं का मूल जान कर (२) निष्काम बुद्धि से (३) इश्वर के नाम पर अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करके (४) जिस भांति कमल जल में रह कर जल से नहीं भीगता, उसी भांति कर्म-यागी विषय को भोग कर उस में लिप्त नहीं होता। (५) कामना (६) इन्द्रियों के जो जो कर्म जगत् में जीवन व्यतीत करने के हेतु करने पड़ते हैं अर्थात् जिन के किये बिना नहीं सरता, उन को वह निवाह के हेतु करता है। (७) ऊपर कई बार उल्लेख हो चुका है कि जिस कर्म को निष्काम बुद्धि या अकर्ता भाव से किया जाता है वह हानिकारक नहीं होता क्योंकि कर्म में आप कोई दोष नहीं। दोष कर्त्ता की बुद्धि से उत्पन्न होता है (८) मुश्किल।

(भजन न० ४६ श्लोक १३-१५)

[पुरुष का अकर्त्ता भाव]

तर्ज़—बीडी बनाय खवावे हो ललिता ।

पुरुष न कर्म[१] करावे ना करता

वह राजा[२] नौ द्वार पुरी का, सुख से वशी[३] अरु असंग[४] हो बसता ॥ १ ॥

प्रभु[५] कुछ नाहीं करता कराता, कर्म[६]-फल संग परस्पर ना फसता ॥ २ ॥

होत स्वभाव[७] ही जड कर्मन की, पुण्य[८] अरु पाप से न्यारा वह लसता ॥ ३ ॥

ढक लेत यह अज्ञान ज्ञान[९] को, भ्रम में या सों "विमल" वह फसता ॥ ४ ॥

टिप्पणी

(१) काशी नाथ जी त्र्यम्बक आदि टीकाकारों ने "पुरुष" का अर्थ "परमात्मा" किया है परतु हमारी मति में इस का अर्थ "जीवात्मा" होना चाहिये । कारण यह कि अब तक बराबर यही उपदेश होता चला आ रहा है कि मनुष्य को अकर्त्ता भावसे कर्म करना चाहिये । इस पर यह शका हो सकनीहै कि जब जीव को प्रकृति आधीन कर्म अवश्य करना पडता है (देखो तीसरा अध्याय) और सचित कर्मों के फलानुसार उस को कर्म करने पड़ते हैं, तब मनुष्य किस प्रकार उन के दोष से बच सकताहै अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध किस भाति बदल सकताहै । इस का उत्तर यहा यह दियाहै कि जीवात्मा अकर्त्ता गुण रखताहै । उस के अन्तर-गत रह कर और उस का अकर्त्ता गुण धारण करके अकर्त्ता भाव से कर्म करने का यत्न करना चाहिये । इस के द्वारा वह कर्म बंध से छूट कर धीरे धीरे मुक्त हो सकता है (२) जीवात्मा को राजा से और देह को नौ दरवाजे वाली नगरी से उपमा दी है । देह के नौ द्वार यह हैं —

मुख, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नथने और मल व मूत्र के स्थान । कठोपनिषद् में नाभि और कपाल को मिला कर ग्यारह द्वार बताये हैं (३) इन्द्रियों का वश में करने वाला (४) मन में सन्यास रखने वाला अर्थात् जी में किसी से सम्बन्ध न रखने वाला । जिस तरह राजा सब प्रजा को जीत कर सुख से राज करता है इसी तरह जीवात्मा इन्द्रियों को अपने आधीन कर के सुख पाता है (५) ईश्वर निर्गुण ब्रह्म है । वह कर्म करने कराने से रहित है । जीवात्मा उसी का अंश है, इस लिये वह भी वही गुण रखता है ।

(६) ईश्वर किसी विशेष मनुष्य के हेतु कर्म और उस का फल निश्चित नहीं करता । उसने जो नियम बांध दिये हैं उन के अनुसार जैसे कर्म वह करताहै वैसे फल भोगता है । वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि पुरुष के आगे प्रकृति अपना

यह सारा खेल (जिस का नाम सृष्टि है) रचाती है । पुरुष उस का तमाशा देखता है। परन्तु जब वह भ्रम से प्रकृति के कर्म को अपना कर्म समझने लगता है तब ही उस के हेतु बन्धन उत्पन्न हो जाता है। जब यह भ्रम छूट कर उस को फिर यह ज्ञान हो जाता है कि मैं प्रकृति के आधीन नहीं हूं बल्कि निर्गुण और अकर्त्ता हूं, तब उस की मोक्ष हो जातीहै । सांख्य मत वाले पुरुष और प्रकृति दोनों को स्वतन्त्र मानतेहैं। इस लिये उनके मत में पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध टूट जाना ही पुरुष की मोक्ष कहलाती है (७) मनुष्य का स्वभाव उस के पहिले किये हुये कर्मों से इस प्रकार का बनताहै कि जिसमें वह अपने उन कर्मों का फल भोग सके। इस लिये कर्म स्वभाव के अनुसार होते हैं। स्वभाव को प्रकृति या कर्म-चक्र कहने का भी यहीं कारण है। (८) जब ईश्वर किसी से कर्म नहीं कराता और न कर्म-फल का संयोग कराता है, तब उस पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि मनुष्य के किसी कर्म का फल उस मनुष्य के लिये सुख दायी या दुःख दायी होने के कारण वह पुन्य या पाप का भागी होता है। सुख दुःख मनुष्य अपने कर्मोंके फल से पाताहै। ईश्वर का इसमें क्या दोष है ? अज्ञानी मनुष्य से जब कोई काम बिगड़ जाता है तो ईश्वर को दोष देकर कहते हैं कि हरि इच्छा से ऐसा हुआ,। जब काम सभल जाता है तो अहंकार से कहते हैं कि हमारे परिश्रम से काम बन गया। (६) अज्ञान ही मनुष्य को उस भ्रम में डाल देता है जिस के कारण वह अकर्त्ता ईश्वर और उस के अंश अर्थात् अकर्त्ता जीवात्मा को कर्त्ता मानने लगता है नहीं तो सच बात यही है कि प्रकृति का स्वाभाविक गुण कर्म करना और ईश्वर या आत्मा का गुण अकर्त्ता रहना है। मोह से मनुष्य प्रकृति के कर्म को आत्मा या ईश्वर का कर्म मानने लगता है।

(भजन न० ५० श्लोक १६--१७ व २१-२६)

(जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण)

तर्ज—देखियो बहिनों यह कैसी कैसी नारी हम में थीं।

नष्ट जिस का आत्मा के ज्ञान से अज्ञान है
दीप्त हृदय में उसी के ब्रह्म रूपी भान है ॥ १ ॥
बुद्धि निष्ठा और मन हों जिस किसी के ब्रह्म में।
पाप का आवागमन का नष्ट उस को ध्यान है ॥ २ ॥
पाय सुख जो आत्मा में इन्द्रिय-भोगों से बचे।
युक्तिमय वह ब्रह्मयोगी नित्य सुख की खान है ॥ ३ ॥
इन्द्रियों के भोग से बचता है वह जो जानता।

खानि दुख की भोग झूठा कोई दिन मेहमान[9] है ॥ ४ ॥

काम का अरु क्रोध का जो वेग[10] जग में ले उठा।

कर्म योगी अरु सुखारी[11] वस वही इन्सान है ॥ ५ ॥

आत्मा दर्शी बने जो, होय आतम में सुखी।

ब्रह्म भी घट में जलाये ज्योति[12] जब तक मान है ॥ ६ ॥

नाश करके पाप जिस ने दुविधा[13] अपनी दूर की।

जग हितैषी[14] और ऋषि[15] जो युक्ति में बलवान् है ॥ ७ ॥

काम त्यागे क्रोध छोड़े और जो होवे वशी[16]।

उक्त यति[17] अरु ब्रह्मज्ञानी[18] को "विमल" निर्वान है ॥ ८ ॥

टिप्पणी।

(१) जब मनुष्य को निर्गुण आत्मा का सच्चा स्वरूप और अकर्त्ता भाव मालूम हो जाता है तब वह यह जान लेता है कि आत्मा निर्गुण ब्रह्म का अंश और स्वरूप है (२) ब्रह्म का स्वरूप उस को ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है जैसे सूर्य का प्रकाश सर्व साधारण मनुष्यों को। इस गति पर पहुंच कर वह जीवन्मुक्त कहलाता है (३) वह मार्ग जिस को कोई मनुष्य अपने विश्वास से मुक्ति दायक मानता है (४) दूसरे अध्याय में जिस को स्थिर प्राज्ञ कहा गया है उसी को यहां जीव मुक्ति का नाम दिया है। वहां यह भी वर्णन हो चुका है कि स्थिर प्राज्ञ या, जीव मुक्ति की बुद्धि इन्द्रियों के आधीन न होकर आत्मा को दिन और जगत् को रात समझती है अर्थात् ब्रह्म का भानु रूपी प्रकाश उस के जी को भाता है और वह उस ही में लवलीन रहता है। उस की निष्ठा ब्रह्म होता है अर्थात् वह ईश्वर में लय हो जाने ही को मोक्ष मानता है। उस का मन ब्रह्म में ऐसा लगा रहता है कि वह आत्म (ब्रह्म) ही के घाट पर जागरण करता है और किसी और तरफ चलायमान नहीं होता। उसी बात को यहां दूसरी परिभाषा में दर्शाया है। (५) दूसरे अध्याय (भजन २१) में यह भी आचुका है कि ब्रह्मज्ञानी आत्मा से जो सुख या आनन्द पाता है वह कहीं और नहीं पासकता। इसी आनन्द के भोगने के लिये ईश्वर "एकोऽहं बहुस्याम्" (एक हूं बहुत हो जाऊं) के संकल्प से सब प्राणियों को पैदा करता है। अज्ञान से मनुष्य प्रकृति के गुणों से पैदा होने वाले झूठे सुखों के स्वाद में फंस कर इस सच्चे सुख को भूल जाता है (६) भजन १३ में इन्हीं को मात्रास्पर्श के दुःख सुख कहा है, क्योंकि बाहरी पदार्थों के स्पर्श से इन्द्रियां उन को भोगती हैं (७) कभी नाश न होने वाला

आनन्द। (८) मात्रास्पर्श के दुःख सुख नाशवान होते हैं। आत्मा का आनन्द आत्मा की तरह अविनाशी होता है। (९) भजन १३ में भी यही कहा गया है कि मात्रास्पर्श के दुःख सुख अनित्य हैं अर्थात् सदा रहने वाले नहीं। जिस प्रकार झूठा आदमी अपनी बात बदलता रहता है उसी तरह मात्रास्पर्श के दुःख सुख बदलते रहते हैं। जो आज सुख होता है तो कल दुःख और परसों फिर सुख, और जिस भांति मेहमान सदा किसी के घर नहीं रहता उसी भांति दुःख सुख भी नहीं रहते। (१०) गल्वा या जोर। जिस का मन कामनाओं से चलायमान नहीं होता, जो विघ्न पड़ने से क्रोधित नहीं होता, वही कर्म योगी और सुखी होता है। भावार्थ यह है कि कोरे ज्ञानसे मोक्ष नहीं होती। कर्मयोग, इन्द्रिय-निग्रह और भक्ति द्वारा आत्मज्ञान ऐसा सम्पूर्ण और प्रभाविक होना चाहिये कि मन बुद्धि आदिक पर प्रभावशाली हो कर कर्म में उस को बिलकुल असंग रक्खे तबही मोक्ष हो सकता है। निरे ज्ञान होते हुये भी इन्द्रियां ज्ञानी को हर लेती हैं। (११) सुखी (१२) जीवन्मुक्ति जब तक देह धारण किये रहता है, तब तक ब्रह्म की ज्योति उस में जगमगाती रहती है, जब देह छोड़ देता है, तब ब्रह्म में लय हो जाता है। (१३) बुद्धि में दृढ़ता और स्थिरता न होने का नाम दुविधा है। यह अज्ञान और काम्य बुद्धि का लक्षण है। जब मनुष्य कर्म योगी हो जाता है तो उस की बुद्धि स्थिर हो जाती है। देखो भजन १८। (१४) जीवन्मुक्ति लोग लोक-संग्रह के लिये अर्थात् जगत् में साधारण मनुष्यों की शिक्षा के हेतु प्रमाण बनकर सब का भला करते हैं यहां तक कि दधीचि ऋषि ने राजा इन्द्र को अपनी हड्डियां तक भी खुशी से दे दी थीं। वह कभी किसी का बुरा नहीं चाहते। (१५) उस का मन स्थिर और दृढ़ रहताहै। संकल्प विकल्प से वह कदाचित नहीं डिगमगाता। (१६) मन को जीतने वाला (१७) इन्द्रियों को जीतने वाला (१८) मोक्ष या परम गति।

(भजन नं० ५१ श्लोक १८-२०)

[जीवन्मुक्त का समता भाव]

तर्ज—तोता जाइयो रे कन्हैया बीडी पान की।

अर्जुन समता गुण है कुंजी मोक्ष द्वार की

हो स्थिर जाके मन में समता, बाजी वह जीते संसार की ॥ १ ॥

वा की पंडित, पतित मनुज पर, होती है दृष्टि एक तार की ॥ २ ॥

कूकर, हाथी, गाय, सभी की, उसे गति लागे सम प्रकार की ॥ ३ ॥

ब्रह्म भाव निर्मलता समता, दें गति यह ही नराकार की ॥ ४ ॥

अडिग होत जब अचल बुद्धि यह, गति करें स्थिर करतार की ॥५॥

द्वन्द्व अपना वह "विमल" मिटाये, सुख दुख को धार हो कटार् की ॥ ६ ॥

टिप्पणी ।

(१) मोक्ष प्राप्त करने के हेतु अकर्त्ता भाव और निष्काम बुद्धि का होना जरूरी है और बुद्धि स्थिर वा निष्काम नहीं हो सकती जब तक कि ममता दूर होकर समता न आये, अर्थात् जब तक किसी से प्रीति और किसी से वैर भाव मौजूद रहते हैं तब तक निष्काम बुद्धि और मोक्ष कहाँ ? (२) ससार की बाज़ी जीतना जगत् में बार बार जन्म लेने से छूट जाना अर्थात् मोक्ष पाना है। (३) गिरी हुई पदवी का मनुष्य या नीच आदमी। जीवन्मुक्त में ऊंच नीच का भेद भाव नहीं होता। (४) क्या मनुष्य और क्या अन्य जीव सब में उस को ब्रह्म ही का प्रकाश दिखाई देता है, फिर भला उसको सब कैसे समान न दिखाई दें ? (५) ब्रह्म का सच्चा स्वरूप निर्गुण है। सृष्टि के सारे जीवों पर उसकी समान दृष्टि होती है। (६) जब तक निर्मलता और समता जो ईश्वर के गुण हैं मनुष्य को प्राप्त नहीं होते वह उस में लय नहीं हो सकता। (७) दूसरे अध्याय (भजन १८-१९) में आचुका है कि सकाम बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती और निष्काम में कभी चचलता नहीं आती, इस लिये बुद्धि निष्काम और स्थिर होगी तब ही यह अडिग होकर ईश्वर के ध्यान में लवलीन रहेगी और उस से परम गति अर्थात् मोक्ष मिलेगी। (८) पिछले भजन में और दूसरे अध्याय में यह कथन हो चुका है कि सुख दुःख द्वन्द्वता से उत्पन्न होते हैं कारण यह कि जिस पदार्थ को हम प्रतिकूल मानते हैं वह हमको दुःखदायी और जिस को अनुकूल समझते हैं वह सुखदायी जचती है। यदि यह द्वन्द्वता हम में न रहे कि हम एक को प्रतिकूल और दुसरे को अनुकूल मानें तो हमको दुःख सुख भी व्याप्त न हों, इस लिये निर्द्वन्द्वता अर्थात् समता दुःख सुख को कटार की समान काटने वाली है। स्मरण रहे कि समता का भावार्थ यह नहीं है कि हम सब को एक लकड़ी से हांकें बल्कि समता इसका नाम है कि निर्पक्ष होकर जैसा बरताव किसी के सग उचित हो वह किया जाये। जिसको अपना प्यारा या मित्र जानें उसके सग एक तरह का बरताव करना और जिस को शत्रु या वैरी मानों उसके संग दूसरी तरह बरताव करना ममता कहलाता है और इसका विपरति भाव अर्थात् ममता का न होना समता भाव।

(भजन नं० ५२ श्लोक २७-२९)

(जीवन्मुक्त पुरुष के साधन)

तर्ज—मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई।

सदा कौन युक्त मुक्त दू तूझे बताई

भौंह बीच दृष्टि राख स्पर्श को हटाई,
प्राण अपान सम बना नाक से चलाई ॥१॥
साध लेत इन्द्रियें चित्त बुद्धि अपनी,
छोड़ देत क्रोध भीति वासना छुटाई ॥२॥
तप व यज्ञ भोगता ईश सर्व हितैषी,
जोई मोंहि एव चिन्हे "विमल" मुक्ति पाई ॥३॥

टिप्पणी

(१) जीते जी भी और मरने के बाद भी (२) कर्म योगी (३) यह साधन सुन्य ध्यान या त्रिकुटि ध्यान कहलाता है। इस में दृष्टि को भौंहों के बीच में ठहरा कर मन इन्द्रिय और बुद्धि के कर्मों को रोका जाता है और प्राण अपान दोनों का बराबर करने का यत्न किया जाता है। इस के अभ्यास से चित्त की चंचलता रुक कर एक प्रकार की शान्ति उत्पन्न होने लगती है। धीरे धीरे अभ्यास पूर्ण होने पर जो आनन्द आने लगता है वह वर्णन नहीं हो सकता। केवल इसका साधन करने वाला ही उस को जानता है। इसी साधन को सुरत साधना या सहज अवस्था भी कहते हैं। इस के बिना हृदय के पट नहीं खुलते। जो बिना इस के किये ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह उस आनन्द को नहीं पहुंचते। श्री रामचन्द्र जी ने भी राम गीता में इसके साधन करने की शिक्षा दी है। (४) बाहर के पदार्थों अर्थात् मात्राओं से जब तक स्पर्श (छूना) अर्थात् मेल नहीं होता, कोई इन्द्री कर्म नहीं करती। इस लिये स्पर्श से हटना सब इन्द्रिय को ऐसा शिथिल बना लेना है कि मात्राओं के प्रभावसे इन में कर्म की प्रेरणा नहीं होती, जैसे गर्मी में गर्मी सर्दी में सर्दी न लग कर वस्त्र पहिनने या उतारने की इच्छा उत्पन्न न हो, या कानों को शब्द सुनने पर भी इसी प्रकार खबर न हो जैसे सुना ही नहीं इत्यादि। श्री मद्भागवत पुराण में जो दत्तात्रेय जी ने अपने चौबीस गुरुओं की कथा वर्णन की है, उस में तीर बनाने वाले की कथा इसी अभ्यास का दृष्टान्त है। (५) अन्दर जाने वाले और बाहर आने वाले श्वास प्राण, अपान कहलाते हैं (६) चाल में दोनों श्वास सम अर्थात् बराबर हों। (७) श्वास मुख का बन्द रख कर केवल नाक के द्वारा आना जाना चाहिये। (८) वह मन को ऐसा वश में कर लेता है कि मन में किसी कर्म करने की चाहना नहीं होती जिस के हेतु बुद्धि को काम में लाये और इन्द्रियोंके द्वारा उसे कराये। इस लिये किसी काममें विघ्न पड़ने या किसी वस्तु के जाते रहने से उस को क्रोध नहीं होता, न किसी मिली हुई वस्तुके जाते रहने का भय और न किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की कामना।

(६) वह ईश्वर ही को सब कर्मों का ग्रहण करने वाला और उन का फल देने वाला जानता है। इस लिये वह किसी और देवता का सहारा नहीं ढूढता। साथ ही वह ईश्वर का और उस के अंश अर्थात् आत्मा को केवल भोगता (भोगने वाला) मानता है। उसको कर्त्ता नहीं समझता वल्कि अकर्त्ता जानता है। इस लिये आप भी अकर्त्ता बन कर मोक्ष पाता है। १० सब का मालिक ईश्वर (११) बिना किसी प्रयोजन के सब से हित करने वाला। ईश्वर के इस गुण को जान कर वह आप भी सर्व हितकारी बनता है (देखो पिछला भजन), क्योंकि वह अपने आप को ईश्वर ही की ज्योति मानता है। जब मनुष्य को ईश्वर के गुणों का इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है और वह ज्ञान प्रमाणिक होकर उस से यह लक्षण धारण करा देता है तब मनुष्य की मोक्ष होती है।

छटे अध्याय का सार।

पिछले अध्याय में सांख्य और योग को एक ही बतला कर सुरत साधन को इन्द्रि मन और बुद्धि के वश में करने का साधन कहा गया है। इस अध्याय में उसी बात को फिर दोहरा कर कि सांख्य और योग दोनों का मूल एक ही है, मनको वश में करने के लिये एक दूसरे उपाय का उल्लेख किया है क्योंकि मन बुद्धि और इन्द्रियां जब तक वश में नहीं होतीं कर्म योग पूरा नहीं हो सकता। दूसरा उपाय बतान का कारण यह है कि सुरत साधन से जो शान्ति प्राप्ति होती है वह देर तक स्थिर नहीं रहती। इस दूसरे उपाय का प्रभाव देर तक बना रहता है। यह दूसरा उपाय पातञ्जलि के योग शास्त्र से लिया गया है और ' नासाग्र " कहलाता है। इस से उपरान्त इस अध्याय में यह वर्णन किया है कि-

(१) योग का धारण करना मनुष्य का परम धर्म है।
(२) यह योग "नासाग्र" अभ्यास से (जिस की विधि श्लोक ११-१४ में बताई गई है और जो पातञ्जलिके योग शास्त्र से ली गई है) धारण करना आजाता है।
(३) इस ' नासाग्र " अभ्यास का साधन केवल वही मनुष्य कर सकता है जो अपने सब कर्म युक्ति (एतदाल) या योग्यता से करता हो अर्थात् इन्द्रियों से सब कर्म ठीक ठीक प्रकार से करता हो। जैसे जब खाना खाय तो इतना खाय कि जितना देह के निर्वाह के हेतु ज़रूरी हो। न इतना ठूंस कर खाय कि पेट फूल जाय और पीड़ा उत्पन्न हो जाय, न इतना कम खाय कि दुर्बल हो कर काम काज करने के योग्य न रहे। जब सोवे तो इतना सोवे कि जितनी नींद लेने की शरीर को आवश्कता हो। न इतना सोये कि सोते सोते सुस्ती और आलस्य छा जाय और न इतना कम सोय कि निद्रा न भरनेसे रोग खड़ा हो जाय और चित्त ठिकाने न रहे इत्यादि। इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियों से काम ले और मन की वासनाओं और चंचलता को रोकता रहे।

(४) नासाग्र अभ्यास का यह फल होता है कि योगी इन्द्रिय-निग्रह प्राप्त करके समता भाव और शान्ति की शक्ति कमा लेता है। बुद्धि के शुद्ध और स्थिर हो जाने से अनुभव या विज्ञान हो जाता है जिस से ऐसा परमानन्द मिलता है कि वह भारी से भारी शरीरक पीड़ा पाने पर भी इस योग को न छोड़ कर इस में अडिग रहता है।

(५) यह योग साधन यदि एक जन्म में पूर्ण न हो अर्थात् इस में विघ्न पड़ जाने से अधूरा रह जाय तो भी इस साधन का परिश्रम निष्फल नहीं जाता, बल्कि इस साधन के फल से उसका स्वभाव ऐसा बनता है कि अगले जन्म में

भी उस का जी इसी साधन के पूरा करने में लगता है। वह इस प्रकार जन्म जनमान्तरों में यत्न करते करते इस साधन में सिद्धि प्राप्त कर लेताहै। इसी नियम के कारण हम देखते हैं कि कोई कोई मनुष्य किसी विशेष गुण या विद्या में जन्म से ही बडा निपुण होता है। इसी प्रकार यत्न करते करते वह अन्त में मोक्ष गति पाता है।

(६) आत्म सयम अर्थात् आपे को वश में करना और मन वा इन्द्रियों की चचलता को रोकना बड़ा कठिन कामहै। इसके बिना न योग साधन हो सकता है न मोक्ष। परन्तु परिश्रम करने वाला अवश्य सफलता पाता है (७) सारी तपस्याओं, सब ज्ञानों, व्रतों और पूजा पाठ आदिकों में योग की पद्धी सब से उत्तम है क्योंकि इस से न केवल अनुभव होता और मोक्ष मिलती है बल्कि लोक सग्रह भी साथ के साथ होता है। यदि इस में भक्ति का रग दे दिया जाय तो फिर क्या ही कहना है। भक्ति की चाट मे योगी बहुत जल्दी पूर्ण अवस्था को पहुच जाता है।

छटा अध्याय—आत्म संयम योग

(भजन ५३ श्लोक १–७)

(संन्यास का सत्य रूप)

दोहा—फल की इच्छा त्याग के, कर्म करे जो कोय।
वो ही सन्यासी बने, वो ही योगी होय ॥

चौपाई

धर्म कर्म अरु हवन उडाना । होत नहीं सन्यास धराना ॥
सन्यासी को जान न त्यागी । सन्यासी का मत वैरागी ॥
मन से जो सन्यास निभावे । योगी अर्जुन वही कहावे ॥
जब सकल्प बीच जी होवे । नहीं कदाचित योगी होवे ॥
जो मुनि योग करत है धारण । वा को कर्म कहावे कारण ॥
पर जब वह योगी पद पावे । फिर शम ही कारण बन जावे ॥
जिन सकल्प त्याग कर दीन्हा । नाहीं जो इन्द्री आधीना ॥
योग वीच जो दृढता पावे । "रूढ" वही योगी कहलावे ॥

सोरठा —"विमल" मान अपमान, सरदी गर्मी चैन दुख ॥
वा को एक समान, जा के वश में चित्त है ।

छन्द

यह चित है अपना रिपू यह चित्त अपना यार है ।
इस चित्त से है डूब अपनी चित्त से उद्धार है ॥
जो योगधारी चित्त हो तो चित्त ही से हेत है ।
जो चित्त हो कामी "विमल" बन कर रिपू दुख देत है ॥

टिप्पणी

(१) अपने आपे को वश में करना (२) पिछले अध्याय में भी कहा जा चुका है कि योग और सन्यास में कुछ मूल भेद नहीं है। मनुस्मृति में लिखा है

कि गृहस्थी को यज्ञादिक धर्म के कर्म करना और अग्नि होत्री (हवन करने वाला) होना ज़रूरी है। परतु सन्यास-आश्रम में इन की आवश्यक्ता नहीं है। गीता के अनुसार मनुस्मृति का बताया हुआ यह सन्यास सच्चा सन्यास नहीं बल्कि संयास का सच्चा लक्षण कर्म योग है। (३) कामना रखने वाली 'वर्हि'। योग वशिष्ट में भी इस सकल्प ही को बन्धन का कारण और इस के त्याग को मुक्ति का कारण बताया है (४) जिस मुनि अर्थात् मनन करने वाले को कर्म योगी होने की इच्छा होती है, वह कर्म ही के द्वारा योगी बनता है अर्थात् कर्म उस को योगी बनाने का कारण या साधन होते हैं। या यों कहो कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होने से पहिले उस के कर्म का भाव यह होता है कि वह योगी (कर्म कुशल) बन जाय। (५) जब वह मुनि (मनन करने वाला और शास्त्र पर विचार करके साधनों की तदबीर करने वाला) योगी की पदवी पालेता है और कर्म-योग साधन से योगी बन जाता है तब भी वह कर्म करता है,परतु इस सिद्ध अवस्था में उसके कर्म का भाव बदल जाता है। अब कर्म उसके हेतु कारण या साधन न रह कर उसका शम (मन की शान्ति) उसके कर्मों का कारण या सबब हो जाता है अर्थात् वह कर्म को अपने हेतु नहीं करता किन्तु लोक-सग्रह को कर्त्तव्य मान कर शान्ति से उन को करता है। श्री कृष्ण जी ने जो चित्त रूपी काली नाग का नाथन करके दिखाया वह औरों ही के लाभ के हेतु किया गया था। उन का मतलब यह था कि ब्रज रूपी जगत् की कर्म रूपी यमुना में नहाने वालों को इस नाग का वश में करना आजाय। यहा भी गीता के उपदेश में इसी कारण कर्म की प्रधानता प्रकट की गई है (६) जिस को सिद्धि मिल गई हो अथातु जो पूर्ण योगी हो। (७) पूर्ण योगी होने का यह फल होता है कि उस का चित्त वश में हो जाताहै और द्वन्द्वता दूर हो जाती है। इस लिये उस को इस बात की परवाह नहीं रहती कि मुझे अपना धर्म या कर्त्तव्य पालन करने से नेक नामी मिलेगी या बदनामी होगी। सरदी गर्मी उठानी होगी या दुःख सुख। कष्ट या अपयश के भय से वह अपने कर्त्तव्य की पालना करने से नहीं रुकता। इसी भाव को १६ वें अध्याय में "देव भाव" बताते हुये 'अभय" (निर्भयता) कहा है। (८) इस छन्द का भावार्थ यह है कि योगी होना और सिद्धि प्राप्त करना मनुष्य के अपने वश की बात है जैसा कि भजन नम्बर ३२ में बताया जा चुका है। पुरुषार्थ अर्थात् यत्न करने ही से प्रारब्ध अर्थातु भाग्य बनता है। उसी के अनुसार कर्म उत्पन्न होकर मनुष्य को सिद्धि या असिद्धि दिलाते हैं। इस मनुष्य-देह में एक तरफ इन्द्रिया विषय-भोगों में फसाकर बन्धन में डालने वाले कर्म कराती हैं दूसरी तरफ आत्मा मोक्ष की प्रेरणा कर के अकर्त्ता भाव से निष्काम कर्म कराना चाहता है। जो आत्मा की मान कर इन्द्रियों को वश में रखता है वह योगधारी ऐसा करने से अपना हित करता है। जो कामनाओं में जी को फसाता है वह आपे से वैर लेकर बन्धन के दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने ही चित्त से डूब और उद्धार होते हैं। जिस का

चित्त डुबोने के काम कराता है वह शत्रु (चित) और जिस का तरनो कराता है वह मित्र (चित्त) कहलाता है।

(भजन न० ५३ श्लोक ८–९)

(मुक्त योगी के लक्षण)

तर्ज —प्रभू नाम जपो रे भाई, चिन्ता और शोक गंवाई।

जाये ज्ञान अरु विज्ञान आया, वह योगी युक्त कहाया।
जिस ने आप जितेन्द्री बन कर, अपना काम दबाया।
वाको पत्थर माटी सोना, सब एक ही माया ॥ १ ॥
सोहृदय मित्र उदासीन शत्रु अपना और पराया।
साधु विचोई पापी वा से, पावे यकसां आया ॥ २ ॥
जिस ने त्याग द्वन्द्व का करके समता भाव निभाया।
जिस की ऐसी दृष्टि उसी को उत्तम "विमल" बताया ॥ ३ ॥

टिप्पणी

(१) सर्व सृष्टि में एक ही ईश्वर के समाये रहने की समझ। (२) निर्गुण ब्रह्म से नाना प्रकार की नाशवान पदार्थ वाली सृष्टि की उत्पत्ति की विधि का ज्ञान। (सातवें अध्याय से इसी ज्ञान विज्ञान का विस्तार आरम्भ होगा) (३) वह कर्म योगी जिस को कर्म युक्ति या कौशलता आती है। जब तक ज्ञान विज्ञान जी में घर नहीं करता उस वक्त तक कर्म योग का साधन पूरा नहीं होता इस लिये योगी जब ही युक्त होता है कि जब उसको ज्ञान विज्ञान आजाता है। (देखो भूमिका में 'गीता के मूल नियम' और " गीता के शिक्षा तत्व ") (४) इन्द्रियों को जीतने वाला। (५) कामना। (६) जो बिना किसी स्वार्थ या बदले की चाहत के किसी से प्रेम करता हो। (जैसे माता) (७) जो बदले की चाहत रख कर दोस्ती करता हो। (८) जो न मित्र हो न शत्रु। (९) योगी अपने जी में यह निश्चय कर लेता है कि —

दोहा—'तू मत जाने बावरे मेरा है सब कोय।
पिण्ड प्राण से बंध रहा, सा अपना नहिं होय ॥'

(१०) जिस को सब एक समान हैं। (११) ममता से विपरीत भाव (जिस में दुःख सुख, मान अपमान, यश अपयश आदिक भावों का भेद होता है)।

(भजन नं० ५४ श्लोक १०-१४)

[पातञ्जल योग या नासाग्र अभ्यास की विधि]

तर्ज़—अजब हैरान हु भगवन तुम्हें क्यों कर रिझाऊं मैं ।

उचित है योगधारी को बराबर योग ध्याये वह ।
मिटा आशा व तृष्णा को विजय आपे पे पाये वह ॥ १ ॥
जहां कि स्थान हो अच्छा जहां ऊंचा न नीचा हो ।
वहां चादर कुशा आसन व मृग छाला विछाये वह ॥ २ ॥
करे एकाग्र वह मन को दबाये चित्त इन्द्रिन को ।
कि इस अभ्यास के द्वारा पवित्र आपा बनाये वह ॥ ३ ॥
अचल काया बनाये और सिर गर्दन रखे सीधे ।
वहां एकान्त में आसन धनञ्जय यों जमाये वह ॥४॥
कगर पर नाक की अपनी जमाये दृष्टि वह अर्जुन ।
कहीं इत उत नहीं देखे न मन अपना डुलाये वह ॥५॥
करे वश में सभी इन्द्री रहे वह शान्त अरु निर्भय ।
ब्रह्मचारी बना रह कर न जी अपना लुभाये वह ॥६॥
रहे वह युक्त आतम से करे संयम सदा अर्जुन ।
लगन मेरी रखे हर दम सदा ही लौ लगाये वह ॥७॥
"विमल" इस भांति जो धारण करे इस योग का साधन ।
परम निर्वाण पदवी फिर भला कैसे न पाये वह ॥८॥

टिप्पणी

(१) स्मरण रहे कि इस सारे भजन में "योग" शब्द का अर्थ "पातञ्जल का बताया हुआ योग" या नासाग्र अभ्यास है । (२) जितने दिन तक यह अभ्यास किया जाय उतने दिन बराबर किया जाय बीच में नागा नहीं होनी चाहिये । कहते हैं कि बहुत कर के यह साधन छै महीने में आजाता है । (३) चित्त के लगने या न लगने में स्थान का प्रभाव भी जरूर होता है । इसी कारण योगी तीर्थादिक रमणीक स्थानों में जाकर वास करते हैं । (४) स्थान के बहुत

ऊंचे या बहुत नीचे होने का भी इसी भांति प्रभाव पड़ता है। बिछौना बिछाने की आज्ञा भी इसी कारण दी गई है। तात्पर्य इन सब बातों का यह है कि अभ्यास करने वाला आराम से इस तरह और ऐसी जगह बैठे जहां किसी प्रकार की बेकली या उलझन न हो क्योंकि उस का काम जभी बनता है कि जब

दोहा—" नयनों की कर कोठरी, पुतली पलग बिछाय।
पलकों की चिक डरि के, लेवे पिया रिझाय ॥

(५) इस अभ्यास से चित्त को एकाग्र करने की शक्ति आती है। इस लिये यह अभ्यास ईश्वर में ध्यान जमाने ही की शक्ति नहीं देता है बल्कि यदि किसी सांसारिक पदार्थ की प्राप्ति के हेतु इसको किया जाय तब ही इस से सफलता होती है। परन्तु ऐसे उत्तम साधन को ऐसे नीच भाव से करना अच्छा नहीं है। इसी लिये यहां कहा गया है कि इस साधन को अपनी शुद्धि और ईश्वर में मन जमाने के हेतु करना चाहिये। इस अभ्यास की उत्तमता यह है कि इस में यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रतिहार, धारना, ध्यान, समाधि, अष्टांग भूमि सब ही मौजूद हैं। (६) निर्द्वन्द्व। जिस को उचित कर्म करने में किसी बात का भय न हो (७) ब्रह्मचर्य धारण करने का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य सन्यास-आश्रम ही में सारा जीवन व्यतीत कर देवे बल्कि वीर्य को धर्मानुकूल संतान की उत्पत्ति से उपरान्त किसी भोग विलास की इच्छा से खर्च न करना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। (८) एकाग्र हो कर आत्मा ही से अपना सम्बन्ध रक्खे। (९) आपे को वश में करना।

(भजन नं० ५५ श्लोक १६-१७)

[योग अभ्यास में युक्ति की आवश्यता]

तर्ज—दही वाली का तौर दिखाना।

योग मांहि वह पूर्ण उतरता -
जगना, सोना, खाना, पीना, योग्यता से सभी जो करता।
सब निहार में और अहार में, योग्यता जो जो धरता॥
दुख वाके "विमल" योग हरता ॥ १ ॥

टिप्पणी

(१) पातञ्जल-योग या नासाग्र अभ्यास। (२) जिस में निम्न लिखित युक्ति हो (३) कौशलता से अर्थात् ठीक २ प्रकार से। (४) मन के प्रसन्न रखने वाले पदार्थों में। जब तक युक्ति अर्थात् योग्यता से कर्म कर के मन प्रसन्न नहीं रहता, कोई काम अच्छी तरह नहीं होता। इस लिये योगी के हेतु विहार और आहार

(भोजन) में युक्ति अर्थात् योग्यता को काम में लाने वाला होना आवश्यक है। (५) इस अभ्यास से योग्यता के कारण कोई रोग या पीड़ा नहीं होती। मन में शान्ति आ जाती है। इस लिये शारीरक वाचक और मानसिक दु ख बाकी नहीं रहते।

(भजन न० ५६ श्लोक १८--२३)

[योग का स्वरूप]

तर्ज़—तुम कौन बशर हो कहाँ से आये क्या है तुम्हारा नाम ?

जो योग[१] माहिं आनन्द आय वह कहीं नहीं आवे।
यह इन्द्रिय याहि भोग न जानें बुद्धि विलसवावे ॥१॥
ज्यों बिना पवन के लौ दीपक की सीधी बन जावे।
यों सुरत साधने वाला योगी भी स्थिरता[२] पावे ॥२॥
यह योग साधना अर्जुन मन माहीं स्थिरता लावे।
अरु आतम से संतुष्ट[३] होय के आतम हर्षावे ॥३॥
जो स्वाद जान ले या का वाको कछू नहीं[४] भावे।
वह कभी तत्व से डिगे नहीं दुख उसे न विचलावे ॥४॥
जो दुख से कर के वियोग होय दृढ़[५] सदा इसे ध्यावे।
वह इन्द्रिय[६] रोकन हारा अर्जुन योगी कहलावे ॥५॥
जब सयम करके मन आतम माहीं स्थिर हो जावे।
अरु त्यागे इच्छा जभी "विमल" वह "युक्त[७]" नाम पावे ॥६॥

टिप्पणी

(१) पिछले भजन में यह कहा गया है कि पातञ्जल–योग अर्थात् नासम अभ्यास सब दु खों को दूर करता है। अब इस से आगे बढ़ कर यह बताया है कि यह दु ख ही दूर नहीं करता बल्कि ऐसा आनन्द और सुख देता है जो वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि यह आनन्द अगोचर(इन्द्रियों से सूचित न होने वाला) है। उस का अनुभव मनुष्य के अन्दर होता है यही कारण है कि ऐसे योगी गूगे का गुड़ खाये बैठे रहते हैं। वह आनन्द में लवलीन रहते हैं और उस आनन्द को जीभ कथन नहीं कर सकती। योग– समाधि की सच्ची उपमा दीपक की लौ है। जिस तरह

पवन न होने से दीपक की लौ सीधी चढ़ जाती है इसी तरह समाधि लगाने वाला योगी वासना रूपी पवन को रोक के मन रूपी लौ को स्थिर बना देता है। (३) जब यह अगोचर आनन्द जिस का उल्लेख ऊपर हुआ, योगी को प्राप्त हो जाता है तब वह मात्रा स्पर्श से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों की परवाह न करके अपने आप में आप ही सन्तुष्ट अर्थात् मग्न रहता है। (४) जिस को यह रहस्य मालूम हो जाता है कि मात्रा स्पर्श के सुख दुःख आत्मा के आनन्द के आगे तुच्छ हैं वह मात्रा स्पर्श के दुखों की परवाह न करके सच्चे आनन्द से इसी भांति नहीं डिगता जिस भांति हथौड़ी की चोट से अहरन नहीं डिगता। (५) मनुष्य सच्चा योगधारी तब ही होता है कि जब मात्रा स्पर्श के दुःख सुख (जिन को भजन १३ में नाशवान बताया है) उस के नजदीक निर्मूल हो जाते हैं और वह उनके बखेड़ों से अलग रह कर बराबर योग में लगा रहता है। कारण यह कि इन्द्रियां उस के वश में हो जाने से उस को कोई दुःख मालूम नहीं होता और वह बिना किसी विघ्न के दृढ़ता से अपना अभ्यास निबाहे जाता है। (६) आपे का वश में करना। मन स्वभाव से ही चंचल है। जब वह योग से वश में आजाता है और विषयों के फन्दे से निकल कर, आत्मा के आनन्द को जान लेता है, तब उस की चंचलता मिट जाती है और वह स्थिर हो जाता है। (७) वह कर्मयोगी जो कौशलता अर्थात् योग सहित निष्काम कर्म करता है। भावार्थ यह है कि जब किसी न किसी साधन के द्वारा मन वश में हो जाता है तभी कर्म योग में सिद्धि प्राप्त होती है।

(भजन नं० ५७ श्लोक २४-२८)

[योग अभ्यास के हेतु उद्योग की आवश्यकता]

तर्ज—माया महा ठगनी हम जानी।

बिन उद्योग योग कर आवे।
दूर वासना सारी करके मन जो जो उपजावे॥
चित्त रोक ले चहुं ओर से मन को वश में लावे॥१॥
बुद्धि धृति संयुक्त बना के निज मन को ठहरावे।
आतम माहीं अचल होय कर चित्त नहीं विचलावे॥२॥
जिधर जिधर को दौड़ दौड़ के यह चंचल मन जावे।
उधर उधर से योगी वाको घेर घेर कर लावे॥३॥
शान्ति चित्त जो बन के मन में नहीं रजोगुण आवे।
ब्रह्मभूत निष्पाप होय जो वोही सब सुख पावे॥४॥
योगी जो साधन कर ऐसा अडिग चित्त यदि पावे।

पाप रहित हो "विमल" सहज में मुक्ति हाथ में आवे ॥५॥

टिप्पणी

(१) पिछले भजन में योग का स्वरूप बताया गया है। यहा योग के हेतु यत्न करने की आवश्यकता कथन की है। यत्न करने का अभिप्राय केवल यह है कि मन की चचलता दूर होकर चित्त में शान्ति आये और इन्द्रिया बुद्धि के आधीन रहें। जब जब योगी का पाव डिगे वह यत्न रूपी लाठी का सहारा लेकर अपने आपे को सभाले (२) धीरज रखने वाली बुद्धि। मन की चचलता तब तक नहीं रुक सकती जब तक कि मन बुद्धि के आधीन न रहे और बुद्धि भी धृति-युक्त (धीरज रखने वाला) न हो। दुःख सुख, यश अपयश आदिक का विचार न कर के आड़े वक्त में भी बुद्धि शुद्ध और स्थिर रहे। (३) मन के सारे सकल्प दूर कर के केवल ईश्वर ही का ध्यान हर समय जी में रक्खे और विषयों से चलायमान न हो। (४) चौदहवे अध्याय में कहा है कि सारे कामना-युक्त कर्म रजोगुण से पेदा होते है। इस लिये जो इस गुण को दबाता है वही कामनाओं को रोक कर चित्त में शान्ति पा सकता है। (५) ब्रह्म का भाव रखने वाला अर्थात् अकर्त्ता या निर्गुण भाव वाला (६) पाप रहित। सच्चा सुख चित्त की शान्ति है। सातों सुख विद्यमान होने पर भी यदि चित्त में शान्ति न हो तो सारे सुख व्यर्थ जाते हैं। चित्त उसी का शान्त होता है जो कर्मों में अलिप्त और पापों से दूर रहने वाला होता है। यही कारण है कि बडे बडे कुकर्मी रात को सोते सोते भी चौंक पडते और बुड़बुडाते रहते हैं और धर्म मूर्ति पुरुष सुख की नींद सोते है। कुकर्मी का चित्त स्वप्न में भी उसे चैन नहीं लेने देता और धर्मात्मा की शान्ति सोते जागते यकसा बनी रहती है। (७) जो काम नियमानुसार होता है उस का पूरा होना सहज होता है, और बेढगे काम में सदा बखेडे होते है। इस लिये भजन ३६ के कथनानुसार जो मनुष्य इन्द्रियों को मन के, मन को बुद्धि के, और बुद्धि को आत्मा के आधीन रखता है उस का धर्म मार्ग सुभीते से कट जाता है।

(भजन न० ५८ श्लोक ३९--३२)

[योगी की समदर्श गति]

तर्ज—अखियां हरि दर्शन की प्यासी।

योगी समदर्शी हो जाये।

आपे में सम्पूर्ण जगत् ही वाके हेतु समाये।
विद्यमान सम्पूर्ण जगत् में अपना आपा पाये ॥१॥

वह जग मो में मो को जग में देखे दृष्टि उठाये।
मैं वा से वह मो से न्यारा नाहीं होने पाये ॥२॥

सब तन में मान मुझे जो योगी मोहे ध्याये।
ऐसा योगी निश्चय अर्जुन मो में लय हो जाये ॥३॥
दुख सुख अपने और पराये सब का भेद मिटाये।
कहत "विमल" जो ऐसा योगी वह उत्तम कहलाये ॥४॥

टिप्पणी

(१) इस भजन में समता को योग का फल बतलाया है। काम भाव अर्थात् ममता का मिटना ही समता है। इस लिये योग से समता प्राप्त होती है और मनुष्य सब को एक निगाह से देखने लगता है। (२) समता भाव आने से "आत्मा सो परमात्मा" का भाव स्पष्ट हो जाता है और मनुष्य अपनी और सब प्राणियों की आत्मा को परमात्मा का रूप जान कर सब जगत् में परमात्मा ही का रूप देखता है। ऐसी गति को प्राप्त करके मनुष्य पर "सर्व मयी भगवान" का अनुभव हो जाता है। (३) इसी अध्यात्म ज्ञान या निर्गुण मार्ग के वाक्य को भक्ति मार्ग की परिभाषा में सर्व जगत् को "ब्रह्म रूप" या "ब्रह्म का प्रकाश" और "ब्रह्म का हृदय में बसना कहते हैं। ऐसे भाव वाला भक्त ईश्वर में सदा ऐसा लीन रहता है कि ईश्वर से वह न्यारा नहीं हो सकता। (४) जब योगी को अपने आपे समेत सारा जगत् एक ही ईश्वर का रूप दिखाई देता है, तब वह भेद-भाव दूर करके अपने और पराये के विचार को त्याग देता है। यही कारण है कि वह सर्व हितकारी होता है। जब अपनी मोक्ष के लिये कर्म की जरूरत नहीं रहती, तब वह औरों को शिक्षा देने के हेतु कर्म करता रहता है, क्योंकि वह अपने और पराये का भेद न रखने के कारण औरों के मोक्ष पाने की जरूरत को अपनी जरूरत समझता है। ऐसे जीवमुक्त या स्थित प्राज्ञ को यहां योगी का नाम दिया गया है। इसी भाव के आधार पर यह नियम बताया है कि यदि यह निर्णय करना हो कि कौन सा कर्म करने योग्य है और कौन सा नहीं, तो पहिले शुद्ध बुद्धि से (मलीन बुद्धि से नहीं) यह विचार करो कि यदि कोई और मनुष्य वह ही कर्म तुम्हारे हेतु करे तो तुम को अच्छा लगेगा या बुरा। यदि वह बुरा लगेगा तो वह कर्म करने के योग्य नहीं समझना चाहिये, और यदि अच्छा लगे तो करने योग्य जानना चाहिये।

(भजन नम्बर ५६ श्लोक ३३—३४)

[मन की चंचलता रुकने के विषय में अर्जुन की शंका]

तर्ज—सांवरिया रे काहे मारे नजरिया।

मन वस में यह कैसे हो चंचल

समता जो जड़ होत योग की, वाय न रहने देत अचल ॥१॥
उधम उपद्रव नित्य उठावे, है वलवान महा चंचल ॥२॥
"विमल" असम्भव रुकना याका, नहीं वधे वायू आंचल ॥३॥

टिप्पणी

(१) कर्म योग साधन के हेतु समता का होना आवश्यक है। कारण यह कि सकाम बुद्धि अर्थात् ममता का त्यागन ही कर्म योग का मूल नियम है। (२) मन की चंचलता बड़ी बलवान है। इस का रोकना सहज नहीं है। यदि एक ओर से रोका जाय तो दूसरी ओर को दौड़ जाता है। योग वशिष्ट में इस चंचलता को हवा में उड़ते फिरने वाले पर से उपमा दी है। मन का दवाना बड़ा कठिन है कारण यह कि इस को बहकाने वाली पांचों इन्द्रियां (जो इस के साथ लगी हुई हैं) बड़ी शक्तिशाली हैं। तुलसी दास जी ने इसी लिये कहा है—

दोहा— 'अलि पतंग मृग मीन गज, जरत एक ही आंच।
तुलसी यह कैसे जिये, जाके लागें पांच,, ॥

(३) अर्जुन को यह शंका हुई कि जिस प्रकार वायु को कोई वस्त्र में नहीं बांध सकता उसी प्रकार मन भी वश में नहीं आसकता। इस शंका के समाधान के हेतु जो उत्तर कृष्ण भगवान ने दिया है वह अगले भजन में वर्णन है।

(भजन ६० श्लोक ३५-३६)

[अर्जुन की शंका का उत्तर]

तर्ज—देखो री एक वाला योगी द्वारे हमारे आया है री।

नहीं असम्भव थमाव मन का, विचार यह छोड़ कुन्तिनन्दन।
यद्यपि है वाक्य सत्य तेरा कि मन वड़ा शक्तिमान दुशमन।
तथापि अभ्यास याय जीता वनाय वैराग याय निरञ्जन ॥१॥
यत्न नहीं यदि करे कोउ नर भला कहा वह दवा सके मन।
"विमल" न जो वोय वेल वूटे कभी न फल फूल पाय वह जन ॥२॥

टिप्पणी

(१) यह सत्य है कि मन की चंचलता का रोकना वहती नदी में बन्द बांधने के समान होता है, परन्तु यह असत्य है कि इस का रोकना असम्भव है। (२) नासाग्र आदिक साधनों के अभ्यास से मन को दवाना आसकता है।

यह सत्य है कि कोई सूरमा ही इन्द्रियों को वश में लाने में सफलता पाता है, पर इस से यह परिणाम नहीं निकलता कि इस के हेतु उद्योग ही न किया जाये। दादू जी ने इस विषय में सच कहा है—

दोहा—"काया कठिन कमान है, खैंचे विरला कोय।
मारे पाँचों मृगला, दादू मोरा सोय" ॥

(३) किसी वस्तु से प्रीति या वैर न रखना "वैराग्य" कहलाता है, या यों कहो कि निर्द्वन्द्वता या समता वैराग्य का दूसरा नाम है। रामायण में भी इसी प्रकार कहा है—

चौपाई—"जानिय तब मन विरज गुसाईं। जब उर बल विराग अधिकाई" ॥

(भजन नम्बर ६१ श्लोक ३७-३९)

[अर्जुन का प्रश्न असिद्ध योग के फल के विषय में]

तर्ज़—पिया के लम्बे लम्बे केश—

श्यामय मोहे दो बतलाय।
श्राद्ध जो हो योग में, अरु योगी डिग जाय।
ऐसे योग असिद्ध से, कौन दशा वह पाय ॥१॥
जैसे टुकड़ा मेघ को, आप नष्ट हो जाय।
वह अपना साधन कहा, यों ही व्यर्थ गंवाय ॥२॥
विघ्न पड़े से वह कहा, दोऊ घाटन से जाय।
नाही पहुंचे स्वर्ग में, नाही मुक्ति कमाय ॥३॥
मेरे यह तुम सन्देह तुम मेटो यादव राय।
तुम से भद्रङ्कर हे "विमल" संशय कौन मिटाय ॥४॥

टिप्पणी

(१) विश्वास कर्म योग धारण करने की इच्छा। (२) कोई पाप हो जाने से कर्म योग मार्ग से विचल जाय। (३) अधूरे (४) अर्जुन को यह शंका हुई कि कहीं विघ्न पड़ जाने से सारा परिश्रम अकारथ तो नहीं जाता अर्थात् सकाम कर्मों के त्याग से स्वर्ग की इच्छा न रखने के कारण न स्वर्ग ही मिलता हो और न कर्म योग के अधूरा रहने से मुक्ति ही प्राप्त होती हो। (५) यदुकुल भूषण होने के कारण श्री कृष्ण जी यादव राय भी कहलाते थे।

(भजन नम्बर ६२ श्लोक ४० व ४३-४५)

[योग का फल देश]

तर्ज—यार की कोई खबर लाता नहीं। दम लबों पर है निकल जाता नहीं॥

कर्म बाती बिन जले रहती नहीं। धर्म गाड़ी बिन चले रहती नहीं॥
नाश रूव हों योग का दो लोक में। योग कीजइ बिन फले रहती नहीं॥
कर्म शुभसे मन्दगति होती नहीं। श्रेष्टगति हो बिन मिले रहती रहतीनहीं॥
दूसरे भी जन्म में अभ्यास की। शक्ति कबहूँ बिन फले रहती नहीं॥
पाप रात्री भ्रष्ट जासों होत है। यत्न द्वारा बिन ढले रहती नहीं॥
आंच पाने से अनेकों जन्म की। दाल उस की बिन गले रहती नहीं॥
योग से निश्चय "विमल फिर अन्त में। मोक्ष पदवी बिन मिले रहती नहीं॥

टिप्पणी

(१) श्री कृष्ण जी ने अर्जुन की शंका का यह उत्तर दिया है कि कर्म का फल अवश्य मिलताहै चाहे वह कामना सहित किया जाया चाहे निश्काम बुद्धिसे। अन्तर केवल इतना है कि सकाम बुद्धि से कर्म करने वाले को उस से बन्धन होता है परंतु निष्काम बुद्धि वाला बंधन में नहीं पड़ता। इस लिये जितना योग साधन किया जाता है उतना ही उस का फल होता है। यही नियम भजन १८ में बताया जा चुका है और इसी नियम के आधार पर कहा गया है कि—

चौपाई—"कर्म प्रधान विश्वकर राखा, जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा"

(२) एक जन्म में जो कर्म किये जाते हैं, उन का फल दूसरे जन्म में इस तरह फलता है कि उन कर्मों के फलानुसार उस का स्वभाव बनकर दूसरे जन्म में उस को वैसे ही कर्म कराने की चाहना पैदा कराता है और वह थोड़े से परिश्रम से बहुत जल्दी उन के करने में निपुण हो जाता है। जब किसी बालक में जन्म ही से किसी विद्या या गुण का भण्डार अधिक पाया जाता है, वह इसी नियम के कारण होता है। इसी नियम को इस प्रकार भी कथन करते हैं कि हर एक मनुष्य के साथ साथ हर वक्त एक प्रकाश (जो तेजस् कहाता है) लगा रहता है। इस तेजस् की रंगत मनुष्य के कर्म और विचारों के प्रभाव से बदलती रहती है। जब तक मनुष्य अपने कर्म या विचार का फल नहीं पा लेता तब तक इस कर्म या विचार के प्रभाव का रंग उस तेजस् से दूर नहीं होता। इस तेजस् ही को धर्म-राज जी का दफ़्तर समझना चाहिये। जब तक इस दफ़्तर में कर्म या विचार के

फल का भुगतान नहीं लिया जाता, वह कर्म उस के नाम लिखा रहता है। ऐसी सूरत में कोई मनुष्य कर्म या विचार का फल पाये बिना नहीं रह सकता। (३) मनुष्य धर्म मार्ग में पाप करके जब पीछे हट जाता है, तब पाप जितना अधिक घोर होता है, उतना ही अधिक समय उस का प्रभाव दूर करने में लग जाता है और कई कई जन्म तक इस काम में बीत जाते हैं। स्मरण रहे कि योग वशिष्ट में भी यही प्रश्न रामचन्द्र जी ने वशिष्ट मुनि से किया है और मुनि जी ने इस का बिलकुल यही उत्तर दिया है जो श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को यहां दिया है।

(भजन नम्बर ६३ श्लोक ४०-४७)

[अधूरे योग का फल]

तर्ज—निगाहे यार बदमस्ती में भी हुशियार कैसी है।

अधूरा योग साधन को मनुज जो छोड़ जाता है।
धनञ्जय! पुन्य कर्त्ता का सदा वह लोक पाता है॥१॥
नहीं वह नाश होता है कभी दो लोक में अर्जुन।
भला शुभ कर्म से कोई बुराई कब कमाता है॥२॥
घना उस लोक में रह कर वहां से जब फिरे उल्टा।
किसी शुभ उच्च कुल में वह सदा ही जन्म पाता है॥३॥
कभी वह जन्म लेता है किसी योगी चतुर के घर।
परंतप जन्म दुर्लभ यह बहुत कम हाथ आता है॥४॥
वहां अभ्यास बल से फिर मिले वह शक्ति पहिली सी।
इसी से सिद्ध होने के लिये वह पग बढ़ाता है॥५॥
उसे अभ्यास पहिला खेंच लाता है वहीं पर फिर।
इसी से शब्द वाचक ब्रह्म से वह पार जाता है॥६॥
परिश्रम योग का करके मिटाये पाप जो अपना।
अनेकों जन्म में वह सिद्ध हो कर मोक्ष पाता है॥७॥
तपस्वी कर्म काण्डी और ज्ञानी से बड़ा योगी।
उचित बनना तुझे योगी बड़ा जब वह कहाता है॥८॥

"विमल" इन योगियों में वह पुरुष बस "युक्त"[१०] कहलाये
रहे जो लीन मो में और मम श्रद्धा धराता है ॥४७॥

टिप्पणी

(१) "लोक" शब्द के अर्थ में टीकाकारों में मत भेद है। जो "आवागमन" का अर्थ "पुनर्जन्म" मानते हैं, वह यह अनुवाद करते हैं कि जब कर्म योग का साधन एक जन्म में अधूरा रह जाता है तब मनुष्य की मोक्ष तो नहीं होती, परन्तु उस को पुन्य करने वालों का लोक अर्थात् स्वर्ग मिलता है। जब तक कर्म योग का प्रताप बना रहता है, वह वहा रहता है। जब वह प्रताप निबड जाता है,वह फिर इस कर्म भूमि अर्थात् जगत् में उत्पन्न होता है। वह अपने संचित कर्मों के फल से ऐसे स्थान और कुल में जन्म लेता है जहा उस को अपने पहिले कर्म-योग के अभ्यास को दोबारा आरम्भ करने में सुभीता होता है। अर्थात् बचपन ही से उसे ऐसी शिक्षा मिलती और ऐसा डोल बधता है कि जिस में उस को अपने योग के पूरा करने का अवसर मिलता है। इस के विपरीत जो"आवागमन,, का अर्थ इस प्रकार न करके यह मानते हैं कि जगत् में एक जीव आता है दुसरा जाता है और इसी की नाम" आवागमन" है, वह लोग 'लोक" का अर्थ सगत करते हैं। वह कहते हैं कि एक जीव के बार बार जन्म लेने का नाम "आवागमन नहीं है,या यो कहो कि आवागमन का सम्बन्ध एक जीव से नहीं है, बल्कि जगत् में अनेक जीवों के आने जाने के ताते का नाम है। वह इस भाति टीका करते हैं कि अधूरे योग से ऐसा मनुष्य ज्ञान रूपी जन्म लेकर शुभ कर्म करने वालों की सगत में प्रवेश करता है अर्थात् उस का जन्म ऐसा ही होता है जैसे द्विजमा जातियों में योज्ञपवीत से दूसरा जन्म होता है। उन की मति अनुसार उसके मरने पर उस के योग की शक्ति(जो और शुभ कर्मों के समान सत्वगुण का गुण है) सत्व गुण के भन्डार में जा मिलती है। जब उस भण्डार से अन्य जीव उत्पन्न होते हैं, उन में वह शक्ति अपना प्रभाव दिखलाकर उन की उन्नति जल्दी कराती है। आवागमन के ऐसे अर्थ के आधार पर और और श्लोकों के अर्थ में भी भेद पड जाता है (जैसे अध्याय १४ श्लोक १८ व अध्याय १५ श्लोक ८)। परतु यह अर्थ बहुत से सज्जों को मान्य नहीं है। हमारी मति में भी गीता के अन्य श्लोकों में आवागमन का यह अर्थ पूर्ण रीति से नहीं खिपता है। इस लिये हमने इसको ग्रहण नहीं किया। ऐसा अर्थ करने वाले एक शका और भी उत्पन्न करते हैं, कि जब उस का जन्म उस लोक से उल्टा फिरने पर किसी चतुर योगी के यहा होना बताया गया है, तब यह मानने में कि उसका जन्म किसी लोक में होता है,जन्म का अर्थ देह धरना हो जाता है परतु योगी के घर देह रूपी जन्म कैसे हो सकता है? क्योंकि योगी बनने के हेतु गृहस्थाश्रम का त्याग और सन्यास

आश्रम का धारण करना आवश्यक है। किंतु गीता में योगी के लिये संन्यासी होना ज़रूरी नहीं बताया गया, बल्कि अनुचित कहा गया है। योगी को केवल वैरागी होना चाहिये न कि सन्यासी। आज कल गृहस्थ आश्रम वाले योग साधन नहीं करते इस लिये योगी शब्द का उपयोग किसी गृहस्थी के सम्बन्ध में हम को नई बात मालूम होती है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि योगी गृहस्थाश्रम पालन नहीं कर सकता। स्मरण रहे कि प्राचीन काल में ऋषि मुनि योग अभ्यास करते हुये भी गृहस्थ आश्रम पालन किया करते थे। (२) आठवें अध्याय में बताया हुआ है कि जीते जी जैसा किसी का भाव होता है वैसा ही भाव मरने समय उस के चित्त में फिरता रहता है। इसी अंत काल के भावानुसार इस का अगला जन्म होता है। इस लिये जो कर्म योग की पूर्ण करने की भावना में चोला छोड़ता है, उस का अगला जन्म ऐसे स्थान में होता है जहां वह योग की भावना पूर्ण हो सके। यह भावना ऐसे ही कुल में पूर्ण हो सकती है जहां ईश्वर की दया से माता पिता आदि ऐसी शिक्षा देने वाले होते हैं और जहां ऐसी ही संगत प्राप्त होने का अवसर होता है। अर्जुन (३) इस भाव का मरते समय जी में स्थित रहना बड़ा कठिन है इसी कारण ऐसा जन्म भी दुर्लभ है। (४) आवागमन का यही नियम है कि मनुष्य जैसे जैसे कर्म करके मरता है वैसे वैसे जन्म प्राप्त करता है अर्थात् जो कमाई करके जाता है वही दूसरे जन्म में पाता है। 'अपना लिया दिया सग चलना' इसी का नाम है। इसी के अनुसार योगी का परिश्रम अकारथ नहीं जाता। दूसरे जन्म में पहिले जन्म की अभ्यास-शक्ति इस का स्वाभाविक गुण बन कर उस को योग साधन में सहायता देती है। इसी प्रकार बढ़ते बढ़ते वह योग में सिद्ध हो कर मोक्ष पा लेता है चाहे इस सिद्धि कमाने में उस को अनेक जन्म लगाने पड़ें। जैसे पाठशाला में बालक विद्या ग्रहण करता हुआ एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाता है और अंत में पूरा पंडित होकर पाठशाला छोड़ देता है, इसी प्रकार योगी परिश्रम करते करते अनेक जन्मों में श्रेणियें चढ़ता हुआ पाठ-शाला रूपी जगत् से मोक्ष पालेता है। पहिले जन्म की याद बनी न रहने के कारण हम को इस विषय में शंका होने लगती है परंतु यह भी देखने में आता है कि बहुत से मनुष्य बुढ़ापे में अपनी बीती और जग बीती भूल जाते हैं पर उन के जी पर उनका प्रभाव बना रहता है। यही हाल अगले जन्म में पिछले कर्मों का होता है। इसी प्रभाव के कारण जगत् में मनुष्य मां के पेट ही से न्यारे न्यारे स्वभाव लेकर आते हैं। (५) "शब्द ब्रह्म" का अर्थ मिसेज़ एनी बिसेंट ने "वेद" किया है, बाबू घासी राम ने 'प्रकृति" प० जानकी नाथ मदन ने 'माया-चक्र।" तिलक महाराज और मुन्शी श्याम सुन्दर लाल ने वैदिक यज्ञ यागादि सकाम कर्म"। और प०-हरिनारायण ने "शब्द ब्रह्म से परे जाने का अर्थ, 'ब्रह्म निष्ठा पाना बताया है। हमारी मति में 'शब्द ब्रह्म से पार जाने' का अर्थ सगुण जीव का निर्गुण ब्रह्म में लय होकर मोक्ष पाना है। यह अर्थ हमने किस प्रकार किया इस के जानने के लिये यह

जानना आवश्यक है कि सृष्टि की रचना किस प्रकार होती है। जब सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त निर्गुण ब्रह्म में "एकोऽहं बहुस्याम् (एकहूं बहुत हो जाऊं)" का संकल्प होता है तब एक बड़ा शब्द होता है जैसे रेल चलने से पहिले एन्जिन बोलता है। जब वह शब्द फट जाता है, तब उस में से सूक्ष्म पंच मात्राएँ और पंच माहाभूत क्रमश (सिलसिले वार) निकलते हैं। इनके विकारों से सारी सृष्टि की रचना होती है। इस तरह निर्गुण ब्रह्म सृष्टि के जड़रूपी शब्द द्वारा निर्गुण रूप से सगुण रूप बन कर संसार-चक्र चलाता है। इस लिये जो जीव ब्रह्म के शब्द उत्पन्न करने से पहिले वाली गति अर्थात् निर्गुण गति प्राप्त कर लेता है वह सगुण देह छोड़ कर निर्गुण ब्रह्म में लय होजाता अर्थात् मोक्ष पाता है। इसी गति को यहां "शब्द ब्रह्म से पार जाना" कहा है और पन्द्रहवे अध्याय (भजन १११) में "अश्वत्थ की जड़ काटना"। शब्द वाचक ब्रह्मशब्द की ध्वनि निकालने वालाब्रह्म।

(६) उद्योग। (७) जो मीमान्सक कामनाओं के हेतु कर्म करते हैं (देखो भजन १६) (८) सांख्य मार्ग अथात् सन्यास मार्ग पर चलने वाले (६) कर्म योगी। स्मरण रहे कि पातञ्जल योग अर्थात् नासाग्र अभ्यास और घोर व्रत तपादिक करने वाले को यहां तपस्वी कहा है। इस लिये "योगी" के शब्द में इनका समावेश नहीं है। (१०, कौशल से योग को पूर्ण करने वाला अर्थात् पूर्ण कर्मयोगी। जब कर्म योग के संग भक्ति भाव मिल जाता है तब वह योगी को और श्रेष्ट बना देता है, क्योंकि प्रेम-भाव से बड़ा अन्तर पड़ जाता है। देखो सब के लिये जो एक साधारण पुरुष होता है वह अपने पुत्र की निगाह में पिता का पद रखने के कारण कैसा पूज्य दिखाई देता है। स्मरण रहे कि यहां भक्ति और योग का इस प्रकार मेल करके गीता ने यह प्रतिपादन किया है कि भक्ति और कर्म योग में विरोध नहीं है बल्कि वह परस्पर सहायक है।

❋ इति ❋

संशोधन पत्र ॥

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
४			प्रत्येक नाम केपीछे यह चिन्ह चाहिये(,)
	१२	लीलधर	लीला धर
	१८	घरू	करू
	२०	जगनिवास	जगन्निवास
	२१	वृजनाथ	व्रजनाथ
५	१	मुकन्द	मकुन्द
	३	को (६८)	(६८) को
	११	पूण	पूर्ण
८	२०	निष्ठायों या सम्पदायों	निष्ठाओं या सम्प्रदायों
६	३१	विकुल विलकुल	विलकुल विलकुल
१०	६	निसन्देह	निः सन्देह
	२३	धम	धर्म
११	२६	पाठन	पठन
१५	२६	पातञ्जलि	पातञ्जल
१८	६	सग भाव	सग भाव
	१८	काइ	कोई
२०	१५	कृतघ्नमान	कृतघ्न
२३	१४	इतिहासिक	ऐतिहासिक
२४		कण	कर्ण
		चद्य	चैद्य
		भारद्वाज	भरद्वाज
		अन्धक का पुत्र आहुक	अन्धक का पुत्र दुन्दुभि और दुन्दुभि का [आहुक
२१	६	हेत	हेतु
	१२	पूछू सशय से	कहु को मम आगे
	१३	सशय	सशय
		मैं यह पूछा चाहू से	दूर करा मोरा यह सशय
	१६	मनी दृष्टि यह	कृपा दृष्टि मुझे
	२०	जानसकताहू कथारण भूमि की	सब लगू मैं खोल कर उर झिलमिली
२६	२	कहताहूगा आपसे	फिर ध्यान उस पर दीजिये
	२६	इतिहासिक	ऐतिहासिक

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
२७	७	हा	हो
	२२,२६	दुर्पद	द्रुपद
२८	६	फा	को
	१२	वृष्णि	वृएणी
	२५	भूरिश्रका	सोमदत्त सुत
२६	१	भारद्वाज	भरद्वाज
३०	३	।)	।
	४	।	।)
	१४	हर्षाये	हर्षाय
३१	११	भीमसेनपौडरध्वनिछायो	भीम पौंड अपना कडकायो
	१२	अनन्तजय राजन गृजायो धजायो	भुप अनन्त विजय शब्दायो उमाया
	१४	काशीराजा धनुषाधारी विराट अरु महारथी शिखडी	काशी नृप द्रुपद श्रीयुत ने, अजीत सात्यकि कृष्णा सुत ने
	१५	दुर्पद दुर्पपुत्रसात्यकी	विराट, द्रुपद सुत अद्भुत ने,
	१६	के हृदय	हिरदय पर
		इन तीक्षण शब्दों नेचीरे	पड़े तीर तीक्षण से हो कर
	१७	भरी सब पृथ्वी इन से	गई पृथ्वी इन से भर
	१६	पाहय	पाण्डु
	२५	(६) (७)	[७] [६]
	२८	यह	यह शिखण्डी नामक
३२	७	शत्रु	शत्रू
	२८	बोला यों दुखियाय	बोला यह ही हरि से दुःखियाय
३३	१४	राज	राज्य
	१६	गुरुजन	गरूजन
३४	५	क्षय	क्षय
	१०	गवाई	गँवाई
३७	२५	किसा प्रयाजन	किसी प्रयोजन

संशोधन पत्र ।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
३८	जत्रीमें	मागीव नाते	मागी बनाते
४१	२३	इस की जगह	फिर कौनसा पलड़ा झुके यह हाथ
४२	२१	जानू नहीं	मैं जानू नाहीं [है अव्यक्तके॥
	२२	जीऊ	जिऊ
४	२३	न	नं
	२६	सुर्वी	सूखीं
	२८	हृपिकेश स	हृषीकेश से
	३०	'विमल"	"विमल"
४३	११	होके सयाना रहवे क्यों	जोह हो दीवाना, सयाना क्या
	१२	इस की जगह [न तू	वाक्य ज्ञानमय है तेरा,चित्त मूर्छत २
	१३	नहीं ज्ञान	ज्ञान ही न [ने धरा
	१४	इस की जगह	हुये या कि हो जो खण्डित उन्हें नहीं
	१५	सोचा तुने साचा	विषय वाको,ध्याना [सोचे यदि इत'
	१६	इस की जगह	युद्ध को तैय्यार होतू 'विमल"वाक्य
	१७	जो यही न माना तून	कहाजो न यह भी माना [कोमत खो तू।
	२२	माग	मार्ग
४४	२२	हा	हो
	२५	का	को
४५	२८	जा	जो
	२२	समथ	समरथ
	२६	वाकी	वा की
	२७	अव्यय १६	अक्षय
४६	१५	इसा	इसी
	३२	शक	शोक
	३३	गय	गया
४७	१	कोई	कोई
	१८	आत्म	आत्म का
	२८	छुड	छोड़
४८	२	हुन जा	होन जो
	५	जा	जो

संशोधन पत्र।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	९	ख्यल	ख्याल
	१०	तेरो चिति जीवआतम	चित तेरो जीवातम
	११	इसकी जगह	जीव अव्यक्त है यह याद रह है अचिन्त नहीं यह विकार सहे।
	१२	"	यदि जान इसे शोक तोहे गहे, जीवपर कछु ध्यान दिया ही नहीं ॥१॥
	१३	"	यदि जीव नहीं है अजन्मा अमर, और है आतमा तन पर निर्भर।
	१४		पार्थ होनी अटल का शोक न कर, क्या दृढ़ता पूरण हिया ही नहीं ॥२॥
	१५	"	देह जन्म से पहिले गुप्त रहे दिखलाइ पडे जब कि जन्म लहे।
	१६	"	गुप्त हो जाय फिर जब मृत्यु सहे कभी रुकता यह पहिया ही नहीं ॥३॥
	१७	"	कोउ निरखत याय आश्चर्य मे कोउ गाय सुनाय अचरज से।
	१८	"	कोउ कान लगाय आश्चय मे कोउ सुनकर ग्रहण किया ही नहीं ॥४॥
	१९	सर्वदेहोंमेंदेही हैयह	देही सब देहों में होय
	२०	इसकी जगह	वृथा शोक विमल" काहि चित धरे शोकमें कछु कोउ लिया ही नहीं ॥५॥
	२२	जिस न हो	इस नहीं होता
	२७	केवल दूनों	केवल दोनों
४९	१	दूनों रह	दोनों रह।
	२	कर	कर।
	३	कर।	कर कि
	१,१०	का कठे पनिषद्	को कठोपनिषद्
	३५	हो' को ढाका	कर व्यवहार
५०	१	है तुमे उचित समामा	उर में रण का शुभ माना

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	५	टलेगा	टरेगा
	७	फरेंग	करेंगे
	६-१०	इन सतरों की जगह	मानें ये तोहि बड़ा जो, लघु समझेंगे वह तुझको । जानेंगे महारथी हो, तूने कायरपन धारा ॥५॥
	२७	हुग छाटा	हो छोटा
	३१	वनाता	वनाती
५१	६	इस सतर की जगह	सांख्य मनन्मा दी वतलाई । योग भी सुन ले मन लाई ॥
	६	तेरी	भाई
	१३	इस की जगह	वन्ध कर्मन का कटवाई ॥२॥
	१४	,,	शक्ति दृढ़ता की दिखालये । दोष भ्रम का सब मिट जाये ॥
	१७	,,	नाम वह कर्म काण्ड पाई ॥३॥
	२६	मत	मति
५२	५ २६,३०३६	कम	कर्म
	३४	करता	करती
५३	३	हाता	होता
	१५	वह ही जो भोगन में हो डूबा ॥	वही विषय माहि जो रच जाता ॥
	१६	जाने । इन सा क्य कोई होगा ॥	उस को। नहीं और कुछ मन भाता
	१७	भोग हेत स्वर्ग को ही मान बीच रहता॥	भोगव को स्वर्ग ही के वह मान चक्र पाता ॥
	१८	ही करता	निभाता
	१६	ऐसी २ बातोंने मन ह वहीस्थितनाहीं रहता॥	इस प्रकार की बातों ने मन यहां थिरता नहीं पाता ॥
	२१	का	की
५४	१	लभ योग	लोभ याग

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	२	कि घह	वह
	८	गीत	गति
	१२	कहलाती	कहलाता
	२६	सकाम	सकाम कर्म
५५	४	रह तीनों गुणों से ही	सदा तीनों गुणों से रह
	५,७	नही	नाहीं
	६	सत् कर्म	सत् यह सदा
	८	अरु	अर्जुन
	९	जो घस्तु हैं मल ह	घस्तु जो जो भई मत तू हा
	१०	जो घस्तु मलजीमें कर	वस्तु जो जो कभी मत कर तू
	११	अपना सत्	अपना अरु सत्
	२७	याह्रों	यागों
	२९	कम	कर्म
५६	२	,	"
	३	म ह	मोह
	५,२३	का	को
५७	३७	ऊधो	(ऊधो)
	१७	य ग	याग
	३१	के	से
५८	३	सत्यगुण	सत्वगुण
	९	फीयाडी,लगाने का तू	फुलवारी लगाओ कम-
	१०	कैसी फुलघाडी, न तू यह सोच	किस तरह क्यारी, कभी सींचे न
	१२	पर अपनी	परन्तु
	१४	यहा तो तेरी	यही असशय
	१५	कर अपने कम तू	सभी निज कर्म कर
	१८	स्थिर	अचल
	२२	कम	कर्म
५६	४	जा	जा
	५,२०	कम	कम

संशोधन पत्र ।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	२०	जती ज	जाती जो
	२६	हाता	होता
	३२	इस सतर की जगह	कुशलताई कर्मन माहि, हे अर्जुन योग कहाये ।
	३३	है कर्म अधम ही धनञ्जय	है अधम कर्म के पागे
	३४	जो फलकी चाहिनाराखे	जिसको फल आशा लागे,
६०	१	माहीं ले शरण बुद्धि की तू भी	माहि कर अपनी बुद्धि सुयोगी
	२	इस की जगह	वह नहीं कर्म फल भोगी, जो ऐसी बुद्धि कमाये ॥ १ ॥
	३	चाहना छोडे	चाहत खोवे
	४	वही जन्म बन्ध को तोड़े वही जाये	वह आवागमन न ढोवे वह पाये
	५	इस की जगह	छोड मोह को भाई, तू बुद्धि शरण में जाई ।
	६	"	तव वाणी सुनी सुनाई, मन कभी नहीं विचलावे ॥४॥
	७	"	जब मन निश्चलता पावे, जब थिरता बुद्धि कमाये ।
	८	"	जब तेरा भ्रम मिट जावे, तब योग "विमल" मिल जाये ॥ ५ ॥
	२०	कम	कम
	२८	का	को
६१	२	शषा	शका
	१२	का	का
	२६	स्थितप्रज्ञ की किस तरह	किस विधि से स्थितप्रज्ञ की
	२७	जो स्थितप्रज्ञ हैं दुख	इस्थितप्रज्ञ दुखी
	२८	स्वाद	सवाद
	२९	आत्मा	आतमा

संशोधन पत्र ।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	३०	इस की जगह	उसे फसाव किसी में कभी नहीं होता ॥ २ ॥
६२	३	प्रिय	भले
	४	अप्रिय लग	अनिष्ट पाय
	५	इस की जगह	कमठ समान समेटतहै वह इन्द्रिन को।
	६	विलास	भोग
	९	हरायें	हराय
	१०	विना विजयी	विन जयी
	११	द्वेष राग करे दूर	मिटाय द्वेष तजे राग
	१७	हागा	होगा
	१६	कम यागी	सर्म योगी
	२४	होने	हाने थे
	२८	हाकर का त्याग	हो कर को त्याग
६३	३	(७ किन्नी पदार्थ क	(७) किसी पदार्थ ने
	८	स्वश	स्वश
	३२	उद्याग	उद्योग
	३५	मात्त	मोत्त
६४	४	का	को
	१०	क्रोध प्रगट फिर छन्य होवे	बीज क्रोध का जी में बाये
	१३	क्रोध मे मोह अधिक हा जाये	मोह अधिक हा जाय क्रोध से,
	१४	इस की जगह	भले बुरे का ज्ञान न रहवे, भ्रम की मथनी चित्त बिलोवे ॥३॥
	१५	फिर भ्रमकेयावद आनेसे	भ्रम रूपी घुन के लगने से
	१६	इस की जगह	और बुद्धि का क्षय ही नर को, "विमल" अन्त में जड़ से खोवे ॥४॥
	२८	रखती	रखता

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
६५	२	मर्जा	मर्जी
	६	अर्थ अर्थात्	अर्थ
	८	हा	हो
	२३	माना	मानो
६६	८	पाय	पाये
	६	इसकी जगह	मनको विषयी इन्द्रियें,योंही हरलें आय
	१०	,,	ये खेवटकी नावको,जैसे पवन डुबाय ॥
	१६	घट	घाट
	१८	इसकी जगह	जैसे नदियन नीरसे,निध,वहाव न पाय
	२४	पद ब्रह्म का	पद्ब्रह्म को,
६७	२	चचलता	चचलता
	६	पुष्टि	पुष्ट
	२०	काय	कार्य
	२२,३४	का	को
७२	५	योज्ञ	योग्य
	४,७	एसा	ऐसा
	१०	प्रप्ति	प्राप्ति
	२५	क्यिा	क्या
	३०	जाता	जाती
	३१	हा	हो
७३	८	क्यिों	क्यों
	६	हृसा	हिंसा
	११	एसी	ऐसी
	२१	अन्धकार	अंधकार
	२४	बुध्दि	बुद्धि
७४	१	क्यिा	क्या
	२	बुध्दि का अश्रय	बुद्धिका आश्रय
	५	माग	मार्ग
	७	मार्गो	मार्गों
	१२	पिनहा चूड़या	पिन्हा चूडिया
	१५	निप्राप	निष्टाय

संशोधन पत्र।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
७५	२	कमने	कर्मन
	६	यर	यह
	३२	त्यागा	त्यागी
	३३	रखत कर्स	रखते कर्म
७६	१	योग्ष	योग्य
	३	लिय	लिये
	१०,२३	एसा	ऐसा
	१८	आरम्भ	जगारम्भ
	२०	पराक्रम	पराकरम
	२२	आवश्यकतायें	आवश्यकताय
७७	१६	सङ्चित	सङ्कुचित
७८	३	स्वभाविक	स्वाभाविक
	८	पौपण पृवृत्ति	पोपण प्रवृत्ति
	१७	हाती	होती
७६	४	लिय	लिये
	६	जोटीका	जो टीका
८१	१५	सिग्वने	सीखने
	१८	पवृत्ति	प्रवृत्ति
	१६	आत्मीयाँ	आदमियों
८२	२०	दुख देता राग द्वेष	दे दुख राग अरु द्वेष
	२५	मथ्या	मिथ्या
८३	१५,१७	योग्ष	योग्य
	२३	शुद्र	शूद्र
	२४	भ्रय	भ्रम
	३०	आत्म	आतम
८४	१०	फर्मी	फर्मों
८५	११	द्वन्द्व	द्वन्द
	२५	यसे	पैसे
	२६	फर्मी	फर्मों
	३६	फसी न	किसी ने

संशोधन पत्र।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
८६	६	अकर्ता	अकर्त्ता
	१८	सगुण	सर्गुण
	२०	एसा	ऐसा
८८	६	प्ररेणा	प्रेरणा
	२५	इस सतर के नीचे	तर्ज –रानी धनको न भेजो अकेलारी
८६	२१	इन्द्रिन	इन्द्रियन
	२२	इन्द्रियों	इन्द्रिया
६०	२०	प्ररेणा	प्रेरणा
६१	३	योघ्न	योग्य
६२	२५	क्यिा	क्या
	२६	हाता	होता
६४	१२	न	ने
	२१	देह से धरू	चाहि धार लू
६५	३१	पुरुपराम	परपुराम
	३३	साथ हते	साथ साथ होते
६६	२	दिखाती	दिखाता
	२६,२६	ब्रह्मण	ब्राह्मण
६७	११	योघ्नता	योग्यता
	२४	चोह	चाहे
६८	२	योघ्नता	योग्यता
	१८	मुकित	मुक्ति
	२६	सुनो	सुन ले
६६	१६ २२,२३ २७,२८	ग्रह्मण	ब्राह्मण
	३०	सिध्द्रान्त	सिद्धान्त
१००	१७	अकर्मकी होत हे	अकर्म होत
	२६	निश्राश्रय	निराश्रय
१०१	७	फो	फो यदि भ्रम हो
	२७ २८	वैराघ्न	वैराग्य
१०२	१०,१२	योघ्न	योग्य
	२५	वैराघ्न	वैराग्य

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	२७	ह्वाता	ह्वोता
१०३	११	भावश्रों	भावों
	२५	उसै	उसे
	२६	अकत्ता	अकर्त्ता
१०४	४	योग्र	योग्य
	१७	क्या	क्रिया
	२८	अग्निन्द्रियों से मनुष्य	सदैव गो अग्नि माहि
	२९	दम श्रौर शम	दमन शमन
	३०	प्राण श्रौर	प्राणों घ
	३१	द्रृव्य	द्रव्य
१०५	१५	महानारायणानिषद्	महानारायणोपनिषद्
	२९	प्रेम	प्रेम
१०६	५	लिय	लिये
	१५	निमाते	निभाते
	१९	णायाम	प्राणायाम
	२५	सिध्यिा	सिद्धिया
	३३	वणन	वर्णन
१०७	१	नष्काम	निष्काम
	६	सताय	सताये
	७	घताय पाय	घताये पाये
	८	पाय फमाय	पायें फंसाये
	९	उनको न यह भुलाय	न उनको यही भुलाये
	१०	कमाय पिलायें	कमायें पिलाये
	११	धन श्राय	द्रव्य श्राये
	१२	ऐसेगुरुकेचरणमें श्राय	चरणों में ऐसे गुरु के पाये
	१३	यह कमाय	श्राप कमाये
	१४	सताय विठाय	सताये विठाये
	१५	अर्जुन ममाय	धनञ्जय ममाये
	१६	नाय चाहे	नैया भले ही

संशोधन पत्र ।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	१७	जलाय जलाय	जलाये जलाये
१०८	१८	ध्यय	ध्येय
१०६	१४	पराय	पराये
	२४	निशि	निराश
	३२	टुट	टूट
	३५	विष्य	विषय
११०	४	अध्यात्म	अध्यात्म
	१३	निज	कि
	१४	सैनाए	सेनाय
	१५	मिले स्वय यह नयासौं	यह मिले है न या सौं
	१६	से यह नष्ट होते हैं	उन्हें ही करे नष्ट
	१७	के लिये कोई	को कमी पार्थ
	२१	स्थिर	डटा
	२६	महत्तव	महत्त्व
११३	२	बने	बने
११४	५	और	अरु
	८	इस की जगह	मोक्ष मार्ग दोनों को जानो । फिर भी योग श्रेष्ठतर मानो ॥२॥
	१०	हुई	भई
	१३	इस की जगह	मनुज सांख्य से जो पद पावे । हाथ योग से वह ही आवे ॥७॥
	१८	जब लग	मैं यदि
११५	१७	नहीं कुछ में	नाहीं कछू में
	२२	सूघना	सूंघना
	२४	अरु सोना	सो रहना
११६	३	सूघना	सूंघना
	८	फन्द में पापों के	पापन घेरें म
	६	जो तत्व ज्ञान	जोइ कि ज्ञान
	१०	से जो	सहित
	११	प्रभूकोकर्मसमर्पणजोलोग	ईश अर्पण जोइ सब उद्योग

संशोधन पत्र ।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
	१२	उन्हें तो कर्मों से बन्धन	कर्मों से बन्धन उनको
	१४	जाकर्मत्यागपविमअपना	विसार काम जोइ शुद्ध
	१५	जो छोड	मिटाय
	१६	जो कर्म देहसे निर्वाहको	शरीर हतु जाइ कर्म सब
	१७	कभी यह हानि नहीं	यही न हानि कभी
	१८	कोई	कोइ
	२२	नहा	नहीं
११७	४	पुरुष न	ना पुरुष
	७	अरु	व
	८	में	माहीं
११८	२६	हृदय	हिरदय
	२९	इन्द्रिय भोगों	सर्व विषयन
	३१	बचता है	बच जाय
११९	१	कोई	कोइ
	१६	स्थिर	स्थित
	२६	हु	हूँ
	३०	टिप्पणी (७) की जगह	कर्म याग में निपुण
१२०	३०	गति यह ही	यही पदवी
	३१	गति करे स्थिर	पदवी कर देवे
१२१	१	मिटाये	मिटाय
	२०	जचती	जचता
१२२	३	चित्त	व चित्त
	५	ईश सब	महेश्वर
१२३	६	इश्वर	ईश्वर
१२६	१३	दीहा	दीना
	१७	रूढ़ यही योगी	योगारूढ यही
	१८	है अपना रिपू	अपना शत्रु है
	२१	बन कर रिपू	बन शत्रु अति

संशोधन पत्र ।

पृष्ट	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
१२८	६	ज्ञान अरु यह	ज्ञान वही
	२५	काय	कोय
१२९	५	विजय आपे पे पाये	निजात्म को दबाये
	६	कि हो अच्छा	हो अच्छा सा
	१५	ब्रह्मचारी बना रह कर	रखे गुण ब्रह्मचारी का
१३०	९	ही	भी
	१४	निद्वन्द्व	निर्द्वन्द्व
१३१	२७	योग	(७) योग
१३२	२२	बिन उद्योग क्य	योग बिन उद्योग न
१३३	२५	३९	२९
१३४	१	स्वर	सब के
	३१	मन बस में यह कैसे हो चनचल	यह मन बस में कभी और न चचल
१३५	१	धाय देत अचल	यह धाय दे अनचल
	२	हे	होवै
	३	नहीं बधे वायू	हा बायु नहीं बधती
१३६	१४	श्रद्ध	श्रद्धा
	१८	दोऊ	दोउ
	२०	यह तुम	यह
	२७	कम यदु	कर्म यदु
३७	६	रहही रहती	रहती
	८	गन्नी	रजनी
	१५	लिय	लिये
१३८	२६	बनना	बन्ना
१३९	२७	सज्जों	सज्जनों
	३१	किसी	इन्ही
१४०	१४	अर्जुन (३)	(३)
१४१	२	जाऊ	जाऊं
	११	ब्रह्म शब्द	ब्रह्म = शब्द

विमल विलास

तीसरा भाग

ज्ञान विज्ञान

लेखक
"विमल"

प्रकाशक—
सनातन धर्म सभा देहली

म्पीरियल प्रिंटिंग प्रेस देहली में छपी।

सातवें अध्याय का सार ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है, (१) अपरा ज्ञान (२) परा ज्ञान। "अपरा ज्ञान" वह ज्ञान कहलाता है जिस के द्वारा सर्व सृष्टि के अनेक नाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी ब्रह्म के समाये हुये रहने की बुद्धि पैदा होती है। इसी ज्ञान का अन्तिम अध्याय के २० वे श्लोक में सात्वकी ज्ञान का नाम दिया गया है। यह गुरु की शिक्षा द्वारा सीखा जा सक्ता है। "परा ज्ञान" उस ज्ञान को कहते हैं जिस के द्वारा यह ज्ञात होता है कि एक नित्य और निर्गुण ब्रह्म से यह नाना प्रकार के नाशवान् पदार्थ वाली सगुण सृष्टि किस भांति उत्पन्न होती है। इसी का नाम "विज्ञान" या "अनुभव" भी है। इस को कोई गुरू शिक्षा द्वारा नहीं सिखा सकता क्योंकि यह ज्ञान अगोचर अर्थात् इन्द्रियोंसे न बताये जा सकने वाला है। इस ज्ञान का प्रारम्भ कर्म योग आदिक उपायों से होता है। ज्यों ज्यों इन उपायों का साधन बढ़ता जाता है यह ज्ञान भी अधिक होता जाता है। जितना यह ज्ञान बढता है कर्म योग आदिक भी संग संग पूर्ण होते जाते हैं। जैसे समुद्र से बादल और बादल से समुद्र भरता है वैसे ही यह एक दूसरे की सहायता से मनुष्य को सिद्धावस्था पर पहुंचा कर उस की मोक्ष का हेतु होते हैं। (देखो अध्याय ११ श्लोक २१) तुलसी दास जी ने कहा है —

दोहा—" योग अग्नि कर प्रगट तब, कर्म शुभाशुभ लाय।
बुद्धि सरावे ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाय॥
तब विज्ञान निरूपणी, बुद्धि विशद घृत पाय।
चित्त दिया भर धरे दृढ़, समता दीट बनाय॥

सोरठा— यहि विधि लेसै दीप, तेज राशि विज्ञान मय।
जातहिं तासु समीप, जरहिं मदादिक शलभ सब॥

पिछले चार अध्यायों में कर्म योग प्रतिपादन करके उसके साधन के हेतु इन्द्रिय निग्रह या आत्म-संयम को आवश्यक बताया था और योग अभ्यास को इन्द्रिय-निग्रह का उपाय। परन्तु बिना ज्ञान विज्ञान के इन्द्रिय-निग्रह भी सम्पूर्ण नहीं होता है, इस लिये इस अध्याय में ज्ञान विज्ञान कथन हुआ है। इस ज्ञान विज्ञान में क्षर अक्षर[1], क्षेत्र क्षेत्रज्ञ[2] और अध्यात्म[3] ज्ञान सब का समावेश है अर्थात् इस से

(१) इन का विस्तार पन्द्रहवें अध्याय में होगा। (२) इन का विस्तार तेरहवें अध्याय में होगा। (३) जीवात्मा का ज्ञान। इस का विस्तार दूसरे अध्याय में हो लिया और आगे भी होता रहेगा।

स्र अक्षर सृष्टि की रचना या ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का भेद मालूम होता है। इस में बताया गया है कि।

विज्ञान से उत्तम कोई ज्ञान नहीं है। इस को पाने का यत्न ज्ञान-मार्ग वालों अर्थात् सन्यासियों के यहा अव्यक्त (निगुण) की उपासना और योग मार्ग वालों के यहा व्यक्त (सगुण) की उपासना अर्थात् भक्ति है। इस प्रकार का यत्न बहुत कम मनुष्य करते है और उन में से भी बहुत कम इस को प्राप्त करते हैं।

विज्ञान से (जो चाहे ज्ञान-मार्ग अर्थात् निर्गुण-मार्ग से उत्पन्न हो चाह योग मार्ग अर्थात् भक्ति युक्त सगुण मार्ग से। मनुष्य यह भेद जान लेता है कि अव्यक्त परब्रह्म या पुरुषोत्तम सतधा प्रकृति, उस के गुणों और चैतन्य अर्थात् पुरुष या जयि के द्वारा इस सारे ससार की रचना करता है। ऐसे मनुष्य को सब स्थूल (गोचर) और सूक्ष्म (अगोचर) वस्तुओं में परब्रह्म परमेश्वर या पुरुषोत्तम का प्रकाश दिखाई देता है। वह प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का जानने वाला होता है।

ऐसा विज्ञानी मनुष्य परब्रह्म परमेश्वर की पुरुष और प्रकृति सृष्टि को परमात्मा का "पर" और "अपर" (जड और चैतन्य) स्वरूप और इस माया के परे जो उस का अव्यक्त (निर्गुण और अगोचर) रूप है, इन दोनों को पहिचान कर परमेश्वर को भजता है। उस की बुद्धि समता प्राप्त कर लेती है और वह अन्त में परम गति पाता है।

परमात्मा की भक्ति अर्थात् सगुण रूप की उपासना करने वाले चार प्रकार के होते हैं – आर्त भक्त (जो विपत्ति में ईश्वर को भजते हैं), अर्थार्थी भक्त (जो मनोकामना पूर्ण कराने के हेतु भक्ति करते हैं), जिज्ञासु भक्त (जो आत्म ज्ञान प्राप्त करने के हेतु भक्ति करते है) और ज्ञानी भक्त (जो निष्काम भक्ति करते हैं)। इनमें ज्ञानी भक्त उत्तम हैं क्योंकि उन की भक्ति निष्काम और अनन्य (ख़ालिस) होती है। जो कामनाओं के कारण भक्ति करते हैं सच तो यह है कि उन की भक्ति ही क्या? मुंशी सूरज नरायन मेहर ने जब ही कहा है–

"सवाल उजरत का जब आया तिजारत हो गई ताअत"।

कबीर जी का वाक्य है –

दोहा— "फल कारन सेवा करे, तजे न मन से काम।

कह कबीर सेवक नहीं, चहे चौगुना दाम॥

कामना रख कर भक्ति करने वाले चाहे किसी देवता के नाम से और किसी कामना से भक्ति करें, परमात्मा ही उन की सेवा पूजा ग्रहण कर के उन को उस

का फल देताहै। कारण यह कि सब देवताओं सब प्राणीयों सब यज्ञों,सब कर्मो,और सब अध्यात्म में वह आप ही समायाहै। उस के सिवाय जगत् में और है ही कौन? परतु ऐसी भक्ति से मोह और अज्ञान बना रहता है इस लिये मोक्ष नहीं होती।

(६) जब तक विज्ञान नहीं होता, मनुष्य उस अव्यक्त परमात्मा को व्यक्त (प्रत्यक्ष) वस्तुओं में ढूढता और अपनी इन्द्रिया से उसे जानने की इच्छा करता है। परन्तु वह यह नहीं समझता कि परमात्मा इन से परे है और प्रकृति अर्थात् माया के परदे में छिपा हुआ है। जब तक प्रकृति से बनने वाली वस्तुओं में उस को ढूंढा जाता है वह नहीं मिलता क्योंकि परदे पर दृष्टि जमाने से परदे के पीछे की वस्तु दिखाई नहीं दे सकती। जब मोह अज्ञान दूर हो जाते हैं और यह परदा उठ जाता है, तब भक्त उस का दर्शन पाता है। किसी कवि का वाक्य है –

" है लगी सीने में हि तसवीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देखली "।

ससार की उत्पत्ति या विश्व की रचना के विषय में यों तो अनेक मत है परतु इन में तीन मुख्य हैं। (१) पहिला मत कणाद ऋषि के न्याय सूत्रों आदिक का है। यह मत ईश्वर को न मान कर सारी सृष्टि की रचना का कारण अकेली प्रकृति को बताता है। इस मत के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं (Atoms) अर्थात् मादे के ज़र्रों के सयोग से यह सृष्टि उत्पन्न होती है। इस लिये इस मत को " अद्वैत प्रकृतिवाद " या नास्तिक मत कहते हैं । (२) दूसरा मत साख्य शास्त्र का है। यह मत ईश्वर के विषय में केवल इतना ही विचार प्रकट करता है कि ईश्वर चाहे हो चाहे न हो, परतु जगत् के पैदा करने, चलाने या प्रलय करने से उस का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मत के अनुसार पुरुष या जीव (परा प्रकृति) और (अपरा) प्रकृति, जिन को यह अनादि (सदा से होने वाला) स्वयम्भू (अपने आप ही उत्पन्न होने वाला अथात् किसी का पैदा किया हुआ न होने वाला) और स्वतन्त्र (जो किसी के आधीन न हो) मानता है, दोनों आपस में मिल कर ससार की रचना करते है। इस लिये इस मत को " द्वैत मत " कहते हैं। (३) तीसरा मत वेदान्त शास्त्रादिक का है। इस मत के अनुसार अकेला ईश्वर ही अपनी उन विभूतियों या शक्तियों के द्वारा जो पुरुष और प्रकृति कहलाती हैं (और जिन को क्षर अक्षर, परा अपरा, जड़ चैतन्य, या क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का नाम दिया जाता है और जो साख्य मत वालों की मति के विपरीत इस मत में स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं मानी जातीं – पर अनादि जरूर मानी जाती हैं–) सारी सृष्टि को पैदा करता है। इस लिये यह मत " अद्वैत वेदान्त " मत कहलाता है। इन तीनों में से श्री मद्भगवद्गीता को अद्वैत वेदान्त मत मान्य है।

अब रही यह बात कि यह रचना किस विधि से होती है ? इस के विषय में भी दो मत हैं। (१) एक यह कहता है कि प्रकृति की तह धीरे धीरे खुल कर सृष्टि में एक पदार्थ से दूसरा और दूसरे से तीसरा पैदा होता है (Theory of Evolution) (२) दूसरा मत ईसाइयों के मत के समान यह मानता है कि

सारी सृष्टि के पदार्थ ईश्वर सब ही पैदा करताहै। परन्तु सांख्य और वेदान्त दोनों ही इस विषय में एक मत रखते हैं। दोनों यह मानते हैं कि एक ही मूल अव्यक्त (इन्द्रियोंसे न जानने योग्य) द्रव्य से धीरे धीरे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस मत को 'उत्क्रान्त" मत कहते हैं। गीता का भी यही मत मान्य है।

इस मत के अनुसार यह रचना इस भांति होती है कि जब "एकोऽहं बहुस्याम् (मैं एक हूं अनेक हो जाऊं") का सङ्कल्प निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्मा में होता है तब एक बड़ा घोर शब्द होता है। इस घोर शब्द से निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म हो कर अव्यक्त प्रकृति की बुद्धि को जो "महत्" कहलाती है (और जड़ अर्थात् अचेतन होती है) व्यक्त बना कर उस में सतोगुण, रजोगुण तमोगुण के जो अंकुर बराबर बराबर होते हैं, उन्हें घटा बढ़ा देता है। इस घटत बढ़त से उस अव्यक्त प्रकृति में विकार (तबदीली) पैदा हो कर उस की एकता भंग हो जाती है और उस में यह विविधता आजाती है जो "अहंकार" या "तेजस्" या "अभिमान" या "धातु" आदिक नामों से विख्यातहैं। यह अहंकार सत्, रज तम् रूपीगुणोंके कारण अनेक प्रकार का हो जाने पर भी सूक्ष्म और जड (अचेतन) रहता है। परन्तु इस अनेकता से इस की दो शाखायें हो जाती हैं। एक से सेन्द्रिय (Organic) या सात्विक सृष्टि की उत्पत्ति होती है, दूसरी से निरिन्द्रिय (Inorganic) या तामस् सृष्टि की। सेन्द्रिय शाखा अर्थात् सात्विक अहंकार से पांचों ज्ञानेन्द्रियां (आंख, नाक, कान जीभ, खाल) पांचों कर्म-इन्द्रियां (हाथ, पांव, मुंह मल और मूत्रके स्थान) चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार पैदा होते हैं। (चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार, चारों मिल कर अन्तःकरण कहलाते हैं। यह चैतन्य और सूक्ष्म होते हैं)। निरिन्द्रिय शाखा अर्थात् तामस् अहंकार से यह पंच मात्रायें उत्पन्न होती हैं जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह पांचों मिल कर हिरण्यगर्भ कहलाती हैं। जब यह पंच मात्रायें सूक्ष्म से स्थूल बनती हैं तब इन से पंच महाभूत (आकाश, वायु अग्नि जल और पृथ्वी) इस प्रकार बनते हैं:- ध्वनि रूप शब्द से आकाश उत्पन्न होता है और शब्द इस का निज गुण कहलाता है। फिर सरसर रूपी शब्द और गर्म ठन्डे स्पर्श से वायु पैदा होती है और स्पर्श उस का गुण कहलाता है। फिर भकभक रूपी शब्द से वायु का गर्म स्पर्श और अग्नि का निज गुण अर्थात् रूप मिल कर अग्नि पैदा होती है। इस के बाद चुल-चल रूपी शब्द ठन्डे स्पर्श और धोले रूप जल के निज गुण अर्थात् रसके साथ मिलकर जल बनातेहैं। इसके पश्चात् कड़ कड़ रूपी शब्द कठिनस्पर्श कालारूप, खट्टे मीठे आदिक रस और पृथ्वी का निज गुण अर्थात् गन्ध मिलकर पृथ्वी बनाते हैं। वायु के विकार से पांचों प्राण (प्राण अपान, समान व्यान उदान) पैदा होते हैं। इस भांति पांचों मात्राओं पांचों महाभूतों दसों इन्द्रियों और पांचों प्राणों में विकारों का जब अन्तःकरण और पुरुष से अनेक प्रकार से मेल होता है, तब नाना प्रकारके पदार्थ जिन से सृष्टि बनी है उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति के इन अनेक

विकारों के वेद शास्त्रों में सात विभाग किये हैं। यह सातों ब्रह्माण्ड में पूर्णता से और पिण्ड में अंश मात्र विद्यमान रहते है। यह सात विभाग यह है-

(१) आकाश (२) वायु (३) अग्नि (४ जल (५) पृथ्वी (६) बुद्धि (७) और मन। गीता ने इन में अहकार को मिला कर इसे अष्टधा बनादिया है। वेदान्त वालों ने इन में जीव को और मिलाकर नौ विभाग कर लिये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ही नौ विभाग मुसलमानों के यहा नौ आसमान कहे गये हैं। सुन्दर दास जी ने इन सब का सार निम्न लिखित रीति से बाधा है-" ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई प्रकृतितें महत्तत्व पुनि अहकार है॥ अहकार हू ते तीन गुण सत् रज तम् तमहू ते महाभूत विषय पसार है॥ रजहू ते इन्द्रि दस प्रथक प्रथक भई सत्तहू ते मन आदि देवता विचार है॥ ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूं कहत् गुरु, सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है"॥

अब रहा यह कि यह सारे विकार जो ऊपर उल्लेख हुये, प्रकृति में किस तरह पैदा हो जाते हैं, सो यह अकथ्य है। इस को कोई मनुष्य किसी प्रकार किसी इन्द्री से दरशा नहीं सकता। केवल विज्ञान से यह सारा रहस्य आप ही आप खुल जाता है। इसी कारण कहा गया है कि विज्ञान गुरू के द्वारा नहीं सीखा जा सकता और कोई विरला ही इस को प्राप्त करता है। रामायण में कहा है—

चौपाई--"तिन सहस्र में सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन विज्ञानी"

सातवा अध्याय—ज्ञान विज्ञान योग

भजन नम्बर ६४ (श्लोक १—६)

[ान विज्ञान का निरूपण]

दोहा—इतनी कथा सुनाय के, बोले श्री भगवान।
अब अर्जुन तोसे कहूँ, सर्व ज्ञान विज्ञान॥

चौपाई

मो में जो आसक्त[१] रहे तू। मोरा आश्रय[२] चित्त लहे तू।
हे अर्जुन वैरी सहारन। जो यह योग[४] करे[५] तू धारन।
किस प्रकार तोहे विज्ञाना। पूरण और असशय ज्ञाना।
होगा तो को यह बतलाऊ। सब विज्ञान[६] समेत सुनाऊ।
जोइ वस्तु है जानन योगा। तुझे ज्ञान उन सबका[७] होगा।

सहस जनन में बिरला कोई । सिद्धि हेतु उद्योगी होई ।
कोई बिरला सिद्धि कमावे[८] । यथा[९] योग मोरा पद पावे ।
होत भाग[१०] माया के दोई । अपरा[११] परा कहावत सोई ।
सोरठा—मन बुद्धी आकाश, पृथ्वी वायू अग्नि जल ।
यह हैं आठ[१२] प्रकाश, अहंकार सग प्रकृति के ॥

छन्द

जड से बड़ा[१३] चैतन्य को तू हे धनञ्जय जानि ले ।
चैतन्य ही को तू जगत् आधार[१४] जीवन मानि ले ।
यह जड़ प्रकृति बन योनि[१५] इस ससार का चक्कर जने ।
मुझ से "विमल" सारा जगत् बन कर[१६] मिटे मिट कर बने ।

टिप्पणी

(१) लवलीन (२) ईश्वर में लवलीन रहना और उस का आश्रय लेना ही भक्ति के लक्षण हैं (३) यह भक्ति के अग जब कर्म योग के सग मिल जाते हैं तभी विज्ञान उत्पन्न होता है (४) बिना विज्ञान के ज्ञान अधूरा रहता है। कारण यह कि विज्ञान अर्थात् परा ज्ञान और अपरा ज्ञान दोनों ही मिलकर ज्ञान को सम्पूर्ण बनाते हैं। देखो इस अध्याय का सार (५) जिससे सारे सशय अर्थात् दुविधायें मिट जायें। दुविधायें अज्ञान से होती हैं, इस लिये ज्ञान असशय बना देता है। (६) इस अध्याय के सार में यह कथन हो चुका है कि गीता में सृष्टि की रचना की विधि इसी प्रकार मानी गई है (७) इस से यह अद्वैत वेदान्त का मत टपकता है जिस का वर्णन इस अध्याय के सार में हुआ। जब यह मालूम हो गया कि सारी सृष्टि नाम और रूप के भेद को छोड कर अकेले ब्रह्म का रूप है, तब उस के जान लेने से ज्ञान विज्ञान दोनों सम्पूर्ण हो जाते हैं और किसी अन्य बातों के जानने की आवश्यकता नहीं रहती (८) जो मनुष्य योग, भक्ति और ज्ञान में सम्पूर्ण हो जाता है उस को सिद्धि प्राप्त होती है। इस से प्रकट होता है कि गीता में इन तीनों को मिला कर साधन करने की शिक्षा दी गई है। यह ही गीता का विशेष गुण है (९) जैसा कि जानना चाहिये अर्थात् पूर्ण रीति से (१०) ईश्वर की यह विभूति या शक्ति जिस को साख्य वाले प्रकृति कहते हैं वेदान्त में "माया" कहलाती है। यहां इस शब्द में पुरुष या जीवात्मा का भी समावेश है अर्थात् पुरुष और प्रकृति दोनों को मिलाकर यह नाम दिया गया है (११) "अपरा" को साधारण रीति से प्रकृति जड़, क्षर, निरिन्द्रिय सृष्टि, कनिष्ट रूप आदिक नामों से प्रकट करते हैं और "परा"

को देव प्रकृति, श्रेष्ठ स्वरूप, चैतन्य अक्षर, सेन्द्रिय सृष्टि, सात्विक सृष्टि आदिक नामों से। इसी को पुरुष या जीवात्मा कहते हैं (१२) देखो इस अध्याय का सार। कबीर जी ने कहा है—

दोहा—"सात धातु वर्णन किये, गीता में भगवान
चेतन को अष्टम कहा, यही बात प्रमान"।

ऐसा प्रतीत होता है कि यही भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध में वर्णन की हुई अष्ट सखियां हैं जो जीव रूपी कृष्ण के साथ संसार की रचना रूपी रास लीला करती हैं। इसी कारण उस पंच अध्यायी का जिस में यह कथा लिखी हुई है (और जो सारे ज्ञान विज्ञान का सार है) ऐसा बड़ा महातम्य बताया गया है। (१३) ऊपर उल्लेख हो चुका है कि परा प्रकृति से अपरा प्रकृति उत्तम है अर्थात् जड़ से चैतन्य की पदवी ऊंची है। यही कारण है कि जड़ को कनिष्ट स्वरूप और चैतन्य को श्रेष्ट स्वरूप कहा जाता है। (१४) जब किसी पदार्थ से उस की जान निकल जाती है तब वह नाश को प्राप्त हो जाती है, इस लिये सृष्टि के बने रहने के हेतु चैतन्य की आवश्यकता है। (१५) चौदहवें अध्याय में विस्तार सहित वर्णन है कि—जिस प्रकार पुरुष और स्त्री के संयोग से संतान उत्पन्न होती है और स्त्री पुरुष के आधीन रहती है पुरुष उस के आधीन नहीं होता, इसी तरह ईश्वर या परब्रह्म प्रकृति के द्वारा सृष्टि रूपी संतान पैदा करता है परन्तु आप उस के आधीन न हो कर प्रकृति को अपने आधीन रखता है। इसी दृष्टि से प्रकृति को योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान (बच्चे दानी) कहा है। (१६) परब्रम्ह की इच्छा से आदि में सृष्टि की रचना होती है और अंत में प्रलय होकर नाश हो जाती है।

(भजन नम्बर ६५—श्लोक ८—११)

[सर्व पदार्थों का मूल परब्रह्म]

तर्ज—कर ले सिंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा (जैजैवन्ती)

जल में रस[१] माटी में सौरभ अग्नि में तेज का कारण मैं हूँ।
शब्दाकाश[२] व रस भोगन में ओमाकार[३] में वेदन में हू॥
बुद्धि तपोबल तेज मनुज में, काम धर्म[४] की उपजन मे हू।
भानु[५] चन्द्र में "निमल" प्रकाशहूं धात भूत[६] का जीवन मे हूँ॥

टिप्पणी

(१) इस अध्याय के सार में उल्लेख हो चुका है कि सारी सृष्टि परब्रह्म से पैदा होती है, इस लिये सर्व पदार्थ इसी का रूप है। यह ही रस का गुण और

तत्व है। यहां पर महाभूतादिकों का उदाहरण देकर इस नियम का विस्तार किया गया है। जल का निज गुण रस है, पृथ्वी का सौरभ (गन्ध), अग्नि का तेज, और आकाश का शब्द। इन सब गुणों का निकास ब्रह्म से है। इस लिये मानो यह ब्रह्म हैं। (२) विज्ञानियों का कथन है कि आकाश में हर वक्त एक ध्वनि रूप शब्द होता रहता है। इसी ध्वनि से आकाश की उत्पत्ति है। हम इस शब्द को इस कारण अपने कानों से नहीं सुन सके कि यह जन्म ही से हमारे कानो में बसा रहता है। या यों कहो कि यह शब्द अगोचर है। यूनानी हकीम फीसागोरस और मिल्टन शेक्सपियर आदिक अंगरेज कवियों ने भी इस शब्द के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। (३) यह महा वाक्य सृष्टि का बीज है। उपनिषदों ने इस का विस्तार पूर्वक कथन किया हुआ है। गीताके अध्याय ८ श्लोक १३ में इसके साधन की रीति, अध्याय १५ में इस का गुप्त स्वरूप और अध्याय १७ श्लोक २३ में इस की महिमा वर्णन है। इस के विस्तार का भावार्थ यह है कि "ओ३म्" शब्द तीन अक्षरों (अ उ, म) का समुदाय है। यह तीनों अकार उकार और मकार कहलाते हैं। इन तीनों से ब्रह्म के नाम और रूप प्रकट होते हैं। अकार से विराट, अग्नि विश्वादिक का, उकार से हिरण्यगर्भ, तेजस् आदिक का और मकार से आदित्य प्रज्ञ आदिक का प्रकाश होता है। इन्हीं तीनों के अग्नि वायु सूर्य अथवा ब्रह्मा विष्णु महेश देवता माने जाते हैं और भू भव स्व इन के स्थान, जागृत, स्वप्न सुसुप्ति इन की अवस्थायें और ऋग यजुर् शाम इन के वेद। इस तरह ओ३म नाम में सब का समावेश होने से इस का बड़ा महात्म बताया गयाहै। (४) यह कामना जो धर्मानुकूल हो। (५) सूर्य (६) सब प्राणियों का बीज।

(भजन नम्बर ६६—श्लोक ७ व १२-१५)

[परब्रह्म का निर्गुण भाव]

तर्ज—गन्दी काया तेरा क्या गुण गाऊं
महल रचा जामे रहन न पाऊं।

हे वीर अर्जुन शत्रु सहारन, सत् रज तम तिरगुण हेतु कारन।
रहें मम आश्रय सदा गुन तीनों, नहीं आये मो माहिं प्रकृति पसारन॥१॥
हूं व्याप्त इस भांति मैं सब जगमें, माल करे जिस तरह सूत धारन॥२॥
मुझ से परे कौन वस्तु धनञ्जय, मुझे ही मुझे जान तू आदिकारन॥३॥
जगत् मोहि भूला इन हीं गुणों से, जाने नहीं मैं नहीं गुण विहारन॥४॥

मोरी अलौकिक माया कठिन है, तरे जोइ मोहि वनावत तारन ॥५॥
अशुभ कर्म-करता जोइ अधम हैं, करे तम् जिन का कि वुद्धि महारन ॥६॥
स्वभाव असुर का "निमल" जो रखायँ, आय न मोपे इसी भाव कारन ॥७॥

टिप्पणी

(१) पहिले भी उल्लेख हो चुका है और चौदहवें अध्याय में भी इस का विस्तार पूर्वक कथन है कि प्रकृति के तीन गुण हैं। यह सतोगुण रजोगुण, तमोगुण कहलाते हैं। इन ही के घटने बढ़ने से सृष्टि की रचना होती है। प्रकृति को गीता में अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की शक्ति माना है इस लिये उस के यह तीनों गुण भी ईश्वर ही के कारण उत्पन्न होने वाले मानने चाहियें। (२) साख्य शास्त्र ने प्रकृति को स्वतन्त्र माना है परन्तु यहां अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस को ईश्वर के आधीन बताया गया है (३) ईश्वर सृष्टि की रचना अकर्त्ता भाव से करके आप गुणातीत अर्थात् गुणों से न्यारा रहता है। यह गुण उस पर प्रभाविक न हो कर उसकी निर्गुण गति को भंग नहीं करते। श्री रस रंग जी के पदों में एक स्थान पर इसी को कैसी सुन्दरता से प्रकट किया है –

इन सवहिन को करे सकेला रहे अकेला एक"

(४) साख्य शास्त्र में जीव और प्रकृति का स्वतन्त्र और सृष्टि का कारण बताया गया है परन्तु वेदान्त में इस पर यह तर्कना उठाई जाती है कि जब तक इन दोनों को मिलाने वाला और मिला कर इकट्ठा रखने वाला कोई तीसरा न हो, तब तक यह दोनों एकत्र क्यों कर रह सकते हैं। जिस तरह दानों को बराबर रखने से माला नहीं बनती जब तक कि उन के बीच में डोरा न डालें, और तख्तों पर तख्ता रखने से सन्दूक नहीं बनता जब तक कीलों से उन को न जड़ें, इसी तरह वेदान्त और गीता के मत में जीव और प्रकृति से भी सृष्टि की रचना नहीं हो सकती जब तक कि ईश्वर उन का मेल न करे। ईश्वर वह शक्ति है जो सब वस्तुओं के परिमाणुओं को जुड़ा रख कर जीता रखती है जिस के द्वारा ब्रह्माण्ड में सारे सूर्य चन्द्रमा तारे आदिक आकाश में अधर टिके हुये हैं और जिस के कारण सारी सृष्टि के पदार्थ बिखर जाने से बचे हुये हैं (५) ईश्वर सब से बड़ा और सब का आदि कारण अर्थात् प्रारम्भ करने वाला है। उस से परे कुछ भी नहीं है। (६) तीनों गुणों से पैदा होने वाली इन्द्रियों का धर्म अर्थात् स्वभाव अज्ञान है। तमोगुण से अज्ञान पैदा होता है और इस को कितना ही घटा या जाय तब भी यह बिल्कुल दूर नहीं हो सकता, इस लिये इन्द्रियों से अज्ञान को बिल्कुल दूर नहीं किया जा सकता। अज्ञान से भ्रम पैदा हो जाने पर मनुष्य यह भूल जाता है कि ईश्वर निर्गुण और अव्यक्त (अगोचर) है। वह ईश्वर का सच्चा स्वरूप भूल कर नाम रूप के भेद से उस को सगुण और व्यक्त समझने लगता

हैं (७) इस अज्ञान में फस कर बहुत से भक्ति भाव वाले यहां तक भ्रम में पड़े हुये हैं कि यह निर्गुण ब्रह्म को बिहारीजी कहते हैं। यही कारण है कि भक्ति के संग में ज्ञानकी आवश्यकता रहतीहै(८) जो सारे लोकों में किसी के पास नहीं,ऐसी माया अर्थात् प्रकृति को यहां ईश्वर की शक्ति कहा है। इस का जानना बड़ा कठिन है। इस को वह ही जान सक्ता है जो विज्ञान रूपी नाव में बैठ कर और ईश्वर की भक्ति को खेवट बना कर अज्ञान रूपी नदी से पार उतर जाता है। (९) जो आप तर जाय वह "तरन" और जो औरों को तार दे वह "तारन" कहलाता है। (१०) दुष्ट लोग। (११) बुद्धि का नाश। (१२) जो अद्वैत प्रकृतिवाद अर्थात् नास्तिक मत या सांख्य के द्वैत मत को सत्य मानते हैं, उनको यहां असुर भाव वाला कहा गयाहै। सोलहवे अध्याय (भजन ११६) में भी यही विचार प्रकट किया है। कारण यह है कि वह अज्ञान से अकेली प्रकृति को या पुरुष या प्रकृति दोनों को स्वतन्त्र और जगत् का रचने वाला मान कर जगत् को निरीश्वर कहते हैं। इसी लिये वह ईश्वर तक पहुंच ही नहीं सकते। अज्ञान तमोगुण का फल होता है। तमोगुणी पुरुष को सोलहवे अध्याय में भी असुर का नाम दिया गयाहै, इस लिये असुर का अर्थ अज्ञानी और तमोगुणी मनुष्य ही समझना चाहिये।

भजन नम्बर—६७ (श्लोक १६—१८)

[भक्तों के विभाग]

तर्ज—मजा देते है क्या यार, तेरे बाल घूंघर वाले।

सदा शुभ आचारी चार, कहे जायं भक्त हमारे।

है भक्त एक वह अर्जुन। गावे दुख में जो मम गुन।

मिटि जाय भक्तिका घुनघुन। जब नाश होय दुख सारे ॥१॥

तू जान दूसरा उस को। निज काम हेतु रटता जो।

जब मनो काम पूरा हो। तब जी से मोहिं बिसारे ॥२॥

वह भक्त तीसरा पक्का। जो चहे ज्ञान आतम का।

चौथा वह ज्ञानी नीका। जो तन मन मो पर वारे ॥३॥

जो नर ज्ञानी हो जावे। वह मोहिं नित्य ही ध्यावे।

वह मम स्वरूप कहलावे। भक्त पहुंचे मोरे द्वारे ॥४॥

यों तो शुभ गति चारों की। सर्वोत्तम ज्ञानी फिर भी।

टिप्पणी

(१) भक्ति मार्ग पर चलने वाले को भी अपने आचारों को ठीक रखना और कर्मयोग साधन करना होता है। वह सब कम ईश्वर अर्पण करता है। यह विचार करना कि भक्त के लिये सब कर्म उचितहैं ठीक नहीं है। नवें अध्यायके अंतमें प्रत्यक्ष कहा गया हे कि कुकर्मी भी जब भक्ति करताहै अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करता हे या यों कहो कि कर्म योग का साधन करता है, तब वह सदाचारी बन कर ईश्वर को प्राप्त करता है। इस से प्रकट होता है कि मोक्ष से पहिले भक्त को भी सदाचारी बनना होता हे। बाल्मीक जी आदिक भक्तों की कथाओं में जो भक्तों के दुराचार उल्लेख हुये हैं, वह उस समय तक थे कमें हैं कि जब उन भक्तों का कर्म योग साधन पूरा नहीं हुआ था और इस लिये उन की भक्ति उस वक्त तक अधूरी थी। भक्ति में दृढ़ हो कर कोइ भक्त दुराचारी नहीं रहा (२) पिछले अध्याय में उन मनुष्यों का उल्लेख हुआ हे जो ईश्वर से विमुख रह कर उस की शरण में नहीं जाते और असुर भाव रखते हैं। यहा उन लोगों का कथन है जो उस की शरण लेकर (भक्ति कर के) उस को पाने का यत्न करते हैं। (३) ऐसे भक्त आर्त भक्त कहलाते हैं (जैसे गज और द्रौपदी)। (४) ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं (जैसे ध्रुव) (५) ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते है (जैसे राजा परीक्षत , । (६) ऐसे भक्त ज्ञानी भक्त कहलाते हैं (जैसे प्रहलाद)। (७) जब मनुष्य कर्म योग साधन करके अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करके और ज्ञान विज्ञान में निपुण हो कर भक्ति का सम्पूर्ण भण्डार हो जाता है, तब उस के तीनों साधन (योग, भक्ति और ज्ञान) सम्पूर्ण अवस्था पर पहुंच जाते हैं और वह स्थिति प्राप्त (पूर्ण कर्म योगी) गुणातीत (गुणों से रहित) ज्ञानी और भक्त हो कर जीवमुक्त हो जाता है। वह प्रकृति के बंधन से निकल कर ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है। इसी लिये वह ब्रह्म रूप कहलाने का अधिकारी हो जाताहै। ब्रह्म आप अकर्ता है इस लियें सकाम भाव से भक्ति करने वाला उस में कैसे लय हो सकता है। इसी लिये कबीरजी ने कहाहै–

> दोहा–'जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
> कहि कबीर वह क्यों मिले निष्कामी निज देव" ॥

(८) मोक्ष गति पावे (९) सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाले, ब्रह्म को यथार्थ जानने वाले,और अद्वैत वेदान्त मतके अनुयायी भक्तको यहा पर ज्ञानी भक्तका नाम दिया गया है। इस लिये वह निश्चय ही सब से उत्तम है। प० काशी नाथ जी त्र्यम्बक की यह तर्कना कि यहा ज्ञानी को सब से उत्तम बताया हे और छटे अध्याय में कर्म योगी को ज्ञानी से भी बडा कहा हे इस लिये इन दोनों में परस्पर विरोध है, हमको कुछ निर्मूल सी प्रतीत होतीहै। छटे अध्यायमें ज्ञानीका अर्थ ज्ञान मार्गी या सन्यासी हे और यहा ज्ञानी का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाला अद्वैत भक्त है जो सब प्रकार से सिद्धि गति को प्राप्त किये हुये होता है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष

है (७) इस अज्ञान में फस कर बहुत से भक्ति भाव वाले यहा तक भ्रम में पड़े हुवे हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म को विहारीजी कहते हैं। यही कारण है कि भक्ति के सग में ज्ञानकी आवश्यकता रहती है(८) जो सारे लोकों में किसी के पास नहा,ऐसी माया अर्थात् प्रकृति को यहा ईश्वर की शक्ति कहा है। इस का जानना बड़ा कठिन है। इस को वह ही जान सक्ता है जो विज्ञान रूपी नाव में बैठ कर और ईश्वर की भक्ति को खेवट बना कर अज्ञान रूपी नदी से पार उतर जाता है। (९) जो आप तर जाय वह "तरन" और जा औरों को तार दे वह "तारन" कहलाता है। (१०) दुष्ट लाग। (११) बुद्धि का नाश। (१२) जो अद्वैत प्रकृतिवाद अर्थात् नास्तिक मत या साख्य के द्वैत मत को सत्य मानते हैं, उनको यहा असुर भाव वाला कहा गयाहै। सोलहवे अध्याय (भजन ११६) में भी यही विचार प्रकट किया है। कारण यह है कि वह अज्ञान से अकेली प्रकृति को या पुरुष वा प्रकृति दोनों को स्वतन्त्र और जगत् का रचने वाला मान कर जगत् को निरीश्वर कहते हैं। इसी लिये वह ईश्वर तक पहुच ही नहीं सकते। अज्ञान तमोगुण का फल होता है। तमोगुणी पुरुष को सोलहवे अध्याय में भी असुर का नाम दिया गयाहै, इस लिय असुर का अर्थ अज्ञानी और तमोगुणी मनुष्य ही समझना चाहिये।

भजन नम्बर—६७ (श्लोक १६—१८)

[भक्तों के विभाग]

तर्ज—मज़ा देते हैं क्या यार , तेरे बाल घूघर वाले।

सदा शुभ आचारी चार, कहे जायं भक्त हमारे।
है भक्त एक वह अर्जुन। गावे दुख में जो मम गुन।
मिटि जाय भक्तिका चुनपुन। जब नाश होय दुख सारे ॥१॥
तू जान दूसरा उस को। निज काम हेतु रटता जो।
जब मनो काम पूरा हो। तब जी से मोहिं बिसारे ॥२॥
वह भक्त तीसरा पक्का। जो चहे ज्ञान आतम का।
चौथा वह ज्ञानी नीका। जो तन मन मो पर वारे ॥३॥
जो नर ज्ञानी हो जावे। वह मोहिं नित्य ही ध्यावे।
वह मम स्वरूप कहलावे। धन्य पहुंचे मोरे द्वारे ॥४॥
यों तो शुभ गति चारों की। सर्वोत्तम ज्ञानी फिर भी।
प्रिय नित्य उन्हें मैं ही। वह "विमल" मोहिं अति प्यारे ॥५॥

टिप्पणी

(१) भक्ति मार्ग पर चलने वाले को भी अपने आचारों को ठीक रखना और कर्मयोग साधन करना होता है। वह सब कर्म ईश्वर अर्पण करता है। यह विचार करना कि भक्त के लिये सब कर्म उचितहैं ठीक नहीं है। नवें अध्यायके अंतमें प्रत्यक्ष कहा गया है कि कुकर्मी भी जब भक्ति करताहै अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करता है या यों कहो कि कर्म योग का साधन करता है, तब वह सदाचारी बन कर ईश्वर को प्राप्त करता है। इस से प्रकट होता है कि मोक्ष से पहिले भक्त को भी सदाचारी बनना होता है। वाल्मीक जी आदिक भक्तों की कथाओं में जो भक्तों के दुराचार उल्लेख हुये हैं, वह उस समय तक के कर्म हैं कि जब उन भक्तों का कर्म योग साधन पूरा नहीं हुआ था और इस लिये उन की भक्ति उस वक्त तक अधूरी थी। भक्ति में दृढ़ हो कर कोई भक्त दुराचारी नहीं रहा (२) पिछले अध्याय में उन मनुष्यों का उल्लेख हुआ है जो ईश्वर से विमुख रह कर उस की शरण में नहीं जाते और असुर भाव रखते हैं। यहां उन लोगों का कथन है जो उस की शरण लेकर (भक्ति कर के) उस को पाने का यत्न करते हैं। (३) ऐसे भक्त आर्त भक्त कहलाते हैं (जैसे गज और द्रौपदी)। (४) ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं (जैसे ध्रुव) (५) ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते है (जैसे राजा परीक्षत , । (६) ऐसे भक्त ज्ञानी भक्त कहलाते हैं (जैसे प्रह्लाद)। (७) जब मनुष्य कर्म योग साधन करके अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करके और ज्ञान विज्ञान में निपुण हो कर भक्ति का सम्पूर्ण भण्डार हो जाता है, तब उस के तीनों साधन (योग, भक्ति और ज्ञान) सम्पूर्ण अवस्था पर पहुच जाते है और वह स्थिति प्राप्त (पूर्ण कर्म योगी) गुणातीत (गुणों से रहित) ज्ञानी और भक्त हो कर जीवमुक्त हो जाता है। वह प्रकृति के बंधन से निकल कर ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है। इसी लिये वह ब्रह्म रूप कहलाने का अधिकारी हो जाताहै। ब्रह्म आप अकर्त्ता है इस लिये सकाम भाव से भक्ति करने वाला उस में कैसे लय हो सकता है। इसी लिये कबीरजी ने कहाहै–

दोहा–'जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहि कबीर वह क्यों मिले निष्कामी निज देव" ॥

(८) मोक्ष गति पावे (९) सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाले, ब्रह्म को यथार्थ जानने वाले,और अद्वैत वेदान्त मतके अनुयायी भक्तको यहां पर ज्ञानी भक्तका नाम दिया गया है। इस लिये वह निश्चय ही सब से उत्तम है। प० काशी नाथ जी त्र्यम्बक की यह तर्कना कि यहां ज्ञानी को सब से उत्तम बताया है और छटे अध्याय में कर्म योगी को ज्ञानी से भी बड़ा कहा है इस लिये इन दोनों में परस्पर विरोध है हमको कुछ निर्मूल सी प्रतीत होतीहै। छटे अध्यायमें ज्ञानीका अर्थ ज्ञान मार्गी या सन्यासी है और यहां ज्ञानी का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाला अद्वैत भक्त है जो सब प्रकार से सिद्धि गति को प्राप्त किये हुये होता है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष

है (७) इस अज्ञान में फस कर बहुत से भक्ति भाव वाले यहा तक भ्रम में पड़े हुए हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म को विहारीजी कहतेहैं। यही कारण है कि भक्ति के सग में ज्ञानकी आवश्यकता रहतीहै(८) जो सारे लोकों में किसी के पास नहीं,ऐसी माया अर्थात् प्रकृति को यहा ईश्वर की शक्ति कहा है। इस का जानना बड़ा कठिन है। इस को वह ही जान सक्ता है जो विज्ञान रूपी नाव में बैठ कर और ईश्वर की भक्ति को खेवट बना कर अज्ञान रूपी नदी से पार उतर जाता है। (९) जो आप तर जाय वह "तरन" और जो औरों को तार दे वह "तारन" कहलाता है। (१०) दुष्ट लोग। (११) बुद्धि का नाश। (१२) जो अद्वैत प्रकृतिवाद अर्थात् नास्तिक मत या साख्य के द्वैत मत को सत्य मानते हैं, उनको यहा असुर भाव वाला कहा गयाहै। सोलहवे अध्याय (भजन ११६) में भी यही विचार प्रकट किया है। कारण यह है कि वह अज्ञान से अकेली प्रकृति को या पुरुष वा प्रकृति दोनों को स्वतन्त्र और जगत् का रचन वाला मान कर जगत् को निरीश्वर कहते हैं। इसी लिये वह ईश्वर तक पहुच ही नहीं सक्ते। अज्ञान तमोगुण का फल होता है। तमोगुणी पुरुष को सोलहवे अध्याय में भी असुर का नाम दिया गयाहै, इस लिये असुर का अर्थ अज्ञानी और तमोगुणी मनुष्य ही समझना चाहिये।

भजन नम्बर—६७ (श्लोक १६—१८)

[भक्तों के विभाग]

तर्ज़—मजा देते हैं क्या यार, तेरे बाल घूघर वाले।

सदा शुभ आचारी चार, कहे जायं भक्त हमारे।
इक भक्त एक वह अर्जुन। गावे दुख में जो मम गुन।
मिटि जाय भक्तिका सुनपुन। जन नाश होय दुख सारे ॥१॥
तू जान दूसरा उस को। निज काम हेतु रटता जो।
जब मनो काम पूरा हो। तब जी से मोहिं विसारे ॥२॥
वह भक्त तीसरा पक्का। जो चहे ज्ञान आतम का।
चौथा वह ज्ञानी नीका। जो तन मन मो पर वारे ॥३॥
जो नर ज्ञानी हो जावे। वह मोहिं नित्य ही ध्यावे।
वह मम स्वरूप कहलावे। धन्य पहुंचे मोरे द्वारे ॥४॥
यों तो शुभ गति चारों की। सर्वोत्तम ज्ञानी फिर भी।
प्रिय नित्य उन्हें हूं मैं ही। वह "विमल" मोहिं अति प्यारे ॥५॥

टिप्पणी

(१) भक्ति मार्ग पर चलने वाले को भी अपने आचारों को ठीक रखना और कर्मयोग साधन करना होता है। वह सब कम ईश्वर अर्पण करता है। यह विचार करना कि भक्त के लिये सब कर्म उचितई ठीक नहीं है। नवें अध्यायके अंतमें प्रत्यक्ष कहा गया है कि कुकर्मी भी जब भक्ति करताहै अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करता है या यों कहो कि कर्म योग का साधन करता है, तब वह सदाचारी बन कर ईश्वर को प्राप्त करता है। इस से प्रकट होता है कि मोक्ष से पहिले भक्त को भी सदाचारी बनना होता है। वाल्मीकि जी आदिक भक्तों की कथाओं में जो भक्तों के दुराचार उल्लेख हुये हैं, वह उस समय तक के कर्म हैं कि जब उन भक्तों का कर्म योग साधन पूरा नहीं हुआ था और इस लिये उन की भक्ति उस वक्त तक अधूरी थी। भक्ति में दृढ़ हो कर कोइ भक्त दुराचारी नहीं रहा (२) पिछले अध्याय में उन मनुष्यों का उल्लेख हुआ है जो ईश्वर से विमुख रह कर उस की शरण में नहीं जाते और असुर भाव रखते हैं। यहा उन लोगों का कथन है जो उस की शरण लेकर (भक्ति करके) उस को पाने का यत्न करते हैं। (३) ऐसे भक्त आर्त भक्त कहलाते हैं (जैसे गज और द्रौपदी)। (४) ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं (जैसे ध्रुव) (५) ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं (जैसे राजा परीक्षत)। (६) ऐसे भक्त ज्ञानी भक्त कहलाते हैं (जैसे प्रह्लाद)। (७) जब मनुष्य कर्म योग साधन करके अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करके और ज्ञान विज्ञान में निपुण हो कर भक्ति का सम्पूर्ण भण्डार हो जाता है तब उस के तीनों साधन (योग, भक्ति और ज्ञान) सम्पूर्ण अवस्था पर पहुच जाते हैं और वह स्थिति प्राप्त (पूर्ण कर्म योगी) गुणातीत (गुणों से रहित) ज्ञानी और भक्त हो कर जीवन्मुक्त हो जाता है। वह प्रकृति के बंधन से निकल कर ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है। इसी लिये वह ब्रह्म रूप कहलाने का अधिकारी हो जाताहै। ब्रह्म आप अकर्त्ता है इस लिये सकाम भाव से भक्ति करने वाला उस में कैसे लय हो सकता है। इसी लिये कबीरजी ने कहाहै–

दोहा–'जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहि कबीर वह क्यों मिले निष्कामी निज देव" ॥

(८) मोक्ष गति पावे (९) सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाले, ब्रह्म को यथार्थ जानने वाले, और अद्वैत वेदान्त मतके अनुयायी भक्तको यहा पर ज्ञानी भक्तका नाम दिया गया है। इस लिये वह निश्चय ही सब से उत्तम है। प० काशी नाथ जी त्र्यम्बक की यह तर्कना कि यहा ज्ञानी को सब से उत्तम बताया है और छटे अध्याय में कर्म योगी को ज्ञानी से भी बडा कहा है इस लिये इन दोनों में परस्पर विरोध है हमको कुछ निर्मूल सी प्रतीत होतीहै। छटे अध्यायमें ज्ञानीका अर्थ ज्ञान मार्गी या सन्यासी है और यहा ज्ञानी का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाला अद्वैत भक्त है जो सब प्रकार से सिद्धि गति को प्राप्त किये हुये होता है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष

हैं (७) इस अज्ञान में फस कर बहुत से भक्ति भाव वाले यहां तक भ्रम में पड़े हुये हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म को बिहारीजी कहते हैं। यही कारण है कि भक्ति के संग में ज्ञानकी आवश्यकता रहती है(८) जो सारे लोकों में किसी के पास नहीं,ऐसी माया अर्थात् प्रकृति को यहां ईश्वर की शक्ति कहा है। इस का जानना बड़ा कठिन है। इस को वह ही जान सकता है जो विज्ञान रूपी नाव में बैठ कर और ईश्वर की भक्ति को खेवट बना कर अज्ञान रूपी नदी से पार उतर जाता है। (९) जो आप तर जाय वह "तरन' और जो औरों को तार दे वह 'तारन" कहलाता है। (१०) दुष्ट लोग। (११) बुद्धि का नाश। (१२) जो अद्वैत प्रकृतिवाद अर्थात् नास्तिक मत या सांख्य के द्वैत मत को सत्य मानते हैं, उनको यहां असुर भाव वाला कहा गयाहै। सोलहवे अध्याय (भजन ११६) में भी यही विचार प्रकट किया है। कारण यह है कि वह अज्ञान से अकेली प्रकृति को या पुरुष वा प्रकृति दोनों को स्वतंत्र और जगत् का रचन वाला मान कर जगत् को निरीश्वर कहते हैं। इसी लिये वह ईश्वर तक पहुंच ही नहीं सकते। अज्ञान तमोगुण का फल होता है। तमोगुणी पुरुष को सोलहवे अध्याय में भी असुर का नाम दिया गयाहै, इस लिये असुर का अर्थ अज्ञानी और तमोगुणी मनुष्य ही समझना चाहिये।

भजन नम्बर—६७ (श्लोक १६—१८)

[भक्तों के विभाग]

तर्ज़—मजा देते है क्या यार, तेरे बाल घूघर वाले।

सदा शुभ आचारी चार, कहे जाय भक्त हमारे।
हैं भक्त एक वह अर्जुन। गावे दुख में जो मम गुन।
मिटि जाय भक्तिका चुनपुन। जब नाश होय दुख सारे ॥१॥
तू जान दूसरा उस को। निज काम हेतु रटता जो।
जब मनो काम पूरा हो। तब जी से मोहि बिसारे ॥२॥
वह भक्त तीसरा पक्षा। जो चहे ज्ञान आतम का।
चौथा वह ज्ञानी नीका। जो तन मन मो पर वारे ॥३॥
जो नर ज्ञानी हो जावे। वह मोहि नित्य ही प्यारे।
वह मम स्वरूप कहलावे। धनु पहुंचे मोरे द्वारे ॥४॥
यों तो शुभ गति चारों की। सर्वोत्तम ज्ञानी फिर भी।
प्रिय नित्य उन्हें हूं मैं ही। वह "विमल" मोहि अति प्यारे ॥५॥

टिप्पणी

(१) भक्ति मार्ग पर चलने वाले को भी अपने आचारों को ठीक रखना और कर्मयोग साधन करना होता है। वह सब कर्म ईश्वर अर्पण करता है। यह विचार करना कि भक्त के लिये सब कर्म उचितहैं ठीक नहीं है। नवें अध्यायके अंतमें प्रत्यक्ष कहा गया है कि कुकर्मी भी जब भक्ति करताहै अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करता है या यों कहो कि कर्म योग का साधन करता है, तब वह सदाचारी बन कर ईश्वर को प्राप्त करता है। इस से प्रकट होता है कि मोक्ष से पहिले भक्त को भी सदाचारी बनना होता है। बाल्मी जी आदिक भक्तों की कथाओं में जो भक्तों के दुराचार उल्लेख हुये हैं, वह उस समय तक के कम हैं कि जब उन भक्तों का कर्म योग साधन पूरा नहीं हुआ था और इस लिये उन की भक्ति उस वक्त तक अधूरी थी। भक्ति में दृढ़ हो कर कोई भक्त दुराचारी नहीं रहा (२) पिछले अध्याय में उन मनुष्यों का उल्लेख हुआ है जो ईश्वर से विमुख रह कर उस की शरण में नहीं जाते और असुर भाव रखते ह। यहा उन लोगों का कथन है जो उस की शरण लेकर (भक्ति करके) उस को पाने का यत्न करते हैं। (३) ऐसे भक्त आर्त भक्त कहलाते हैं (जैसे गज और द्रौपदी)। (४) ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं (जैसे ध्रुव) (५) ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते है (जैसे राजा परीक्षत)। (६) ऐसे भक्त ज्ञानी भक्त कहलाते हैं (जैसे प्रहलाद)। (७) जब मनुष्य कर्म योग साधन करके अर्थात् ईश्वर अर्पण कर्म करके और ज्ञान विज्ञान में निपुण हो कर भक्ति का सम्पूर्ण भण्डार हो जाता है, तब उस के तीनों साधन (योग, भक्ति और ज्ञान) सम्पूर्ण अवस्था पर पहुच जाते हैं और वह स्थिति प्राज्ञ (पूर्ण कर्म योगी) गुणातीत (गुणों से रहित) ज्ञानी और भक्त हो कर जीवन्मुक्त हो जाता है। वह प्रकृति के बंधन से निकल कर ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है। इसी लिये वह ब्रह्म रूप कहलाने का अधिकारी हो जाताहै। ब्रह्म आप अकर्त्ता है इस लिये सकाम भाव से भक्ति करने वाला उस में कैसे राय हो सकता है। इसी लिये कबीरजी ने कहाहै-

दोहा-'जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहि कबीर वह क्यों मिले निष्कामी निज देव" ॥

(८) मोक्ष गति पावे (९) सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाले, ब्रह्म को यथार्थ जानने वाले,और अद्वैत वेदान्त मतके अनुयायी भक्तको यहा पर ज्ञानी भक्तका नाम दिया गया है। इस लिये वह निश्चय ही सब से उत्तम है। प० काशी नाथ जी त्र्यम्बक की यह तर्कना कि यहा ज्ञानी को सब से उत्तम बताया है और छटे अध्याय में कर्म योगी को ज्ञानी से भी बडा कहा है इस लिये इन दोनों में परस्पर विरोध है, हमको कुछ निर्मूल सी प्रतीत होतीहै। छटे अध्यायमें ज्ञानीका अर्थ ज्ञान मार्गी या सन्यासी है और यहा ज्ञानी का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने वाला अद्वैत है जो सब प्रकार से सिद्धि गति को प्राप्त किये हुये होता है। ऐसी दशा

है कि ज्ञान मार्गी से (जो ज्ञान मार्ग द्वारा सिद्धि पाना चाहता है) ज्ञानी भक्त बडा है और इन दोनो वाक्यों में कोई विरोध नहीं है (१०) रामायण में भी इसी प्रकार कहा है—

सोरठा—' सत्य कहूं खग तोहिं शुचि सेवक मम प्राण प्रिय ।
अस विचार भजु मोहि, परिहर आस भरोस सब"॥

यहां भी काशीनाथजी इस वाक्य को नवे अध्याय (भजन ८६) के वाक्य का विरोधी बताते हैं । परन्तु हमारी मति में यह दोनों एक ही भावार्थ रखते हैं । ईश्वर अपनी ओर से किसी के संग प्रीति या वैर नहीं करता क्योंकि वह निर्गुण है, । मनुष्य अपने कर्मों से उस को अपना प्यारा या दुश्मन बना लेता है ।

(भजन नम्बर ६८— श्लोक १९- २३)

[भक्ति के विविध भाव और उन के फल]

तर्ज—हुआ जब पूत दशरथ के मुकद्दर हो तो ऐसा हो ।

बहुत से जन्म में ज्ञानी मुझे हे पार्थ पाता है ।
सभी है वासुदेवा मय कहा यह भाव आता है ॥१॥
हरे यह काम मति जिस की वही निज भाव अनुसारा ।
विविध ही देवताओं को विविधता से मनाता है ॥२॥
करे जो भक्त आराधन किसी भी रूप का चाहे ।
करूं श्रद्धा अचल उस की जहां वह जी जमाता है ॥३॥
किसी भी रूप को जब वह भजे है राखिकर श्रद्धा ।
रचे जो कर्म फल मैं ने उन्हें उन से रमाता है ॥४॥
मगर इस तुच्छ बुद्धी के सभी फल अंत पाते हैं ।
नहीं वह लाभ इस कारण सदा उन से उठाता है ॥५॥
भजे जो देवताओं का पहुंच जाता है वह उन पै ।
"विमल" जो भक्त है मेरा वही मम पास आता है ।

टिप्पणी

(१) पिछले भजन में चार प्रकार के भक्त बतला कर ज्ञानी भक्त को सब से उत्तम भक्त कहा गया है । यहां यह समझाया है कि ज्ञानी भक्त की पहुंच सहज में

प्राप्त नहीं होती है। अनेकों जन्म के पुरुषार्थ से यह हाथ आती है। प्रह्लाद जी जो ज्ञानी भक्त हुये वह कुछ बाल्यावस्था के थोड़े से समय की भक्ति के कारण उस पदवी को नहीं पहुंचे,बल्कि नहीं मालुम कि इस गति को पानेमें उनके कितने जन्म बीतेहोंगे। इससे यह बात भी सब में ही सिद्ध होती है कि भक्ति का भी कर्म योग के समान नाश नहीं होता। जितना प्रयत्न किया जाता है इतना ही फल मिल जाता है। इस लिये एक जन्म में की हुई भक्ति दूसरे जन्म में भक्ति भाव पैदा करके भक्ति करने में सहायता देती है। (२) ज्ञानी भक्त (३) ज्ञानी भक्त का यह लक्षण है कि वह सर्व पदार्थों को वासुदेव-मय अर्थात् ईश्वर का रूप मानता है और सब में उसी का प्रकाश समझता है। प्रह्लाद जी ने हिरण्यकशिपु के पूछने पर कि तेरा राम कहा है यही उत्तर दिया कि वह सब में मौजूद है। इसी गति को फारसी में "हमाओस्त" की अवस्था कहते हैं (४) तीसरे अध्याय में कह आये हैं कि कामना बुद्धि को छिपा लेती है। ' अपनी गरज बावली" प्रसिद्ध कहावत है। कामना से मनुष्य अन्धा होकर करने न करने योग्य कर्म कर बैठता है। जिन के मन में नाना प्रकार की वासनायें उठतीहैं, वह अपनी काम्य बुद्धि के कारण यह भूल जाते हैं कि केवल एक ईश्वर ही सर्व सृष्टि का मालिक और सर्व कर्मों का फल दाता है। वह यह आशा करते हैं कि देवताओं के पूजन भजन,व्रत उपासना, यज्ञ, जागरण, हवन आदिक से हमारी कामना जल्दी पूरी होगी, इस लिये जिस देवता की जैसी सेवासे उसको अपनी इच्छा पूर्ण होनेकी आशा होती है उसी देवता का,उसी प्रकार का आराधन करता है अर्थात् यह देव भक्ति मनो कामना की चाहना और अज्ञान के कारण होती है। (५) अपने अपने स्वभाव के अनुसार कोई किसी देवता की उपासना जी लगाकर करताहै कोई किसी की। एक प्रकार की सेवा सब को समान रीति से नहीं भाती। (६) सारे देवता ईश्वर रूप हैं। ईश्वर ही से उन की उत्पत्ति होती है। ईश्वर ही की शक्ति से उन की सेवा करके मनुष्य वरदान पाता है। स्मरण रहे कि गीता का यह भाव गीता की उच्च पदवी को प्रकट करता है। अन्यधर्मों की तरह यहां यह नहीं कहा गया है कि किसी विशेष धर्म ही से मनोकामना सिद्धि हो सक्ती है, बल्कि यह बतलाया गया है कि श्रद्धा सदा ही अपना फल दिखाती है और फल का पाना किसी विशेष देवता या ईश्वर पर निर्भर नहीं है। (७) जो मनुष्य जिस देवता की भक्ति करता है उस को उसी का इष्ट अधिक होता जाता है। इस नियम का बनाने वाला ईश्वर है। इस कारण वही देवताओं की ऐसी भक्ति को भी अचल बनाता है (८) कर्म-फल ईश्वर ने निश्चय किये हैं। देव पूजन के फल भी उसी के बताये हुये नियमों के अनुसार मिलते हैं (९) काम्य बुद्धि से देव भक्ति करने को इस कारण तुच्छ कहा गया है कि इसका फल नाशवान होता है। ऐसे भक्त का ध्यान आवागमन से मोक्ष पाने की ओर नहीं होता।इसी लिये रामायण में कहा है

चौपाई

" अति तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अत दुखदाई' (१०) देवताओं की गति स्वर्ग है और ईश्वर की वैकुण्ठ अर्थात् मोक्ष। जो स्वर्ग की चाहना रखते हैं और वहा के सुख चाहते हैं वह देवताओं की अर्थार्थी भक्ति करते हैं। जो ईश्वर के सच्चे भक्त हैं वह उस की निष्काम भक्ति करते हैं। मनुष्य को अधिकार है कि वह उन दोनों में से जिसको चाहे पसन्द करले। यहां अद्वैत वेदान्त के मतानुसार जो मनुष्य सर्व पदार्थों में एक ही ईश्वर का रूप देखकर भक्ति में लगा रहता है उस को सब से उत्तम कहा है। चौथे अध्याय में" सबका आत्मा में समाना" और छटे अध्याय में ' आत्मा सो परमात्मा" इसी भाव का कहा गया है। (११) मोक्ष पाता है।

(भजन नम्बर ६६— श्लोक २४-३०)

[ईश्वर का परम भाव और उस की भक्ति]

तर्ज—यह आना राम का वन से कौशिल्या को मुबारिक हो।

नहीं बुद्धी रखाये जो मुझे गोचर बताती है।
परम गुण श्रेष्ट अरु अव्यय नहीं जी में समाता है ॥१॥
प्रकाशित मैं नहीं जग में छिपा हूं योग माया से।
अजन्मा और अव्यय गुण कहां जग मूढ पाता है ॥ २ ॥
मुझे तिरकाल भूतों का बना सब ज्ञान रहता है।
मगर मम ज्ञान या जग में नहीं कोई धराता है।
धनञ्जय द्वेष इच्छा से उपजता द्वन्द्व जो जी में।
इसी के वेग से जग में मनुज पर मोह छाता है ॥ ४ ॥
करे जो नाश पापों का मिटाये द्वन्द्व जो जी से।
सदाचारी वही दृढ से मुझे जी में बिठाता है ॥ ५ ॥
करे जो यत्न मम आश्रय जरा मृत्यू निवेदन का।
धनञ्जय कर्म अध्यात्म सहित वह ब्रह्म पाता है ॥ ६ ॥
मुझे जो जान ले अधिदैव और अधियज्ञ अधिभूतम्।
"निमल" मरते समय मों में वही जन लौ लगाता है ॥ ७ ॥

टिप्पणी

(१) इन्द्रियों से प्रतीत होने वाला अर्थात् व्यक्त रूप ईश्वर का परम भाव नहीं है। उसका सच्चा स्वरूप अव्यक्त या निर्गुण है। मनुष्य में यह शक्ति नहीं है कि वह इस उत्तम और अविनाशी अव्यक्तरूप को किसी तरह समझ सके। यही कारण है कि उसका स्वरूप बतानेके हेतु व्यक्त गुणों के जताने वाले शब्द बोलने पडते हैं। बहुत करके परस्पर विरोधी गुणों से उसका वर्णन किया जाता है, जैसे कि वह सत्य भी है और असत्य भी है, सबके पास भी है और सबसे दूर भी, सबके भीतर मौजूद भी है और सबसे न्यारा भी, (देखो अध्याय १३ भजन १०३)। असल में वह सब गुणों से रहित है। इसी वास्ते वेदों में उसके गुणोंका कथन करके अन्त में यही कहा गया है कि वह "नेति नेति" (यह भी नहीं) है। सच तो यह है कि हम शब्दों के द्वारा उसका कथन कर ही नहीं सकते। इस परम भाव का जानना और समझना बड़ा दुर्लभ है। जो लोग इस भावको ग्रहण करनेके योग्य न होकर उसको व्यक्त मानते हैं वह बुद्धि हीन हैं अर्थात् उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। शुद्ध बुद्धि वाला ही अव्यक्त और अगोचर रूपको जान सकता है। (२) जो कभी न बदले। (३) इन्द्रियों को प्रतीत होने वाला। (४) वह पूर्ण शक्ति जिसके द्वारा ईश्वर जगत् की रचना करता है। जब सृष्टि की उत्पत्ति के आरम्भ होते ही सर्व पदार्थों को बनाने वाली प्रकृति सगुण हो जाती है, तब ब्रह्म का निर्गुणरूप छिप जाता है। इस लिये प्रकृति से पैदा होने वाले प्राणी से भी यह निर्गुणरूप छिपा रहता है। जब वह मोक्ष पाकर इस सगुण रूपको छोड़ देता है तब निर्गुण रूप के देखने योग्य होता है। रामायण में भी कहा है—"माया छिन्न न देखिये जैसे निर्गुण ब्रह्म"। (५) जिसका जन्म न हो। चौथे अध्याय के आरम्भ में भी कहा गया है कि मैं अजन्मा और अनन्त हूं। वहां टिप्पणी द्वारा प्रकट कर दिया गया है कि अजन्मा और अनन्त कहते समय श्री कृष्ण जी अपनी मानवी देह का विचार न करके अपनी निर्गुण ब्रह्म वाली शक्ति के सम्बन्ध में इन शब्दों का उपयोग कर रहे हैं। ईश्वर निर्गुण है इस लिये वह अजन्मा भी है। कारण यह कि जिस का जन्म होता है उस में विकार भी होना आवश्यक है। जिस में विकार होता है उस का नाश भी जरूर होता है। ईश्वर अविनाशी है इस लिये अजन्मा भी है (६) ईश्वर सर्वज्ञ है इसलिये उसको उन सब भूतों अर्थात् प्राणियों का ज्ञान रहता है जो पहिले हो चुके हैं, अब मौजूद हैं या आगे पैदा होंगे। इसके विपरीत मनुष्य की बुद्धी में मोह और अज्ञान पडा हुआ है, इसलिये उसको ईश्वर के सच्चे अव्यक्त और निर्गुण रूपका ज्ञान नहीं होता। (७) द्वन्द्व उस भेद भाव का नाम है जिस के द्वारा मनुष्य किसी पदार्थ को अच्छा समझकर उसमें प्रेम करता है और किसी को बुरा जान कर उस से परे भागता है, प्रिय पदार्थ को प्राप्त करने और प्राप्त होने पर अपने पास बने रहने की इच्छा करता है, और अप्रिय पदार्थ से द्वेष रखता है। इसलिये यह इच्छा और द्वेष ही द्वन्द्वता का कारण है (८) इच्छा

और द्वेषसे मनुष्य की बुद्धि प्रभावित होकर ठीक ठीक निर्णय करने के योग्य नहीं रहती। उस की बुद्धि को उस की भावना के अनुसार ही सूझती है और असली बुराई भलाई दिखाई नहीं देती। इसी का नाम मोह है। इसलिये मोह की जड़ द्वन्द्वता है। दूसरे अध्याय के अंत में इसी को विषय चाह से संग भाव का बढ़ना, संग भाव से काम का उपजना, काम में विघ्न पड़ने से क्रोध का प्रकट होना और क्रोध से मोह का उत्पन्न होना कहा है। (६) भजन ६७ में यह बताया जा चुका है कि भक्त के वास्ते भी सदाचारी और कर्म योगी होना जरूरी है। इसी बात को यहां दूसरी परिभाषा में वर्णन किया गया है (१०) भक्ति करता है (११) ईश्वर की शरण लेकर जो मनुष्य आवागमन से बचने का प्रयत्न करता है वही ज्ञाता है। यहां भी "आश्रय" के शब्द से भक्ति और "यत्न" के शब्द से ज्ञान सहित कर्म योग का भाव टपकता है। या यों कहो कि इन से गीता की यह प्रधान शिक्षा प्रकट होती है जिस के अनुसार भक्ति, ज्ञान और कर्म योग तीनों ही को मिला कर आवागमन का साधन बताया गया है (१२) जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु (मौत) का दुःख और झमेला तब ही निबड़ता है कि जब आवागमन से रहित होकर मोक्ष मिलती है। बुढ़ापे और मौत के दुःखों के चित्र मुंशी सूरज नारायन महर ने अपने "कमाल महर" और नज़ीर ने अपने "कुल्यात नज़ीर" में खूब खींचे हैं। (१३) संसार-चक्र के चलने को जिसे तीसरे अध्याय में "ब्रह्म यज्ञ" कहा है यहां "कर्म" का नाम दिया है। इसलिये कर्म को जानना ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता होना है। जीवात्मा का ज्ञान, सर्व पदार्थों की मूल तत्व, उनकी उत्पत्ति और नाश आदिक के भेदों का जानना आत्म-ज्ञान का ज्ञाता होना है। ईश्वर के सर्व स्वरूपको जानना ब्रह्म का ज्ञाता होना है। जब तक कर्म योग, ज्ञान विज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) और ब्रह्म ज्ञान नहीं आते तब तक मनुष्य मुक्तिपाने, और आवागमन से बचने का सच्चा यत्न करने वाला नहीं कहलाया जा सकता। जो इनसे रहित हैं वह मुक्तिमार्ग में स्थिर नहीं रहते। विषय भोगों की ओर से वैराग्य तभी होता है कि जब विज्ञान आजाये। इसीलिये योग वशिष्ट में विज्ञानी की पहिचान यह बताई गई है कि उसका जी विषयों में नहीं फंसता। जो विज्ञानी नहीं होते वह जहां कोई कठिनाई पड़ती है धर्म मार्ग से भ्रष्ट डिग जाते हैं। उन में यत्न करने की दृढ़ता नहीं होती। यही कारण है कि १२वें अध्याय में कहा है कि पहिले व्यक्त अर्थात् सगुणरूपकी उपासना करनी उचित है। जब कर्म-योग और व्यक्त उपासना से अध्यात्म ज्ञान पूर्ण हो जाताहै, तब अव्यक्त अर्थात् निर्गुण भाव समझ में आता है। (१४) अगले अध्याय में "ब्रह्म," 'अध्यात्म' 'कर्म," "अधिभूत," 'अधिदैव' और अधियज्ञ का विस्तार होगा। उन के अर्थ के लिये देखो आठवें अध्याय का सार। (१५) धर्म शास्त्रों और उपनिषदों की यह सिद्धान्त मान्य है कि मरते समय मनुष्य की जैसी भावना होती है उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है। गीता में भी दूसरे अध्याय के अन्त में इसका उल्लेख होचुका है। अगले

अध्याय में और अन्य स्थानों में भी इसका वर्णन है। इसलिये मोक्ष अर्थात् ब्रह्मपद चाहने वाला मरते समय ब्रह्म ही में ध्यान लगाता है।

आठवें अध्याय का सार

पिछले अध्याय में जो विज्ञान का कथन प्रारम्भ हुआ था वह वहां समाप्त न हो कर इस अध्याय में जारी रहता है। वहां परमात्मा के प्रकृति और पुरुष के द्वारा जगत् की रचना करने का उल्लेख हुआ, यहां ब्रह्म, अध्यात्म, प्रकृति और कर्म के अर्थ वर्णन हैं।

सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में जैसा कि पिछले अध्याय के सार में कहा जा चुका है बहुत मत भेद है। कारण यह है कि यह विषय अगोचर और गूढ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि एक समय बहुत से ऋषियोंने इकट्ठे हो कर विचार किया कि इस जगत् का कारण कौन है। पहिले उन्होंने उन सब तत्त्वों पर विचार किया जिनको उस समय में जगत् का कारण माना जाता था। इसलिये यदृच्छा (इत्तफाक), काल (वक्त), नीति (कानून), प्रकृति (माया) पुरुष (जीव), अध्यात्म (स्वभाव) जो भिन्न भिन्न मतों में जगत् का कारण माने जाते थे, सब पर विवाद हुआ। परन्तु यह सब ही जगत् का कारण निश्चित न हुये। फिर उन्हों ने समाधि लगा कर इस भेद के जानने का प्रयत्न किया। इस से उनको मालूम हुआ कि एक परमात्मा ही सबका आदि कारण है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें भी इस विषय पर मत भेद है। कणाद के वैशेषिक शास्त्र में काल को, जैमिनि के पूर्व मीमांसा में कर्म को, गौतम के न्याय शास्त्र में ब्रह्म ईश्वर या जीव को सृष्टि का बनाने वाला बताया गया है। इस अध्याय में ऐसे ऐसे विचार वाले मतों या पन्थों पर ध्यान देते हुये श्री कृष्ण भगवान ने ब्रह्म, अधिभूत अधिदेव आदिक शब्दों का उपयोग किया है। जो यह मानते हैं कि प्रकृति ही जगत् को रचाती है अर्थात् जो प्रकृतिवादी (नास्तिक) या आधिभौतिक पथ वाले हैं वह जगत् के सच्चे कारण (ईश्वर) को यह समझना चाहिये कि 'अधिभूत" (प्रकृति या क्षर) समझते हैं। जिनका यह मत है कि पुरुष ही से यह रचना होती है अर्थात् जो आधिदेवक पथ वाले हैं, वह सृष्टि के सत्यमूल (ईश्वर) को यह समझना चाहिये कि "अधिदेव" (पुरुष या अक्षर) समझते हैं। जो यह विचार रखते हैं कि स्वभाव या निज आत्मा ही जगत् के सर्व पदार्थों की उत्पत्ति करता है अर्थात् जो आध्यात्मिक पथ वाले हैं वह संसार के असली कारण (ईश्वर) को यह समझना चाहिये कि 'आध्यात्म" (स्वभाव) समझते हैं। जो कर्म को विश्व रचना का कर्त्ता जानते हैं अर्थात् जो पूर्व मीमांसक हैं वह सब के मूल द्रव्य तत्व (ईश्वर) को यह समझना चाहिये कि "अधियज्ञ' समझते हैं। जिन का यह विश्वास है कि एक अव्यक्त पुरुषोत्तम ही सब का सच्चा मूल है अर्थात् जो उत्तर मीमान्सक या वेदान्ती हैं वह यह समझना चाहिये कि विश्व का जड़ "ब्रह्म"

(ईश्वर) को मानते हैं। सारांश यह है कि किसी प्रकार की भावना रखकर किसी प्रकार भी विचार किया जाय, वही एक परमात्मा व्यक्त रूप से सब भूतों में (अधिभूत होकर) सब देवताओं में (अधिदेव होकर) सब की आत्मा में (अध्यात्म होकर) और सब कर्मों में (अधियज्ञ होकर) मौजूद है। वह ही अव्यक्त रूप से (ब्रह्म हो कर) सब में समाया हुआ है। या यों कहो कि अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म, अधियज्ञ और ब्रह्म सब ही उस परमात्मा के विविध रूपों के भिन्न भिन्न दृष्टि से विस्तार हैं। तात्पर्य इन सब का एक है। भेद केवल शब्दों का है। तैत्तरीयोप निषद् में पंच लोक पचक, पचदेव पचक व पंच भूत पचक को आधिभौतिक उपासना और पंच वायु पंचक पंच इन्द्रिय पचक या पंच धातु पचक को आध्यात्मिक उपासना कहने का भी यही अभिप्राय है।

स्मरण रहे कि "ब्रह्म" में प्रकृति और पुरुष (अधिभूत या अधिदेव) दोनों शक्तियां मौजूद हैं अर्थात् अधिभूत और अधिदेव के सम्पूर्ण भण्डार का नाम 'ब्रह्म' है। फारसी वाले इसी ब्रह्म को वाजिब उल वुजूद" कहते हैं। ब्रह्म में पुरुष के संग प्रकृति इस तरह लगी हुई है जैसे मनुष्य के संग परछाईं। यही कारण है कि ब्रह्म की यह दोनों शक्तियां ब्रह्म की समान अनादि कहलाती हैं।

'अध्यात्म" ब्रह्म के उस भाव या अंश का नाम है जो ब्रह्म के प्रकाश में एक पूर्ण रूप धारण करता है। जिस प्रकार धूप में अनगणित पानी के घड़े रखने से हर एक घड़े में सूर्य का पूर्ण रूप दिखाई देता है, उसी प्रकार ब्रह्म का जो पूर्ण रूप एक देह में उपस्थित होता है वह ही अध्यात्म कहलाता है। या यों कहो कि जब अधिभूत (प्रकृति) और अधिदेव (पुरुष) दोनों मिल कर एक न्यारा पूर्ण रूप पाते हैं तब ही यह अध्यात्म बन जाते हैं। तेरहवें अध्याय की परिभाषा में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से "अध्यात्म" बनता है। यह अध्यात्म ही फारसी में मुमकिन उल वुजूद कहलाता है। जब अध्यात्म का न्यारापन दूर हो कर यह दोबारा ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है तब वह फिर ब्रह्म हो जाता है।

"अधिदेव" वह चेतनता है जो सब प्राणियों का जीवन बनाये रखती है। इसी को साधारण मनुष्य 'जान," सांख्य शास्त्र में 'पुरुष," और वेदान्त में "अक्षर" या "क्षेत्रज्ञ" कहते हैं।

"अधिभूत" वह जड़ भाव है जिस के द्वारा सृष्टि में सारे पदार्थ बनते हैं। इस ही को सांख्य शास्त्र में "प्रकृति," वेदान्त में 'माया' या "क्षर या 'क्षेत्र'" कहा है।

"कर्म" उस यज्ञ या क्रिया का नाम है जिस के द्वारा ब्रह्म अपनी पुरुष और प्रकृति रूपी शक्तियों से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। या यों कहो कि उस के द्वारा अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म से नाम रूप आत्मक वस्तुयें उत्पन्न होती हैं। इसी का तीसरे अध्याय और उपनिषदों में 'महायज्ञ' का नाम दिया गया है।

"अधियज्ञ" उस ब्रह्म का नाम है जो 'कर्म" (महायज्ञ) के द्वारा सृष्टि का उत्पन्न करता है अर्थात् सर्व कर्मों की जड़ है। कर्म के आरम्भ में रहने इस की गति को शुद्ध ब्रह्म भी कह देते हैं। जब शुद्ध ब्रह्म विश्व रचना का संकल्प करता

कर्म द्वारा सगुण हो जाता है तब उस का नाम ब्रह्म हो जाता है। अधियज्ञ (शुद्ध ब्रह्म) की पदवी इसी कारण अगोचर है। उसमें कभी विकार या परिवर्तन नहीं होता। इसी लिये यह गति सब से उत्तम है। ब्रह्म में प्रकृति के संग से विकार होता है।

ब्रह्म में जा मिलने के हेतु अध्यात्म (जीव) को सदा ही ब्रह्म का इसकारण ध्यान करना पड़ता है कि मरते समय उसका ध्यान जी में जमा रहे। मरते समय ब्रह्म में ध्यान जमाने की आवश्यकता इस कारण रहती है कि जिस वस्तु का ध्यान मरते समय होता है उसी के अनुसार मनुष्य की गति होती है। मरते समय यदि ब्रह्म का ध्यान हो तो ब्रह्म ही की गति मिलती है। यदि जीवन भर ऐसा न किया जाय तो मरते समय ब्रह्म का ध्यान नहीं बंध सकता, क्योंकि मरते समय वह ध्यान बंधता है जो जीवन में प्रधान भाव रहा हो। देखो प्रश्न उपनिषद् के दूसरे प्रश्न का दसवां मंत्र।

ब्रह्म में मरते समय ध्यान लगाये रखने के लिये 'त्रिपुटी ध्यान" (शगल शमसी) का साधन करना चाहिये। इस साधन की विधि इस अध्याय के श्लोक ६ व १० में वर्णन है। परन्तु यह साधन तभी हो सकता है कि जब पहिले 'सुरत साधन और ' नासाग्र अभ्यास ' करना आजाता है जिन का उल्लेख पांचवे छटे अध्याय में हो चुका है।

इसी त्रिपुटी ध्यान की साधना के हेतु सारी इन्द्रियों को रोकना, मन को स्थिर रखना और प्राणों को' ओम्" महा मंत्र के संग कपाल में चढ़ाना होता है। सब तरफ से मन हटा कर परमात्मा में ध्यान लगाना पड़ता है। इस लिये कर्म योग और भक्ति के बिना यह साधन पूर्ण नहीं होता।

इस त्रिपुटी ध्यान का फल यह होता है कि मनुष्य आवागमन से छूट कर परमात्मा की परम गति को पाता है। इस गति से लौट कर आने की आवश्यकता नहीं रहती। सृष्टि की रचना का भेद मालूम हो जाता है। यह जान लिया जाताहै कि संसार की उत्पत्ति और संहार का चक्र किस तरह चलता रहता है। इसी लिये संसार उस को मिथ्या (नाशवान) और ब्रह्म परम अक्षर (अविनाशी) दिखाई देने लगते हैं। जो ब्रह्म साधारण मनुष्यों से छिपा रहता है उसे उसके साक्षात् दर्शन हो जाते हैं। जो योगी और ब्रह्म ज्ञानी इस अनुभव की गति में चोला छोड़ता है वह ब्रह्म पद पाता है अर्थात् ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है। जो अज्ञान में पड़े रह कर मोह गति में देह त्यागता है, वह आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है।

यही कारण है कि योग की पदवी ज्ञान चर्चा दान, यज्ञ, तपादिक से बढ़ कर मानी गई है। जो अज्ञानी हैं वह मलीन बुद्धि के कारण यह समझते हैं कि सर्व पदार्थों को भोगना ही सच्चा सुख है और मन माने भोग भोगना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। वह यह नहीं जानते कि

" अस्प हो आजाद, सरपट कूद होता है सवार।
अस्प हो मुतलक इना हैरान रोता है सवार ॥
इन्द्रियों के घोड़े छूटे वाग डोरी तोड़ कर।
वह मरा वह गिर पड़ा अस्वार शिर मुँह फोड़ कर ॥
हां वह है आजाद जो क़ादिर है दिल पर जिस्म पर।
जिस का मन क़ाबू में है कुदरत है शक्लो इस्म पर ॥
ज्ञान से मिलती है आजादी यह राहत सर बसर।
वार कर फेंकू मैं उस पर दो जहां का मालोजर" ॥

(१) घोड़ा (२) स्वतन्त्र (३) बेलगाम (४) काबू रखने वाला।
(५) काबू में रखने की शक्ति (६) नाम व रूप (७) आराम (८) धनदौलत।

आठवां अध्याय ।

महापुरुष योग

(भजन नम्बर ७०—श्लोक १—८)

[ब्रह्मादिक शब्दों के अर्थ]

दोहा—अर्जुन सुन कर यह कथा, बोला हे भगवान ।
"अध्यात्म" अरु "ब्रह्म" का, "कर्म" सहित दो ज्ञान ॥

चौपाई

को "अधि भूत" और "अधि देवा" । को "अधि यज्ञ" यज्ञ का लेवा ।
मरन समय मन रोकन हारा । किस विधि राखे ज्ञान तिहारा ।
यह सुन बोले कृष्ण कन्हाई । परमाक्षर ही "ब्रह्म" कहाई ।
"अध्यातम" निज भाव कहाये । पुरुष नाम "अधि देव" धराये ।
जो क्षर सो "अधि भूत" कहाये । सृष्टि प्रलय सब "कर्म" कराये ।
पार्थ तुझे "अधि यज्ञ" बताऊं । मैं ही या तन में कहलाऊं ।
अन्त काल जब काया त्यागे । जो जिस का मम पद में लागे ।
"विमल" मिले वह मोरे माही । या में कोई संशय नाही ।

सोरठा—अंत रहे जो ध्यान, जीते जी के भाव से ।
त्यागन करके मान, वही भाव फिर भी मिले ॥

छन्द

मोरा सदा ही ध्यान धर के युद्ध कर तू इस लिये ।
मन बुद्धि को संकल्प करि जो ध्यान कर मोमें जिये ।
जो साध कर अभ्यास अरु मन रोक कर चिन्तन गहे ।
वह ही परम अरु दिव्य पुरुष महान् में जाकर रहे ॥

टिप्पणी

(१) महा पुरुष, आदि पुरुष, पुरुषोत्तम आदिक सब नाम उसी ब्रह्म के हैं जो

ससार की रचना करता है। (२) इन सब शब्दों के अर्थ के वास्ते देखो इस अध्याय का सार। (३) इन्द्रिय-निग्रह करने वाला कर्म योगी भक्ति को बढ़ा कर जिस प्रकार मरते समय ब्रह्म का ध्यान करता है, उस की विधि अगले भजन में कथित है। (४) साख्य शास्त्र में अव्यक्त प्रकृति को अक्षर माना गया है और वेदान्त में पुरुष या जीव को। इस कारण अक्षर ब्रह्म के साथ "परम" का शब्द जोड़ कर ब्रह्म की गति को प्रकट किया है जिस में साख्य और वेदान्तके भिन्न भिन्न अर्थवाले "अक्षर" शब्द से इस शब्द में गड़बड़ न हो। ब्रह्म इन दोनों से न्यारा है। यह दोनों ब्रह्म की अनादि शक्तियां हैं। वेदान्त के अनुसार सृष्टि के सब नाशवान पदार्थ 'क्षर" या व्यक्त है और उन में जो अविनाशी सारभूत (तत्व) होता है वह "अक्षर 'या अव्यक्त कहलाता है। स्मरण रहे कि वेदान्त मत पुरुष को ब्रह्म का अंश मानता हुआ साख्य मत की तरह उसको असंख्य (अनगनित) नहीं मानता। (५) अधियज्ञ के सकल्प से सृष्टि की रचना और उस के उस अंश से जो देह में वास करता है कर्म (यज्ञ) करने का विचार पैदा होता है। वह ही यज्ञ का फल भोगता है (६) दूसरे अध्याय के अन्त में और अन्य स्थानों पर इस सिद्धान्त का कई बार उल्लेख हो चुका है। (७) ब्रह्म में जा मिले अर्थात् मुक्ति पावे। (८) यह शंका होसकती है कि जब मरते समय पर जैसा भाव होता है उसी के अनुसार अगला जन्म होता है, तब जीवन को ब्रह्म के ध्यान में व्यतीत करने से क्या लाभ है? केवल मरने समय पर ऐसा विचार होना चाहिये। परन्तु किसी विरले के साथ ऐसा हो जाय तो हो जाय, नहीं तो सदा यही देखा जाता है कि मरते समय मनुष्य का ध्यान उसी भाव में जमता है जो जीवन में उस का मुख्य भाव रहा हो। इस लिये मरते समय ब्रह्म में चित्त स्थिर रखने के हेतु मन को वासना रहित बनाने और ब्रह्म में लगाने की आदत होनी चाहिये अर्थात् कर्म योग और भक्ति के भाव को अपने जीवन में प्रधान बनाना चाहिये। अध्याय ७ श्लोक २३ और अध्याय ६ श्लोक २१ का भी यही भावार्थ प्रतीत होता है। (९) भक्ति कर। (१०) कर्म योग का धारण कर। यहां भी भक्ति और योग दोनों को संग संग धारण करने की शिक्षा देकर यह प्रकट किया गया है कि इन दोनों में विरोध नहीं है बल्कि यह परस्पर सहायक हैं। इस लिये भक्त सन्यासी (कर्म त्यागी) नहीं होता। (११) जो कर्म योग इन्द्रिय-निग्रह और भक्ति का अभ्यास करके ईश्वर का चिन्तन करता है वह ब्रह्म गति पाता है। पुरुष यह अधिदैव है जिस का अर्थ ऊपर हुआ और जिस का बृहदारण्यक प्रश्न आदिक उपनिषदों के अनुसार सूर्य लोक में वास माना गया है। इस का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पुरुष अज्ञान के अंधकार को दूर करने वाली परम अवस्था का रखने वाला है। इसके अतिरिक्त सर्व जीवों के जीवन का आधार और पदार्थों में विकार उत्पन्न करने का कारण सूर्य है। इस दृष्टि से भी ऐसा कहना सत्य प्रतीत होता है। परम और दिव्य पुरुष यह अव्यक्त ब्रह्म है जिस को इस अध्याय में महापुरुष कहा गया है।

भजन नं० ७१ (श्लोक ८—१६)

(त्रिपुटी ध्यान की विधि और उसका फल)

तर्ज--बिनती कुवर किशोरी मेरी मान मान मान ।
बिन चूक मोते मान की मत ठान ठान ठान ॥

जो अन्त काल माँहि दिखा योग पैतरे ।
निज प्राण भौंहो बीच टिकाकर अडिग करे ॥१॥
हो आप भक्ति युक्त करे चित्त जो अचल ।
अरु लौं लगाय ध्यान परम ब्रह्म में धरे ॥२॥
ध्याय कि ब्रह्म राज करे अरु पुराण है ।
है सूर्यरूप ज्योति तमम भाव से परे ॥ ३ ॥
जो है अचिन्तरुप अणू अरु कवी पती ।
नह वास दिव्य और परम पुरुष में करे ॥४॥
अक्षर जिसे बताय रहे वेद के धनी ।
प्रविष्ट जिस में हो यति वैराग से भरे ॥ ५ ॥
जिस के लिये निभाय मनुज ब्रह्मचर्य को ।
सन्क्षेप से बताऊ, वही मार्ग किमि सरे ॥ ६ ॥
जो रोक के क्रियाय सभी अग अग की ।
सब भान्ति साधि साधि हृदय बीच मन धरे ॥७॥
ठहराय प्राण योग सहित जो कपाल में ।
मम और ओम् जाप सहित काल अनुसरे ॥८॥
मम परम गति कमाय धनञ्जय वही मनुज ।
तन नाशवान् दुःख सदन फिर नहीं धरे ॥९॥
वह योग युक्त पुरुष मुझ पाय सहज में ॥१०॥
मम ध्यान जो लगाय तजे अन्य आसरे ।

जो लोक ब्रह्म लोक तलक हैं बने हुये।
उन के मिले न टार पुनर्जन्म की टरे ॥११॥
पर मम सुधाम प्राप्त करे जो मनुज "विमल"।
न तो वह जन्म लेत फिरे अरु न वह मरे ॥ १२ ॥

टिप्पणी

(१) अर्जुन ने पिछले भजनमें यह प्रश्न किया था कि योगी मरन समय किस प्रकार ईश्वर से ध्यान लगाता है, उस का यहा यह उत्तर दिया गया है कि जो कर्म-योगी योग,भक्ति और ज्ञान विज्ञान से ब्रह्म के ध्यान में लौ लगाये हुये देह छोड़ता है वह ब्रह्म गति पाता है। (२) पहिले भी कहा जा चुका है कि गीता के मत अनुसार योग भक्ति और ज्ञान विज्ञान तीनों ही मिल कर मोक्ष का साधन हैं। गीता का इन में किसी विरोध का होना मान्य नहीं है (३) मन का निष्काम हो कर स्थिर रहना ही मोक्ष दिलाता अर्थात् ब्रह्म गति देता है। किसी कवि ने इसी बात को कैसा अच्छा दर्शाया है—

"सरापा आरज़ू होने न बन्दा कर दिया मुझ को
वगरना हम खुदा थे गर दिले बे मुद्दआ होता"

(४) यह निर्गुण ब्रह्म अर्थात् महापुरुष के आठों लक्षण जो यहा वर्णन हैं उपनिषदों से लिये हुये मालूम होते हैं। (५) पुरातन (६) ब्रह्म का प्रकाश उपमा रहित है। सूर्य से बढ़ कर प्रकाशमान कोई वस्तु हमने नहीं देखी है, इस कारण उस ही से उपमा दी जाती है। ग्यारहवें अध्याय के श्लोक बारह (भजन ८८) में उस का प्रकाश हज़ारों सूर्यों से अधिक बताया गया है। (७) वह माया रूपी अंधकार से रहित है क्योंकि प्रकृति का वह तम् नामक गुण जो अंधकार को पैदा करता है उस में प्रवेश नहीं कर सकता। देखो भजन नम्बर ६६। (८) जो चिन्तन में नहीं आसकता अर्थात् अगोचर है। इसी कारण वेदों में उस को "नेति" "नेति" (यह भी नहीं यह भी नहीं) कहा है। (९) परमाणुओं का भी परमाणु (ज़र्रों का भी ज़र्रा)या सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म। ईश्वर की कारीगरी बड़ी बड़ी वस्तुओं ही से प्रकाशित नहीं होती बल्कि सूक्ष्म पदार्थों से और भी अधिक रीति से प्रकट होती है। मनुष्य की देह का विचार करके ईश्वर की कारीगरी का अनुभव होता है परन्तु मनुष्य देह में बालों के भीतर जो जूं पड़ जाती है जब उस की ओर ध्यान किया जाय कि वह इतना सूक्ष्म शरीर रखती हुई भी सब अंग पूरे पूरे रखती है तब ईश्वर की शक्ति का अनुमान और भी अधिक होता है। (१०) सब कुछ जानने वाला। कविताई करने वाले मनुष्य का सच्चा गुण उस की सर्वज्ञता होती है, इसी लिये वह कवि कहलाता है। (११) जो सब का शासन करे। (१२) उस ब्रह्म को पाता है जिस के लक्षण ऊपर बताये हैं। (१३) अविनाशी (१४)

इन्द्रियों को जीतने वाला। (१५) जी म किसी वस्तु के सग सम्बध न रखना वैराग्य कहलाता है। (१६) थाडा थोडा (१७) ऊपर जो साधन योग बल को बढ़ा कर, भक्ति भाव रख कर, मन को अचल बना कर, और प्राणों को भौंहों के बीचमें ठहराकर ब्रह्म में ध्यान जमानेके लिये बतायाहै वह योगसखोपनिषद् (अथर्वण वेद) में वर्णनहै। यह त्रिपुटी ध्यान भी कहलाता है। इसकी विधि यहा यह बताई है कि "ओम्" का उच्चारण करके स्वास को कपाल में चढ़ाया जाता है। भाहों के बीच में दृष्टि को जमाने और प्राणों को कपाल में चढ़ा कर ठहराने से चित्त की चंचलता बद हो जाती है। स्वास के साथ साथ ही मनुष्य में विचार उत्पन्न होते हैं, इस लिये जब प्राण कपाल में ठहर जाते हैं तब विचारों की धारा बद हो जाती है। यही कारण है कि जितने साधन गीता में बताये गये हैं उन सब की विधि में यह अग उपस्थित है। (१८) वह निर्गुण ब्रह्म की गति जिस के लक्षण ऊपर कथन हुये हैं (१९) जो निर्गुण ब्रह्म में जा मिलता है वह मुक्त हो जाता है। उस का ससार में फिर जन्म लेना नही पड़ता। (२०) योग साधन में सिद्धि पाया हुआ अर्थात् पूर्ण योगी। (२१) जो ईश्वर की अनन्य (खालिस) भक्ति करता है (२२) ब्रह्म गति को छोड़ कर जितनी और गतियां हैं वह जिन कर्मों के फल से मिलती हैं उन का प्रताप बिगड़ जाने से समाप्त हो जाती हैं। परन्तु ब्रह्म में मिल कर मनुष्य आवागमन से ऐसा छूट जाता है कि उस को फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। कारण यह है कि जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं-(क) जो शरीर हम को प्रत्यक्ष दिखाई देताहै और जो स्थूल कहलाता है, (ख) सूक्ष्म शरीर, (ग) कारण शरीर। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी बाकी के दोनों शरीर बने रहते हैं। जब तक यह दोनों शरीर भी नहीं छूटते तब तक आवागमन बन्द नहीं होता। स्थूल शरीर से मनुष्य कर्म करता है और सूक्ष्म व कारण शरीरों से उन का फल नरक या स्वर्ग आदिक लोकों में जाकर भोगता है। जब यह भोग पूरे हो जाते हैं तब वह फिर जगत् में उत्पन्न होता अर्थात् स्थूल शरीर धारण करता है। यह दूसरा स्थूल शरीर उसके कारण शरीर के स्वभाव या गुणों के अनुसार बनता है। जब तक मनुष्य ऐसे कर्म करता रहता है जिन के फल भोगने के हेतु उसे जन्म लेना पड़ता है तब तक उस की यह गति रहती है कि--

(शेर) 'आरज़ूये दीदे जाना बज़्म में लाई मुझे।
बज़्म से मैं आरज़ूये दीदे जाना ले चला'॥

और तभी तक उस का कारण शरीर बना रहता है। बाकी दोनों शरीर बदलते रहते हैं। यही उस का आवागमन है। जब वह ब्रह्म पद पर पहुच जाता है तब उस का कारण शरीर भी ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है और फिर उस के हेतु पुनर्जन्म नहीं रहता। कर्म फल भोगने के लिये बहुत से लोकों का होना और उन में जीव का वास करना गरुड पुराण का भी मान्य है। डाक्टर फ्यूगोर की जो फ्रांस देश के एक बड़े पंडित हुये हैं ऐसी ही मति है। जानकी नाथ जी मदन की

जो लोक [१२] ब्रह्म लोक तलक हैं बने हुये।
उन के मिले न रार पुनर्जन्म की टरे ॥११॥
पर मम सुधाम प्राप्त करे जो मनुज "विमल"।
न तो वह जन्म लेत फिरे अरु न वह मरे ॥ १२ ॥

टिप्पणी

(१) अर्जुन ने पिछले भजनमें यह प्रश्न किया था कि योगी मरत समय किस प्रकार ईश्वर से ध्यान लगाता है, उस का यहा यह उत्तर दिया गया है कि जो कर्म-योगी योग,भक्ति और ज्ञान विज्ञान से ब्रह्म के ध्यान में लौ लगाये हुये देह छोड़ता है वह ब्रह्म गति पाता है। (२) पहिले भी कहा जा चुका है कि गीता के मत अनुसार योग भक्ति और ज्ञान विज्ञान तीनों ही मिल कर मोक्ष का साधन हैं। गीता को इन में किसी विरोध का होना मान्य नहीं है (३) मन का निष्काम हो कर स्थिर रहना ही मोक्ष दिलाता अर्थात् ब्रह्म गति देता है। किसी कवि ने इसी बात को कैसा अच्छा दर्शाया है—

"सरापा आरज़ू होने ने बन्दा कर दिया मुझ को
वगरना हम ख़ुदा थे गर दिले बे मुद्दआ होता"

(४) यह निर्गुण ब्रह्म अर्थात् महापुरुष के आठों लक्षण जो यहा वर्णन है उपनिषदों से लिये हुये मालूम होतेहैं। (५) पुरातन (६) ब्रह्म का प्रकाश उपमा रहित है। सूर्य से बढ़ कर प्रकाशमान कोई वस्तु हमने नहीं देखी है, इस कारण उस ही से उपमा दी जाती है। ग्यारहवें अध्याय के श्लोक बारह (भजन ८८) में उस का प्रकाश हजारों सूर्यों से अधिक बताया गया है। (७) वह माया रूपी अंधकार से रहित है क्योंकि प्रकृति का वह तम् नामक गुण जो अंधकार को पैदा करता है उस में प्रवेश नहीं कर सकता। देखो भजन नम्बर ६६। (८) जो चिन्तन में नहीं आसकता अर्थात् अगोचर है। इसी कारण वेदों में उस को "नेति" "नेति (यह भी नहीं यह भी नहीं) कहा है। (९) परमाणुओं का भी परमाणु (ज़र्रों का भी ज़र्रा)या सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म। ईश्वर की कारीगरी बड़ी बड़ी वस्तुओं ही से प्रकाशित नहीं होती बल्कि सूक्ष्म पदार्थों से और भी अधिक रीति से प्रकट होती है। मनुष्य की देह का विचार करके ईश्वर की कारीगरी का अनुभव होता है परन्तु मनुष्य देह में बालों के भीतर जा जूं पड़ जाती है जब उस की ओर ध्यान किया जाय कि वह इतना सूक्ष्म शरीर रखती हुई भी सब अंग पूरे पूरे रखती है तब ईश्वर की शक्ति का अनुमान और भी अधिक होता है। (१०) सब कुछ जानने वाला। कविताई करने वाले मनुष्य का सच्चा गुण उस की सर्वज्ञता होती है, इसी लिये वह कवि कहलाता है। (११) जो सब का पालन करे। (१२) उस ब्रह्म को पाता है जिस के लक्षण ऊपर बताये हैं। (१३) अविनाशी (१४)

इन्द्रियों को जीतने वाला। (१५) जी में किसी वस्तु के संग सम्बंध न रखना वैराग्य कहलाता है। (१६) थोड़ा थोड़ा (१७) ऊपर जो साधन योग बल को बढ़ा कर, भक्ति भाव रख कर, मन को अचल बना कर और प्राणों को भौंहों के बीचमें ठहराकर ब्रह्म में ध्यान जमानेके लिये बतायाहै वह योगसखोपनिषद् (अथर्वण वेद) में वर्णनहै। यह त्रिपुटी ध्यान भी कहलाता है। इसकी विधि यहां यह बताई है कि "ओम्" का उच्चारण करके स्वास को कपाल में चढ़ाया जाता है। भौंहा के बीच में दृष्टि को जमाने और प्राणों को कपाल में चढ़ा कर ठहराने से चित्त की चंचल ता बंद हो जाती है। स्वास के साथ साथ ही मनुष्य में विचार उत्पन्न होते हैं, इस लिये जब प्राण कपाल में ठहर जाते हैं तब विचारों की धारा बंद हो जाती है। यही कारण है कि जितने साधन गीता में बताये गये हैं उन सब की विधि में यह अंग उपस्थित है। (१८) वह निर्गुण ब्रह्म की गति जिस के लक्षण ऊपर कथन हुये हैं (१९) जो निर्गुण ब्रह्म में जा मिलता है वह मुक्त हो जाता है। उस को संसार में फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। (२०) योग साधन में सिद्धि पाया हुआ अर्थात् पूर्ण योगी। (२१) जो ईश्वर की अनन्य (खालिस) भक्ति करता है (२२) ब्रह्म गति को छोड़ कर जितनी और गतियां हैं वह जिन कर्मों के फल से मिलती हैं उन का प्रताप निबड़ जाने से समाप्त हो जाती हैं। परन्तु ब्रह्म में मिल कर मनुष्य आवा गमन से ऐसा छूट जाता है कि उस का फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। कारण यह है कि जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं-(क) जो शरीर हम को प्रत्यक्ष दिखाई देताहै और जो स्थूल कहलाता है, (ख) सूक्षम शरीर, (ग) कारण शरीर। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी बाकी के दोनों शरीर बने रहते हैं। जब तक यह दोनों शरीर भी नहीं छूटते तब तक आवागमन बन्द नहीं होता। स्थूल शरीर से मनुष्य कर्म करता है और सूक्षम व कारण शरीरों से उन का फल नरक या स्वर्ग आदिक लोकों में जाकर भोगता है। जब यह भोग पूरे हो जाते हैं तब वह फिर जगत् में उत्पन्न होता अर्थात् स्थूल शरीर धारण करता है। यह दूसरा स्थूल शरीर उसके कारण शरीर के स्वभाव या गुणों के अनुसार बनता है। जब तक मनुष्य ऐसे कर्म करता रहता है जिन के फल भोगने के हेतु उसे जन्म लेना पड़ता है तब तक उस की यह गति रहती है कि-

(शेर) "आरज़ूये दाद जाना बज़्म में लाई मुझे।
बज़्म से मैं आरज़ूये दीद जाना ले चला"॥

और तभी तक उस का कारण शरीर बना रहता है। बाकी दोनों शरीर बदलते रहते हैं। यही उस का आवागमन है। जब वह ब्रह्म पद पर पहुंच जाता है तब उस का कारण शरीर भी ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है और फिर उस के हेतु पुनर्जन्म नहीं रहता। कर्म फल भोगने के लिये बहुत से लोकों का होना और उन में जीव का वास करना गरुड़ पुराण का भी मान्य है। डाक्टर फ्यूगार की जो फ्रांस देश के एक बड़े पंडित हुये हैं ऐसी ही मति है। जानकी नाथ जी मदन की

यह " लोकों " का अर्थ मान्य नहीं है। उन की मति में " लोकों " का अर्थ 'प्रकृति के विकार " है। यह कहते हैं कि जब तक जीव के संग प्रकृति के विकार लगे रहते हैं तब तक यह आवागमन में रहता है, जहां यह प्रकृति के परे पहुंच कर ब्रह्म में मिला और उस की मोक्ष हुई। भावार्थ इस का यही प्रतीत होता है जो ऊपर लिखा गया।

(भजन नम्बर ७२—श्लोक १७—१८)

[विश्व रचना]

तर्ज—चलो री सखी दर्शन करलें रथ में रघुनन्दन आवत हैं।

जो ब्रह्मा के सहस्र युगी निशि दिन का ज्ञान धरावत हैं॥
भेद धनञ्जय निशि दिन का वह ही ज्ञानी जन पावत हैं।
ब्रह्मा का दिन आने पर अव्यक्त प्रकाश दिखावत हैं॥
निशि आने पर फिर प्रकाश अव्यक्त में जाय समावत हैं॥१॥
भूत-सृष्टियों ही निशि दिन से उपजत और विलावत हैं।
अवश्य ही यों सृष्टि प्रलय यह बार बार हो जावत हैं॥२॥
याही से अव्यक्त प्रकृति से ब्रह्म परा है रावत है।
जगत् प्रलय जो होने पर भी कभी विनाश न पावत है॥३॥
वह अक्षर अव्यक्त ब्रह्म मम परम गती कहलावत है।
जो उस में हो जावत लय वह वापस नाहीं आवत हैं॥४॥
"विमल" चराचर रमा उसी में वास उसी में पावत हैं।
भक्त अनन्य जन जो याका वाही में मिल जावत हैं॥५॥

टिप्पणी

(१) सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले विष्णु जी महाराज (निर्गुण ब्रह्म) शेष नाग के ऊपर शयन किये हुये होते हैं अर्थात् उन की गति अचिन्त्य होती है, और लक्ष्मी जी (प्रकृति) उन की शरण में होती हैं। जब "एकोऽहं बहुस्याम्' (एक हूँ बहुत हो जाऊं) के संकल्प का कमल विष्णु जी की नाभि से फटता है, तब उस कमल पर सगुण ब्रह्म (पर ब्रह्म) का जो सृष्टि की रचना करने की दृष्टि से ब्रह्मा कहलाता है प्रकाश होता है। इस ब्रह्मा के प्रकाश के संग संग प्रकृति भी कारण रूप से स्थूल रूप में आजाती है। सारी सृष्टि का चित्र ब्रह्मा जी अपने हृदय में खैंच लेते

है। उसी के अनुसार प्रकृति चैतन्य शक्ति के साथ मिल कर संसार को पैदा कर देती है। जिस प्रकार यह रचना होतीहै उस की विधि सातवें अध्याय के सार में वर्णन हो चुकी है। इस सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड बनते हैं जो ब्रह्मा जी की आयु के सौ वर्ष तक बने रहते हैं। फिर इन सब का संहार हो कर महा प्रलय हो जाती है। सौ वर्ष की आयु में महा प्रलय से उपरान्त ब्रह्मा जी की आयु के हर एक दिन की समाप्ति पर जब रात आती है प्रलय होती रहती है। प्रलय में सारे ब्रह्माण्डोंका नाश न हो कर सूर्य चन्द्रादिक बने रहते हैं परंतु महा प्रलय पर सब सृष्टि का नाश हो जाता है। जितने समय तक यह प्रलय रहती है वह ब्रह्मा की रातें और जितने समय तक सृष्टि चलती है वह ब्रह्मा के दिन कहलाते है। ऐसे ऐसे दिन और रात वाले सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु होतीहै जिसे एक महा कल्प कहते हैं। इस महा कल्प या ब्रह्मा जी की आयु की गणना इस प्रकार होती है—कलियुग में ४३२००० वर्ष होते हैं द्वापर में ८६४०००, त्रेता में १२९६००० और सत युग में १७२८००० यह चारों युग मिल कर चतुर्युगी कहलाते हैं। इस में ऊपर की गणना के अनुसार ४३२०००० वर्ष होते हैं। हजार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है और हज़ार ही चतुर्युगी की एक रात। ऐसे ३६० दिन रात का एक वर्ष होता है और ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा जी की आयु होती है। इस प्रकार मनुष्य जाति के वर्ष के हिसाब से ब्रह्मा जी की आयु ३११०४०००००००००० वर्ष की होती है। इतना समय जीव को ब्रह्म पद पाने के लिये मिलता है। यदि इस में भी वह ब्रह्म पद पर नहीं पहुंचता और महा प्रलय आ पहुंचती है तब वह जिस गतिमें होताहै वहीं का वहीं ठहर जाताहै। दूसरी सृष्टि के प्रारम्भ में फिर वहीं से चल निकलता है। इन सारी बातों का जो यहां उल्लेख हुई समझना मनुष्य के लिये कठिन है। इनका अनुभव करने और बुद्धि द्वारा सम्पूर्णता से ग्रहण करनेके लिये सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रखने की आवश्यकता होती है। जो योगी और विज्ञानी इन सारे रहस्य का अनुभव करलेता है वह ही परम रहस्य जानने वाला होकर धर्म में दृढ़ रहता हुआ मोक्ष का अधिकारी बनता है। किसी किसी टीकाकार ने 'सहस्र' युगी का अर्थ 'अन गणित समय" और 'दिन रात" का अर्थ 'ब्रह्म का सच्चा प्रकाश और प्रकृति का झूठा प्रकाश' करके इस का यह अनुवाद किया है कि जो कोई विज्ञान से ब्रह्म के सच्चे और प्रकृति के झूठे प्रकाश को जान लेता है वह ही सच्चा योगी है। या यों कहो कि जब तक मनुष्य को ब्रह्म दर्शन में आनन्द और सांसारिक सुखों में झूठापन मालूम न हो तब तक वह योगी नहीं कहला सकता। इस अनुवाद का भावार्थ भी वही है जो ऊपर कथन हुआ, परन्तु विस्तार में बहुत अंतर है। ऐसे टीकाकारों को यह चतुर्युगी की फैलावट मान्य नहीं है। वह कहते हैं कि यदि हम इस विभाग को ठीक मानलें तो श्री रामचन्द्र जी के गुरु वशिष्ठ जी का त्रेता युग के अंत में होना और उन के पोते व्यास जी का कृष्णजी के समय में अर्थात् द्वापर के अंत में होना किस प्रकार ठीक माना जा सकता है क्योंकि इन दोनों के बीच में आठ लाख चौसठ हजार वर्ष का अन्तर फंस हो

सक्ता है ? लाख यह कहा जाय कि ऋषियों की आयु बहुत बड़ी बड़ी होती थीं परन्तु दो पीढ़ी में इतने काल का बीत जाना समझ में नहीं आता। इस कारण यह विभाग ठीक नहीं माना जा सक्ता। उन की मति के अनुसार जो वर्षों की गिन्ती युगों के सम्बन्ध में ऊपर बताई गई है उस की गणना दो प्रकार से होती है— (क) रात दिन में मनुष्य २१६०० स्वास लेता है और हर एक स्वास में एक बार स्वास ऊपर को जाता व एक बार नीचे आता है। इस लिये एक दिन रात के स्वासों की गणना २१६००×२ हो जाती है। हर एक स्वास के साथ पांचों ज्ञान इन्द्रिया और पांचों कर्म इन्द्रिया कुछ न कुछ अपना कर्म करती हैं। स्वासों की गिन्ती को दसों इन्द्रियों के कर्मों के कारण दस गुना किया जाय तो ४३२००० की सख्या होती है। यही सख्या एक कलियुग के वर्षों की बराबर है। इस लिये यह कैलायट ब्रह्मा की आयु को प्रकट नहीं करती, बल्कि मनुष्य के (जो ब्रह्म का अंश हो कर आप भी एक लघु ब्रह्मा के समान है) स्वासों की सख्या को बताती है। (ख) पूर्व काल में ऋषि लोग पुरुष और प्रकृति को अंक से और प्रकृति के गुणों को बिन्दुओं से प्रकट किया करते थे। इस लिये जब पुरुष और प्रकृति मिले तो दोनों से २ का अंक बना। जब इन का साथ महतत्व अर्थात् सातों कारण शक्तियों (अनुभव चैतन्य, इच्छा, कामना, तेज, शान्ति, व स्थिति) से हुआ तो तीन का अंक बना। जब अहंकार का संग हुआ तो चार का अंक बना। इस भांति ४३२ के आगे जब सत् रज्, तम् की तीन बिन्दिया लगी तब यही ४३२००० की साख्या बन गई जो कलियुग के वर्षों की संख्या है। जिस में सत् दुगुना हुआ उस के लिये ८६४०००, जिस में तीन गुना हुआ उस के लिये १२९६००० और जिस में चौगुना हुआ उस के लिये १७२८००० की साख्या हुई। यही द्वापर, त्रेता, और सत् युग के वर्षों की सख्या है। इस लिये यह कथा कि पृथ्वी को धारण करने वाले बैल की सत्युग में चार टांगें, त्रेता में तीन टांगें, द्वापर में दो टांगें और कलियुग में एक टांग होती है, केवल मनुष्य के गुणों को प्रकट करती है। जिस में सत् एक गुना होता है वह कलियुगी, जिस में दुगुना वह द्वापरी, जिस में तिगुना वह त्रेतायी और जिस में चौगुना होता है वह सत्युगी मनुष्य समझा जाना चाहिये। या यों कहो कि इन चारों युगों और उन की वर्ष सख्याओं से मनुष्य के शुभ और अशुभ भाव का बोध होता है न कि काल की गणना का। ऐसा अर्थ कितना ही शिक्षा दायक और गूढ़ क्यों न हो, परन्तु इस में खैंचा तानी जरूर है। इस स्थान पर जब सीधे सादे अनुवाद से भी यही तात्पर्य निकलता है, तो खैंचा तानी करने की क्या आवश्यक्ता है ? (२) ऊपर विस्तार पूर्वक कहा गया है कि ब्रह्मा जी की आयु अर्थात् एक महा कल्प में बराबर प्रलय होती रहती है। जितने समय उस महा कल्प में सृष्टि रची रहती है वह ब्रह्मा का दिन और जितने समय प्रलय रहता है वह ब्रह्मा की रात्रि होती है। (३) यह निर्गुण ब्रह्म जिस के लक्षण पिछले भजन में बयान हुए हैं वह अव्यक्त (अगोचर)

स्वरूप कहा गया है। उस का सगुन रूप जो ब्रह्मा कहलाता है महा प्रलय होने पर लोप हो जाता है,परन्तु निर्गुण स्वरूप(शुद्ध ब्रह्म)का कभी नाश नहीं होता। उस का विष्णु रूप से शेष नाग की शय्या पर शयन होता रहता है। देखो भजन नम्बर १०७ की टिप्पणी नम्बर ६। (४) ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म को "परम गति"और "परमाक्षर" कहा जाताहै। (५) निर्गुण ब्रह्म अपनी जड़ और चैतन्य शक्तियों के द्वारा सृष्टि की रचना करने के कारण सर्व संसार का मूल तत्व (जड़) है। उस ही में से सब उत्पन्न होते हैं, वही सब में रमा हुआ रहता है और उसी में अंत में सब का निवास होता है (६) वह भक्त जो केवल निर्गुण ब्रह्मकी भक्ति करके किसी अन्य देवता का आराधन नहीं करता। अनन्य भक्ति के बिना निर्गुण ब्रह्म नहीं मिलता। उस की गति प्राप्त करने के लिये द्वैत भाव का दूर करना आवश्यक है। गालिब ने कहा है।

(शेर) "उसे कौन देख सकता कि यगाना है वह यकता।
जो दुई की बू भी होती तो कहीं दुचार होता"॥

(यगाना=अद्वैत। यकता=उपमा रहित। दुई=द्वैत भाव। दुचार=प्रत्यक्ष रूप से सामने आना॥)

भजन नं० ७३ (श्लोक २३—२८)

[मरण काल के भाव और उन के फल]

तर्ज़.-निरखत जात जटाई रथ पर रोकत जात जटाई रे।

अब सुन कब कब मर कर योगी बन्धन मुक्ति कमाये रे।
जो उत्तरायण[1] शुक्ल[2] पक्ष दिन अग्नि ज्योति यम ध्याये रे।
देह त्याग कर वोही ज्ञानी ब्रह्म में जाय[3] समाये रे॥१॥
जो दक्षिणायण[4] कृष्ण[5] पक्ष[6] निश धूम माहि मर जाये रे।
चन्द्र[7] लोक तक जाकर अर्जन वह फिर उलटा धाये रे॥२॥
मार्ग[8] उज्याले और अंधेरे परम्परा से आये रे।
योगी उल्टा आय एक से दूजा मोक्ष दिलाये रे॥ ३॥
दोनों को जो योगी जाने मोह न वा पर छाये रे।
उचित यही है यासू अर्जुन योग युक्त[1] हो जाये रे॥ ४॥
वेद पाठ तप यज्ञ दान के जो फल हैं बतलाये रे।

"विमल" उन्हें वह छोड़ छाड कर परमधाम अपनाये रे ॥ ५ ॥

टिप्पणी

(१) सूर्य की चाल के हिसाब से एक वर्ष में १२ सक्रान्तिया होती हैं। मकर की सक्रान्ति (१३ या १४ जनवरी) से कर्क की सक्रान्ति (१३, १४ जुलाई) तक की छमाही ' उत्तरायण " कहलाती है। उत्तरायण कहलाने का कारण यह है कि इस छमाही में सूर्य ६ महीने तक बराबर उत्तरायण(उत्तरी ध्रुव या कुतुब शुमाली) में प्रकाशित रहता है। (२) वह पखवाड़ा जिस में रातें उजाली होती हैं और जिस को " शुदी " कहते हैं। (३) उत्तरायण, शुक्ल पक्ष, दिन, अग्नि या ज्योति में मृत्यु पाने से यदि मोक्ष होती है तो फिर मोक्ष की प्राप्ति के हेतु सारे साधन और परिश्रम व्यर्थ हो जाते हैं। जब मरण काल पर ही मोक्ष निर्भर हो, तब कोई कितना ही साधन करे या कैसा ही कुकर्म करे, सब बराबर हो जाता है। इस लिये यह प्रत्यक्ष है कि इस का यह अर्थ नहीं हो सकता। उत्तरायण, शुक्ल पक्ष दिन, अग्नि का अर्थ "अनुभव" या आत्म ज्ञान की गति है। जो मनुष्य अनुभव रखता हुआ देह का त्यागन करता है वही मोक्ष का अधिकारी होता है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी रात दिन के शब्द का इसी प्रकार उपयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन प्रश्नोपनिषद् से लिया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् भी इस विषय में प्रमाण है। इन शब्दों से जो भ्रम पैदा होता है वह कुछ नया नहीं है। भीष्म पितामहजी तक ने महाभारत पुराण में यह विचार प्रकट किया है कि मैं अपने प्राण उत्तरायणमें छोड़ूंगा जिस में मेरी मोक्ष हो जाय। परंतु भ्रम प्राचीन होकर भी भ्रम ही रहता है। यदि हम इन शब्दों के साधारण अर्थ ग्रहण करलें तो गीता के सारे उपदेश निर्मूल हो जाते हैं। (४) वह छमाही जिस में सूर्य देव दक्षिण (दक्षिणी ध्रुव या कुतुब जनूबी) में बराबर प्रकाशित रहते हैं अर्थात् सिंह की संक्रान्ति (१४ या १५ जुलाई) से धन की संक्रान्ति (१३ या १४ जनवरी) तक का समय। (५) वह पखवाड़ा जिस में रात अंधेरी होती है और जिस को बदी कहते हैं (६) रात (७) जिस प्रकार उत्तरायण, शुक्ल पक्ष, दिन, अग्नि और ज्योति का अर्थ अनुभव की गति है, उसी प्रकार दक्षिणायण कृष्ण पक्ष धूम (धूऐं) और रात का, अर्थ अज्ञान या प्रकृतिवाद की गति समझना चाहिये। जो मनुष्य तम रूपी अज्ञान में फंसे हुये और कामनाओं में बंधे हुये प्राण छोड़ते हैं, उन की मोक्ष नहीं होती। वह अपने सूक्ष्म व कारण शरीरों से अपने कर्मों के फल भोग कर जगत् में बार बार जन्म लेते हैं। चन्द्र लोक तक जाकर लौट आने का भावार्थ यही है। यह अर्थ दो प्रकार से निकलता है—(क) जो लोग वेदान्त सूत्रके बनाये हुये क्रमानुसार, वायु लोक सूर्य लोक चन्द्र लोक विद्युत लोक इन्द्र लोक प्रजापति लोक, और अन्त में ब्रह्म लोक को मानते हैं उन का यह विचार है कि ऐसे अज्ञानी मनुष्य ब्रह्म लोक तक नहीं पहुंचते बल्कि चन्द्र लोकादिक तक पहुंच कर उलटे आजाते हैं। (ख) जिनकी

यह मत मान्य नहीं है यह कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा उस जल को जिसे सूर्य वायु रूप बना कर पृथ्वी से उड़ा कर ऊपर ले जाता है, फिर बादल वर्षा रूप से पृथ्वी पर लौटा देता है, उसी भाति अज्ञान मनुष्य को पृथ्वी पर बार बार जन्म लेवाता और आवागमन में डालता है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि जो लोग श्रुति स्मृति के बताये हुये यज्ञों को अपनी कामनाओं के हेतु करते हैं वह दक्षिणायण मार्गी चन्द्र लोक सम्बन्धी भोगों को अर्थात् स्वर्ग में उत्तम भोगा को भोग कर फिर जगत् में लौट आते हैं। कर्म काण्ड के द्वारा रजोगुणी कामनाओं से उन का जन्म मरण बना रहता है (८) शुभा चारी मनुष्यों के दो मार्ग हैं। एक कर्म काण्डियों का मार्ग जिसमें कर्म करने वाला मोक्ष न पाकर बधन में पड़ा रहता है, (देखो भजन नम्बर (१६), दूसरा कर्म योगियों का अनुभवी मार्ग जिस में कर्म करने वाला निष्काम बुद्धि रख कर आवागमन से बचा रहता और मोक्ष पाता हे। पहिले मार्ग को "पितृयान" और दूसरे को 'देवयान" भी कहते हैं। स्मरण रहे कि यह दोनों मार्ग धर्मानुकूल चलने वालों के हैं। पापियों का नर्क-मार्ग इन से न्यारा है (६) जो इन दोनों मार्गों के तत्व को जानता है वह कर्म काण्ड के पुनर्जन्म दाता मार्ग को छोड कर कर्म योगी के मुक्ति दाता मार्ग को ग्रहण करता हे (१०) वेद पाठ, दान, तपादिक के फल भोगने के हेतु जन्म लेना होता है इस कारण वह पुनर्जन्म का दाता है। कर्म योगी उन का मोक्ष के आगे तुच्छ जान कर उन की परवाह नहीं करता। वह उस योग की परवाह करता है जिस से मोक्ष प्राप्त होती है।

* इति शुभम् *

नवें अध्याय का सार।

पिछले दो अध्यायों में जो विज्ञान वर्णन हुआ है और त्रिपुटी ध्यान के द्वारा जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना बताई गई है, वह साधारण मनुष्यों के लिये कठिन और दुर्लभ है। इस लिये इस अध्याय में भक्ति का सगुण और सहल मार्ग कथन किया गया है। इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि –

(१) बिना भक्ति के कोरे ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। मुक्ति के हेतु विज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) को भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण बनाने की आवश्यकता रहती है।

(२) वह अविनाशी निर्गुण ब्रह्म जो गुप्त रह कर सारे जगत् को धारण करता है वह ही सब का आदि कारण है। वह प्रकृति के द्वारा सारी सृष्टि की रचना और लय करता है। सब नाम रूपात्मक वस्तुएं उसी के व्यक्त रूप का प्रकाश दिखा कर उसी में लय हो जाती हैं। इस सृष्टि रचना और प्रलय का कर्म वह अकर्ता भाव से करके उस में लिप्त नहीं होता। वह प्रकृति के द्वारा रचना करता हुआ उस से सम्बन्ध न रख कर न्यारा रहता है। ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध उपमा रहित है। विज्ञान रखने वाला ही इस को समझ सकता है। हां यदि कुछ उपमा हो सकती है तो लोहे और चम्बुक की हो सकती है। जिस भांति चम्बुक लोहे को दूर ही से खेंचलेता है पर आप लोहे में प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्म प्रकृति को अपने आधीन रखकर उससे सृष्टि रचाता है पर आप उससे न्यारा रहता है।

(३) ईश्वर के व्यक्त स्वरूप अर्थात् सगुण ब्रह्म की निष्काम और अनन्य (बेगरज़ और खालिस) भक्ति ही राज मार्ग है। इसी का नाम राज विद्या या राज गुह्य है। मनुष्य का उचितहै कि कर्म योग और भक्ति का साथ साथ साधन करता रहे। ऐसा करने से विज्ञान भी प्राप्त हो जाता है और तीनों मिलकर मोक्ष का कारण होते हैं।

(४) जगत् में जो मनुष्य जिस भावना और कामना से और जिस देवता के नाम से ईश्वर की आराधना (भक्ति) करता है, उसको ईश्वर ही ग्रहण करके उसका फल देता है। परंतु ऐसी सकाम भक्ति टेढ़ा रास्ता है। इस से बंधन बना रह कर आवागमन का चक्र जारी रहता है। मुक्ति पाने के लिये यह आवश्यक है कि उस निरगुण ब्रह्म के व्यक्त रूप की जो चारों ओर सब वस्तुओं में व्याप्त है अनन्य और निष्काम भक्ति की जाय। इस सुगम और शुभ मार्ग पर चलने से ईश्वर के निर्गुणरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

(५) निष्काम भक्ति करने का अधिकार सब को बराबर है। कारण यह की सब

हैं बालक एक पिता के उजले हों या मैले"। कोई कैसा ही पापी और कुकर्मी क्यों न हो, जब वह निष्काम भक्ति का राज मार्ग लेलेताहै, तब निश्चय ही उस का पाप माथ दूर होकर उसके बन्धन भी दूर हो जाते हैं। वह कर्म योगी, भक्त और सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान वाला होकर मोक्ष प्राप्त करता अर्थात् ब्रह्म पद पाता है। रामायण में इसी कारण कहा है कि—

चौपाई

"अब सुन परम विमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी
निज सिद्धान्त सुनाऊ तोहीं। सुन मन धर सब तज भज मोहीं"

नवां अध्याय

राज विद्या या राज गुह्य योग

भजन नम्बर ७४ (श्लोक नम्बर १—६)

(भक्ति का राज मार्ग)

दोहा—सर्व तर्क ही से रहित, तुझे धनञ्जय पाय ।
परम गुप्त जो ज्ञान है, वह अब द् बतलाय ॥

चौपाई

यदि विज्ञान ज्ञान तू पावे । अधम अशुभ गति से छुट जावे ।
यही राज विद्या कहलावे । यह शुभ शुद्ध विनाश न पावे ॥
ज्ञानन में यह ज्ञान पुनीता । राज मर्म अरु सहज सुभीता ।
अर्जुन याको जो नहिं माने । पुनर्जन्म से बच नहिं जाने ॥
जिन की श्रद्धा यामें नाहीं । पलटि पलटि आवें जग माहीं ।
जन्म मरण के वह दुख पायें । मो तक कभी नहीं वह आयें ॥
जगत् चरांचर मोरे कारण । पर में नाहीं याके कारण ।
रहता हूँ व्यापक जग माहीं । पर काहू को दीखत नाहीं ॥

सोरठा—पार्थ देख यह ढग, मेरी माया योग का ।
रख कर भाव असग, धारण पालन करत हूँ ॥

छन्द

जिस ढग से यह वायु रहती है भरी आकाश में ।
फिर भी नहीं देवे दिखाई वह कभी आकाश में ॥
उस ढग से ही हे परन्तप सब जगत् को मैं गहूं ।
धारण करू पालन करू फिर भी "विमल" न्यारा रहूं ॥

टिप्पणी

(१) भक्ति मार्ग में तर्क उठाने वाले का काम नहीं है क्योंकि प्रीति श्रध्री हाती है। जो तर्क ना उठाता है वह भक्ति नहीं कर सकता। (२) ईश्वर के व्यक्त स्वरूप का ज्ञान अर्थात् भक्ति मार्ग हर एक मनुष्य पर प्रकट नहीं होना, इस लिये वह परम गुप्त है। (३) ईश्वर के अव्यक्त से व्यक्त होने का और उसके व्यक्त स्वरूप का जब ज्ञान प्राप्त होता है, तब ही भक्ति भाव उत्पन्न होकर भक्ति मार्ग मिलता है। (४) जब भक्ति भाव हृदय को निर्मल बना देता है तब अशुभ गति (पाप भाव) नहीं रहती। (५) ज्ञान विज्ञान से जब मनुष्य को सब जगत् के पदार्थों का पूरा तत्व मालुम होता है, तब अहंकार दूर होकर निर्मलता आजाती है। यही कारण है कि ज्ञान विज्ञान की इतनी प्रशंसा की जाती है। (६) भेद (७) स्वभाविक रीति से मनुष्य को सगुण रूप की उपासना सहज और निर्गुण रूप की उपासना कठिन है। जब सगुण रूप की उपासना (भक्ति)से ब्रह्म के रूप का साक्षात् दर्शन हो जाता है तब ही भक्त यह जान कर कि मेरा ब्रह्म यह है उत्साहित होता और आत्मज्ञान में दृढ़ता पाता है। स्मरण रहे कि भक्ति मार्ग ज्ञान मार्ग की अपेक्षा सहज है, नहीं तो भक्ति भाव भी कुछ सहल नहीं है।

दोहा–"जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु है हम नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहि" ॥ (कबीर जी)

(८) जब तक भक्ति से निर्मलता नहीं आती, आवागमन बना रहता है और ब्रह्म तक पहुंच नहीं होती। (९) रामायण में कहा है –

चौपाई

"मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा"।

(१०) जानदार और बेजान। (११) भजन नम्बर (६९) में विस्तार पूर्वक बताया गया है कि सर्व पदार्थ ब्रह्म का रूप हैं। योग माया से छिपे रहने के कारण ब्रह्म दिखाई नहीं देता। (१२) सृष्टि रचाने वाली शक्ति। देखो भजन नम्बर (६९)। (१३) जी में किसी से सम्बन्ध न रखना "असंग भाव" कहलाता है। (१४) जगत् में कोई जगह खाली नहीं है। जिस को हम खाली समझते हैं उस में वायु भरी रहती है। जब खाली वस्तु में कोई वस्तु प्रवेश करती है तब उस में से वायु निकल जाती है।वायु रूप रहित है,इस लिये वह हम को भरी हुई दिखाई नहीं देती। जिस स्थान में वायु भरी हुई न हो उस को आकाश कहते हैं फारसी में इसी का नाम "खला" और अंगरेजी में "ईथर" "(ether)" है। ईश्वर भी वायु के समान रूप रहित होने के कारण सब वस्तुओं में वायु के समान मौजूद होते हुये भी दिखाई नहीं देता।(१५)शत्रुओं को जला देने वाला (अर्जुन)।

(भजन नम्बर ७५—श्लोक ७—१०)

[संसार-चक्र की विधि]

तर्ज—वंसी वट को चलो राधे प्यारी–

पार्थ मैं अपने प्रकृति योग द्वारा ।
पैदा करूं यह जगत् बार बारा ॥
कल्पान्त होने से लय हो प्रकृति में ।
आदि में फिर के रचूं विश्व सारा ॥१॥
माया आधीन सारा ही जग है ।
कर्त्तापन से मुझे जानो न्यारा ॥२॥
भाव उदासीन राखूं मैं अपना ।
कर्मों से होय न बंधन हमारा ॥ ३५ ॥
मैं ही अचर और चर का प्रकृति से ।
बाँधू हूं चक्र "विमल" इस प्रकारा ॥ ४ ॥

टिप्पणी

(१) प्रकृति योग या माया योग वह शक्ति है जिस के द्वारा ब्रह्म सर्व संसार की रचना करता है। (२) ब्रह्मा जी की आयु का एक दिन मनुष्य जाति की गणना से ४३२००००००० वर्ष का होता है। (देखो भजन ७०)। जैसे दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन होते हैं, वैसे ही कल्प बिगड़ने पर प्रलय और प्रलय समाप्त होने पर रचना बराबर जारी रहती है। इस प्रकार हर एक कल्प की रचना के पहिले और पीछे प्रलय होती रहती है। (३) जगत् में सब पदार्थों की उत्पत्ति और संहार उनकी मरजी के अनुसार नहीं होता। जब प्रलय का समय आता है, सब का नाश हो जाता है। जब उत्पत्ति का समय आता है सब का जन्म हो जाता है। इस जन्म मरण में किसी की पेश नहीं जाती। सब माया या प्रकृति आधीन अपने अपने स्वभाव और गुण अनुसार जन्म पाते हैं। एक ब्रह्म ही है जो इस नियम से बाहर है। (४) जो किसी से सम्बन्ध न रखकर सब से हतु निष्पक्ष रहे। ब्रह्म जगत् की रचना और संहार के कर्मों को उदासीन होकर अर्थात् अकर्त्ता भाव से करता है। या यों कहो कि उस की अन्तरगति में प्रकृति यह कर्म करती है और यह कराता है। उस को इन कर्मों से कर्म कारण बंधन नहीं होता। (५) भ्रमन फिरने वाला जानदार "चर" और स्थिर रहने वाल

पदार्थ "अचर" कहलाते हैं। (६) जगत् के सब चराचर जीव बराबर जन्म मरण पाते रहते हैं। ब्रह्म रचना के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे रचना का क्रम बराबर जारी रखता है। या यों कहो कि ब्रह्म अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होता रहता है। यहां भी गीता को वेदान्त का अद्वैत मत मान्य होना प्रकट हो रहा है क्योंकि प्रकृति को साङ्ख्यवादियों की तरह स्वतन्त्र रचना करने वाली न बता कर ब्रह्म के आधीन बताया गया है।

(भजन नम्बर ७६ श्लोक ११—१५)

[भक्ति का अधिकार और उस के भाव]

तर्ज—देखोरी इक बाला जोगी द्वारे हमारे आया है री।

जैसा जाका भाव होत है उसे भक्ति वैसी ही भावे।
मनुजरूप[1] में मो को पाकर अर्जुन मूढ न मो को ध्यावे॥
परम[2] स्वरूप[3] महेश्वर हूँ मैं ऐसा नाहीं ज्ञान धरावे॥ १॥
झूठी[4] आशा[5] झूठे कर्मों[6] झूठे ज्ञानों में चित लावे।
भाव[7] असुर[8] राक्षस का गहकर जी में मोह[9] अचेत[10] बढ़ावे॥ २॥
महा[11] पुरुष मम[12] देव भाव सों दृढ़ता मन के बीच रखावे।
कारण[13] अव्यय[14] मान मुझे ही केवल मोरा[16] ध्यान लगावे॥ ३॥
यत्न[15] सहित हिय दृढ़ता राखे नमस्कार कर मम गुण गावे।
भक्ति धार के योग साधके[17] मम आराधन[18] नित्य निभावे॥४॥
कोई भजता भेद[19] भाव से कोई भाव अभेद[20] बनावे।
मुझे विश्वतोमुख[21] जो जाने ज्ञान-यज्ञ[22] वह "विमल" रचावे॥५॥

टिप्पणी

(१) ईश्वर के अवतार धारण करके मनुष्यों के समान कर्म करने से अज्ञानियों को उस अवतार होने में शङ्का हो जाती है और उन के भक्ति भाव का खण्डन हो जाता है राम चन्द्र जी को सीता के ब्याज में वन वन विचरते देख कर सती जी के शंका करने और महादेव जी के समझाने पर भी परीक्षा के बिना विश्वास न करने की कथा इसी भाव का नमूना है। यह भ्रम इस कारण हो जाता है कि अवतार का मनुष्य मार्ग पर चल कर दूसरों को सिखाना होता है। यदि वह अलौकिक रीति से कर्म करे तो मनुष्य जाति के हेतु वह प्रमाण न रहे। कारण यह है कि मनुष्य

जाति के लिये ऐसे कर्म उन की शक्ति से बाहर हो जायें और अवतार का सारा मतलब ही नष्ट हो जाये। (२) मूर्खों की भक्ति बच्चे पावरलती है। अज्ञान से जहा शंका पैदा हुई वहीं भक्ति का खडन हुआ। यह ईश्वर के सच्चे परमेस्वरूप अर्थात् अव्यक्त गुण को नहीं जानते और न व्यक्त रूप की महिमा को जानते हैं इस लिये झट भ्रम में पड़ जाते हैं (३) निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप हो कर ईश्वर या महेश्वर कहलाता है। (४) वो आशा पूर्ण होने वाली न हो। (५) वह कर्म जो निष्फल जाय। (६) वह ज्ञान जो मूल तत्व न बतला कर अज्ञान का खण्डन न करे (७) वह अहंकारी और तमोगुणी मनुष्य जिन के लक्षणा का विस्तार १६वें अध्याय में होगा। (८) वह अज्ञानी मनुष्य जाति जो स्वाभाविक रीति से निर्दयी और दुष्ट हो। (९) वह भूल जो अज्ञान से पैदा हो। (१०) जिस दशा म बुद्धि भ्रष्ट होने से जानने योग्य बातों का ज्ञान न हो। पहिले दूसरे अन्तर में असुर सम्पदा वाले मनुष्यो का कथन है। वह तत्व ज्ञान न रखकर भ्रम में पड़े हुये अनेक शकायें पैदा करते हैं। कर्म योग, भक्ति और ज्ञान विज्ञान प्राप्त किये विना इस बात की आशा करते हैं कि हम को परमानन्द प्राप्त हो। वह यह नहीं जानते कि तामसी कर्म और तामसी ज्ञान से उन की आशा पूरी नहीं हो सकती। यह आशा केवल कर्म योग भक्ति और ज्ञान विज्ञान से पूर्ण होती है। तमोगुण और रजोगुण को (जो आसुरी और राक्षसी गुण है)दबाये विना और सात्वकी गुण का बढ़ा कर अन्त में तीनों गुणों से रहित हुये विना मोक्ष नहीं होती। विना मोक्ष के परमानन्द नहीं मिल सकता। (११) वह देव-सम्पदा वाला सत्वगुणी मनुष्य जिस के लक्षणों का विस्तार १६वें अध्याय में होगा। (१२) ईश्वर की प्रकृति नामक शक्ति के तीन गुण हैं। जिन में रजोगुण और तमोगुण अधिक होता है वह असुर कहलाते हैं। जिन में सत्वगुण विशेष होता है वह देव कहलाते हैं। देव भाव ईश्वर की ओर ले जाने वाला है, इस लिये देव भाव वाले ईश्वर का आराधन (पूजा) करते हैं।(१३) जगत् के सर्व भूतों के उत्पन्न करने का कारण (१४) जिस में कोई विकार न हो और जो इसी लिये नाश रहित हो। (१५) असुर भाव वाले श्रद्धा रहित होकर भक्ति भाव से दूर रहते हैं। देव भाव वाले श्रद्धा से दृढ़ होकर उस की भक्ति करते हैं। स्मरण रहे कि पिछले तीन अन्तरों में देव भाव वाले की भक्ति के भाव वर्णन हैं। (१६) यह समझना भूल है कि जो मनुष्य पाप करके एक बार पतित हो जाता है वह सदा के लिये मुक्ति का हाथ से खो बैठता है। ईश्वर का न्याय ऐसा निर्दयी नहीं है। यत्न करने से सब किसी का उद्धार हो सकता है अर्थात् पुरुषार्थ से प्रारब्ध बदला जा सकता है। हां दृढ़ता होनी चाहिये। यदि दृढ़ता से ऐसा यत्न जारी रहे तो अन्त में मुक्ति हो जाती है। (१७) कर्म योग में पूर्ण होकर। (१८) ईश्वर का स्मरण पूजा अर्थात् भक्ति। देव भाव रखने वालों में जो भक्ति के भिन्न भिन्न भाव हैं उन में से ईश्वर को आदि कारण और अव्यय मान कर भक्ति करने वालों का उल्लेख तीसरे अंतर में हुआ। यत्न करके सकाम बुद्धि को निष्काम बनाने अर्थात् योग युक्त होने वालों

और ज्ञान विज्ञान को पाकर भक्ति करने वालों का कथन चौथे अन्तरे में होगा। भेद और अभेद भाव से भक्ति करने वालों का निरूपण पांचवें अन्तरे से आरम्भ हो कर अगले भजन तक जारी रहेगा। (१६) जो भक्त इस अव्यक्त ब्रह्म के नाना व्यक्त रूपों को प्रथक प्रथक मानता है और अपने आपे को ईश्वर से न्यारा मान कर अपने आप को उस का दास और उस को अपना स्वामी समझता है वह भेद भाव से भक्ति करने वाला कहलाता है। (२०) जो भक्त जगत् के सर्व पदार्थों को उसी एक अव्यक्त ब्रह्म का रूप मान कर अपने आपे को भी उसी का स्वरूप समझकर उससे न्यारा नहीं मानता और उसमें लीन हो जाता है वह अभेद भाव का भक्त कहलाता है। (२१) जो सब को देखने वाला है और जिस भाव से जो कोई भक्ति करता है उस की भक्ति को इसी भाव से ग्रहण करके फल देता है। (२२) वह यज्ञ अर्थात् कर्म जो ज्ञान योग अर्थात् अकर्त्ता भाव से किया जाय। जो भक्त यह मान कर कर्म करताहै कि मैं ईश्वर की इच्छानुसार उसी को अर्पण करके कर्म करताहूं वह ज्ञान-यज्ञ रचताहै। वह समझताहै कि कर्म ईश्वर ने बनाताहै। उसी ने मुझे पैदा किया है। वही कर्म करने की बुद्धि देता है। इस लिये उस की इच्छानुसार कर्म करना मेरा कर्त्तव्य है। देखो चौथे अध्याय का अन्तिम भजन।

(भजन नं० ७७ श्लोक १६—१६)

(ईश्वर के भेद भाव का निरूपण)

तर्ज—मेरे भोले भाले शम्भू भस्मी रमाने वाले।

श्रुति उक्त स्मृति वर्णित सब यज्ञ जान मे हूं।
सामग्रियां यज्ञों की अरु मन्त्र खान में हूं॥ १॥
म अग्नि आप ही हूं अरु आप आहुती हूं।
मैं[१] अन्न[२] औषधी हूं अरु पौव[४] मान में हूं॥ २॥
माता पिता पितामह धाता सभी जगत् का।
म साम हू यजुर हू अरु ऋक् सुजान में हूं॥३॥
हूं ओम् शुद्ध स्वामी मैं हू भर्तार[११] साक्षी[१२]।
ज्ञातव्य पार्थ हूं मैं अरु सुख निधान[१४] मैं हू॥४॥
हू आप बीज अव्यय[१५] उत्पत्ति नाश[१६] कारण।
हू सोहृदय[१७] सुगति[१८] मैं रक्षा सुथान[१९] में हू॥५॥

हूं सत्[20] असत्य[21] मृत्यु[22] मैं ही सुधा[23] "विमल" हूं।
हूं वायु[24] और पृथ्वी[25] अरु चन्द्र[26] भान[27] में हूं॥ ६॥

टिप्पणी

(१) मूल श्लोक में "क्रतु," "यज्ञ" 'स्वधा' तीन शब्द आये हैं जिन का अनुवाद हम ने "श्रुति और स्मृति के यज्ञ" किया है। कारण यह है कि श्रुति वर्णित अर्थात् वैदिक यज्ञों को "क्रतु", देवताओं के स्मृति वर्णित अर्थात् पौराणिक यज्ञों को "यज्ञ" और पित्रों के यज्ञों का "स्वधा" कहते हैं। (२) यह भोजन जो हवन में चढाया जाता है (३) यह वनस्पति अर्थात् फल फलादिक जो यज्ञ की सामिग्री होते हैं। (४) (आहुति देने का) घी। (५) जगत् का पैदा करने वाला (६) ब्रह्मा जी से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस दृष्टि से वह पिता है और उन का पैदा करने वाला ईश्वर पितामह (दादा) है। (७) आधार (८) यह तीनों वेद मिलकर त्रिवेद कहलाते हैं। अथर्वण वेद का नाम यहां इस कारण नहीं लिया जाता है कि इस का समावेश यजुर्वेद में माना जाता है। (९) जगत् की उत्पत्ति का सङ्कल्प करने वाला ब्रह्म। (१०) मालिक की तरह सब की सभाल करने वाला। (११) पति (१२) सब बातों को देखने वाला (१३) जानने योग्य। ब्रह्म ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का समावेश है इस लिये ब्रह्म के ज्ञान होने से सब का ज्ञान हो जाता है। इसी कारण वह जानने के योग्य है (१४) सुख की खानि अर्थात् परमानन्द (१५) वह नाश न होने वाला और विकार रहित बीज जिस से सृष्टि पैदा होती है। (१६) उत्पत्ति और प्रलय का करने वाला (१७) जो बिना किसी स्वार्थ के मुहब्बत कर (जैसे माता)। (१८) वह मूल गति जिस से सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं और जिस में लय का अन्त होता है। (१९) परम धाम (२०) अव्यक्त रूप निर्गुण ब्रह्म जिस में विकार नहीं होता (२१) व्यक्त रूप सगुण ब्रह्म जिस में विकार होता है। (२२) व्यक्त सृष्टि को अव्यक्त बनाने वाला (२३) व्यक्त सृष्टि का बनाये रखने अर्थात् चलता रखने वाला (२४) वह शक्ति जो जल को सुखा देता है (२५) वह शक्ति जो जल को चूस लेती है। (२६) वह शक्ति जो जल की वर्षा कराती है (२७) वह शक्ति जो जल को तपा कर वायु (भाप) के रूप में पृथ्वी से आकाश में लेजाती है। सारांश इस सारे विस्तार का यह है कि इस के द्वारा अभेद भाव (अद्वित) का भेद भाव (कथन) प्रकट होता है। ग्यारहवें बारहवें अध्यायों में इस प्रकार का कथन और भी प्रसिद्ध होगा।

(भजन नम्बर २०—२२ व श्लोक नम्बर २६—२३)

[विविध भक्ति भाव और उन के फल]

तर्ज—हमें नहिं काम दुनिया से हमें श्री कृष्ण प्यारा है।

त्रिवेदी[1] सोम याजी[2] जो सुगति[3] निष्पाप पाते हैं।
मुझे वे स्वर्ग इच्छा से रचा कर यज्ञ[4] धाते हैं ॥१॥
पहुँच[5] कर स्वर्ग में वे ही धनञ्जय भोग देवों के।
बदल में सर्व यज्ञों के वहां पर भोग आते हैं ॥ २ ॥
चुकें जब पुन्य सब उनके जगत् को वह फिरें उल्टे।
उन्हे यह यज्ञ वेदों के युहीं चक्कर खिलाते हैं ॥ ३ ॥
किसी[6] को जो नहीं भज कर निरा सुमरन करे मेरा।
सदा वह युक्त[7] मोरे से कुशल[8] अरु योग[9] पाते है ॥४॥
ग्रहण[10] कर लेत हूं निश्चय वही फल फूल पत्ती जल।
कि जिस को भक्तिउद्यम[11] से मुझे प्रेमी[12] चढ़ाते हैं ॥५॥
करें[13] जो दान तप भोजन हवन अरु कर्म मम अर्पण।
शुभाशुभ फल सभी[14] तजकर वही बधन छुड़ाते है ॥६॥
इसी सन्यास[15] के द्वारा करें जो युक्त[16] आपे को।
मुक्त[17] हो कर वही मेरे निकट[18] हे पार्थ आते हैं॥७॥
परतप[19] सर्व भूतों के लिये मैं एक सा[20] ही हूँ।
न कोई हैं प्रिय मोरे न कोई जी दुखाते हैं ॥ ८ ॥
करें जो नर भजन मोरा रखा कर भक्ति निज मन में।
रहूँ उन में समाया[21] वे सदा मो में समाते हैं ॥९॥,
दुराचारी[22] अधम नर भी करे यदि भक्ति मेरी ही।
उन्हें गिन साधु जन जब वह सुमति[23] ऐसी धराते हैं ॥११॥
बनें[24] धरमात्मा जल्दी पुन गति मोक्ष की पावें।
समझलो[25] भक्त जन मेरे कभी भी क्षय न पाते हैं ॥ ११ ॥

तरें जब शूद्र[26] जन[27] बनिता[28] वैश्य[29] अरु पापयोनी[30] भी।
सदा मोरी शरण लेकर मुझे ही जो मनाते हैं॥ १२॥
ग्रहण करके शरण मोरी। न उनको मोक्ष कैसे हो
ब्राह्मण पुन्यकृत[31] ऋषि जन महा शुभ जो कहाते[3] हैं॥१३॥
जगत् दुख[32] लोक है झूठा[33] भजन कर इस लिये मोरा[4]
सुगति उन को मिले मोरी "विमल" जो लौ लगाते है॥१४॥

टिप्पणी

(१) ऋग वेद साम वेद और यजुर्वेद के बताये हुये यज्ञों के द्वारा (स्वर्ग की इच्छा से) ईश्वर की भक्ति करने वाले। कर्म काण्डी या मीमान्सित कर्म करने वाले (२) सोम लता का रस पीने वाले। सोमलता (बूटी) का रस चान्दनी में रख कर तैयार किया जाता था। मीमांसक इस रस को शरीर का बल बढ़ाने, सिर में तरावट पहुचाने, सत्वगुण को विशेष करने और समाधि की शक्ति पाने के हेतु किया करते थे। प्राचीन ग्रन्थों में इसके गुण विस्तार पूर्वक लिखे हैं। आज कल के इतिहासों में इस को एक प्रकार की शराब लिखा है। परन्तु इस का असर शराब से बिलकुल उल्टा होता था। (३) कर्म काण्ड के द्वारा अपने पापों को दूर कर के धर्मात्मा बनने वाले। (४) यह कर्म काण्डी अर्थात् त्रिवेदी मीमांसित यज्ञों के द्वारा स्वर्ग की इच्छा से ईश्वर की भक्ति करते हैं। या यों कहो कि उन की अर्थार्थी (सकाम) भक्ति ईश्वर के भय भाव रूप से होती है। इस भक्ति का फल स्वर्ग है और वह उनको [illegible] हो जाता है। (५) दूसरे अध्याय में कहा गया है कि सकाम कर्म के फल से स्वर्ग मिल जाता है परन्तु मोक्ष नहीं मिलती। स्वर्ग में अपने कर्मों के फल भोग कर फिर जगत् में जन्म लेना पड़ता है। इस तरह आवागमन का चक्कर जारी रहता है। (६) जो किसी और का भजन न कर के ईश्वर की अनन्य भक्ति करते हैं। (७) पूर्ण योगी (८) उन पदार्थों की रक्षा जो प्राप्त हो (९) उन पदार्थों के मिलने का प्रयत्न जो प्राप्त न हो। जो मनुष्य योग और भक्ति का साधन करता है वह मिली हुई वस्तुओं की रक्षा और न मिली हुई को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। ईश्वर उस के हेतु यह काम आप से आप करा देता है अर्थात् आप और मनुष्य आकर उस का काम कर जाते हैं (१०) कर्म का भाव कर्ता की बुद्धि के अनुसार होता है। जिस का भाव जैसा होता है उसके कर्म को ईश्वर ग्रहण करता है। ईश्वर केवल भाव का भूखा है। बुद्ध भोजनादिक पदार्थों की उस को जरूरत नहीं। भक्ति मार्ग में निर्धन और धनवान सब का अधिकार बराबर है। भीलिनी के बेर सुदामा के तन्दुल और

विदुर जी का साग इसी भाव के प्रसिद्धि प्रमाण है। (११) कर्म योग और भक्ति दोनों के साधन करने के हेतु उद्योग (यत्न) की आवश्यकता रहती है (१२) श्रद्धा (विश्वास) रखने वाले भक्त (१३) कर्म योग की परिभाषा में इसी को निष्काम भाव बनाना कहते है। (१४) दूसरे और तीसरे अध्यायों में कहा जा चुका है कि निष्काम कर्म से बंधन नहीं होता। निर्गुण मार्ग वालों की परिभाषा में इसी को आत्मा की (प्रकृति से) स्वतन्त्रता कहते हैं (१५) सन्यास याग अर्थात् निष्काम बुद्धि या अकर्त्ता भाव (१६) पूर्ण योगी (१७) आजाद होकर अर्थात् देह छोड़ कर। (१८) ब्रह्म में मिल कर मोक्ष गति पाते है (१९) दुश्मनों को जला देने वाला (अर्जुन) (२०) यहा यह तर्कना उठाई जाती है कि इस स्थान पर ईश्वर का सब के हेतु एकसा बताया है। १६ वें अध्याय में असुर की बुराई करके यह कहा है कि उसको ईश्वर नर्क में फेंकता है। इन वाक्यों में परस्पर विरोध है। हमारी तुच्छ मति में यह श का निर्मूल है। ईश्वर सब को समान है, न भक्त से उसे प्रेम है न दुष्ट से बैर। अपने अपने भाव के अनुसार मनुष्य फल पाते हैं। जो भक्ति करके आनन्द भोगते हैं उन पर ईश्वर का प्रेम प्रतीत होता है। जो कुकर्म करके दु ख भोगते हैं उन पर हमका उसका कोप नज़र आता है। यह प्रेम और बैर भाव मनुष्य के भाव है न कि ईश्वर के। ईश्वर निर्गुण और निर्भाव है। इसमें कुछ भी स देह नहीं हे। (२१) जब मनुष्य मोक्ष पाकर ब्रह्म के भण्डार में जा मिलता है तब चाहे उसको ब्रह्म में समाया हुआ कहो चाहे ब्रह्म को उसम समाया हुआ। सातवें अध्याय में ज्ञानी भक्त को ब्रह्मरूप बताने का यही अभिप्राय हे। (२२) कुकर्मी भी भक्ति भाव बढाने में अपने कर्म ईश्वर अर्पण करता है। ऐसा करने से उसकी बुद्धि निष्काम होजाती है। उसको साधु की पदवी मिल जाती है क्योंकि साधनकरने वाले ही का नाम साधु है। (२३) अच्छी बुद्धि। बुद्धि को निष्काम बनाना अर्थात् ईश्वर अर्पण करके कर्म करने की बुद्धि रखना निश्चय ही उत्तम है। (२४) जब बुद्धि उत्तम हो जाती है तब कर्म भी उत्तम होजाते हैं और मनुष्य धर्मात्मा बन जाता है। वाल्मीकि आदिक इस के प्रसिद्ध प्रमाण हैं (२५) जो ईश्वर अर्पण कर्म करने की बुद्धि रखता है वह कर्म योगी होजाता है। कर्म योगी का कभी नाश नहीं होता। देखो भजन न० ६२ व ६३। (२६) भक्ति मार्ग में जाति का कुछ विचार नहीं होता।

" जाति पाति पूछे नहि कोय हरि को भजे सो हरि का होय,

प्रसिद्धि है (२७) रैदास (चमार) सदना (कसाई) कबीर (जुलाहे) आदिक शूद्र होकर भी महा उत्तम भक्तहुए हैं (२८) स्त्री को स्वाभाविक रीति से अज्ञानी माना जाता है। परतु मीरा बाई करमाबाई आदिक भक्त विख्यात हैं। (२९) त्रिलोचन आदिक भक्त वैश्य जाति में हुये हैं (३०) " पाप योनी" के अर्थ में मति भेदहै।बहुत से टीकाकारों ने इसका अर्थ माता पिता के अधर्म सम्बन्ध की सन्तान,, कियाहै। हमारी मति में यह अर्थ ठीक नहींहे। इस शब्द का उपयोग उन जातियों के

लिये किया गया है जिन को अधम माना जाताहै,इस लिये इसका अर्थ होना चाहिये "यह जातियां जो कुकर्म करके अपना पेट पालन करती हैं,, (जैसे गूजर मीने आदिक चोरी पेशा हैं)घाटम जी ऐसी जाति के भक्त हुये हैं। रामायण में लिखाहै

' भक्तिवन्त अति नीच पिरानी + मोहि परम प्रिय यह मम बानी,'।

(३१) राजऋषि (क्षत्री) जैसे विश्वामित्र (जो तप करने के पीछे ब्रह्मर्षि होगये थे) (३२) जगत् में सुख कम और दुःख अधिक हैं। हर एक प्राणी के साथ कोई न कोई दुःख लगा हुआ है। (३३) नाशवान् मनुष्य अपनी बात बदलने के कारण झूठा कहलाता है, जगत् सर्व पदार्थों में विकार होते रहने के कारण झूठा है। (३४) भक्ति के सगुण मार्ग की स्पष्टता के लिये कृष्णजी ने अपने अवतारी रूप को ईश्वर का रूप बताकर अर्जुन के चित्त में इस बात को जमाया है कि तू मेरी (ईश्वर) भक्ति कर। भक्ति ही से तेरी मुक्ति होगी।

(भजन नम्बर ७९—श्लोक २२—२५ व ३४)

(त्रिविधि भक्ति भाव से त्रिविधि गतियों की प्राप्ति)

तर्ज—श्याम दर्शन की आशा लगी है बड़ी—

करूं यज्ञों को मैं यज्ञ—स्वामी ग्रहन।
जोई कुन्तीनन्दन,लेके श्रद्धा चन्दन, करता देवन यजन
पूर्व विधि को वह तज के करे मम यजन ॥ १ ॥
इमि जो श्रद्धा रखाय,वह यह लखने न पाय,कैसा मोरा सुभाय
इसी कारण वह भोगे यह आवागमन ॥ २ ॥
देवों को जोमनाय,उनकी गति वह कमाय, पित्रों को जो रिझाय,
वही पित्रों में अपना बनाय सदन ॥ ३ ॥
जोइ भूतन को ध्याय,सोइ उनमें मिल जाय, वही मो में समाय,
जोइ करता है मोरा धनञ्जय यजन ॥ ४ ॥
"विमल"मम भक्ति ध्याय,मम आराधन निभाय,मम परायण होजाय
मुझे पायेगा कर दृढ़वत युक्त मन ॥ ५ ॥

टिप्पणी

(१) पांचवे अध्याय के अन्त में ईश्वर को सर्व यज्ञों का भोक्ता बताया जानचा है

और आठवें अध्याय में अधियज्ञ (२) विश्वास या भक्ति (३) अन्य देवताओं के यज्ञ यागादिक (४) जो पूर्वजों की बताई हुई विधि पूर्वक न हो । १७ वें अध्याय में ऐसी श्रद्धा का विस्तार है (५) ऐसे भक्त अज्ञानी होते हैं। वह ईश्वर का भाव नहीं जानते। उन को यह बोध नहीं होता कि ईश्वर सब का आदि कारण और सब यज्ञों का भोक्ता है। अज्ञान के कारण अन्य देवताओं की पुजा करते हैं। (६) भजन नं० ६८ व ७८ में कहा जा चुका है कि ऐसी भक्ति स्वर्ग प्राप्त करा देती है, परन्तु मोक्ष दायक न होने के कारण आवागमन से नहीं छुडाती। (७) भजन नं० ६८ में कहा गया है कि जैसा जिसका भाव होता है वह वैसी ही गति पाता है। उसी का विस्तार करके यहा कहा गया है कि देवताओं के आराधन से देवलोक (स्वर्ग), पित्रों के यज्ञ करने से पित्रलोक और भूतों की उपासना से भूत लोक प्राप्त होता है। (८) वर (९) मरे हुये प्राणियों की समाधी, जीते जागते पुरुषों, पीपल बडादिक वृक्षों, नदियों आदिक की पूजा करने वाले भूत उपासक कहलाते हैं (१०) ईश्वर भक्ति से ईश्वर में लीन होजाने वाला अर्थात् ब्रह्म निष्ठा वाला बन। (११) दण्ड (लकडी) की वत् (समान) पड कर प्रणाम कर (१२) आत्मा से युक्त अर्थात् ब्रह्म से मिला हुआ पूर्ण योगी।

दसवें अध्याय का सार

पिछले तीन अध्यायों में यह वर्णन होता रहा है कि सर्व नाम-रूपात्मक वस्तुयें केवल उसी निर्गुण और अव्यय ब्रह्म के व्यय रूप का प्रकाश है। इस अध्याय में इसी बात को अनेक उदाहरणों के द्वारा विस्तार पूर्वक दर्शा कर यह बतलाया है कि—

(१) भक्ति और योग ही से यह अध्यात्म ज्ञान। विज्ञान। होता है जिस के द्वारा मनुष्य ईश्वर के रूप और उसकी विभूति को जगत् के सब पदार्थों में देखता और पहिचानता है। उसको मालूम हो जाता है कि ब्रह्म अपनी माया अर्थात् प्रकृति से यह अनेक रूप धारण करके जगत् की रचना करता और उस का तमाशा देखता है।

(२) जिस को योग, भक्ति और विज्ञान के द्वारा यह तत्व मालूम हो जाता है, वह यह जान कर कि मैं भी सनातन और अविनाशी ब्रह्म रूप हूं, अपने आपे में बड़ा मग्न रहता है और ब्रह्म में लीन होजाता है। मानों वह ज्योति स्वरूप उसके हृदय में ज्योति जगा कर रोशनी कर देता है जिस के कारण उसको सब तत्व दिखाई देने लगता है।

(३) इस गति पर पहुंच कर मनुष्य की यह हालत होजाती है कि—

'आनन्द के सिन्धु जा आन बसे तिनका न रहो तन को तपनो।
जब आप में आप समाय गये तब आप में आप लहो अपनो।
जब आप में आप लहो अपना तब अपनोहि जाप रहो जपना।
जब ज्ञान को भानु प्रकाश भया जग जीवन होय गयो सपनो।
दोहा—"ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरत रहे पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहें, हर को भूले नाहिं'।

दसवां अध्याय-विभूति योग

(भजन नम्बर ८० श्लोक १—७)

(विभूति ज्ञान की आवश्यकता)

दोहा—इतनी कथा सुनाय के, बोले श्री भगवान ।
योग विभूती का सुनो, अर्जुन महा बखान ॥

चौपाई

देखि[1] प्रीति तोरी यह भाई । परम[2] बचन फिर दूं बतलाई ।
सर्व[3] विभूती अब बतलाऊं । तोरे हित[4] को तोहि सुनाऊं ॥
देव[5] गनन अरु महा[6] ऋषिन को । ज्ञान नहीं मम आदि गतिन को ।
यह कब मोरा ज्ञान धरावें । आदि जन्म जब मोसे पावें ॥
मोहि महेश्वर[7] कर जिन जाना। नित्य अनादि[8] और अज[9] माना ।
जो ज्ञानी यह ज्ञान धरावें । पाप बन्ध से वह छुट[10] जावें ॥
या ही कारण तू हे अर्जुन । लक्षण[11] योग विभूती के सुन ।
तत्व सहित जो इन को पावे । अचल योग उसको मिल जावे ॥

सोरठा—मनू[12] पूर्व के चार,[13] और महा ऋषि[14] सात हैं ।
जगत् चलावन[15] हार, मोरे मन अरु भाव से ॥

छन्द

जो भय अभय निर्मोहिता[16] सुख दु:ख सत्य क्षमा शमम्[17] ।
तप ज्ञान भावाभाव[18] बुद्धी दान अपयश यश दमम्[19] ॥
समता[20] अहिंसा तुष्टता[21] आदिक विविधि गुण हैं घने ।
यह सर्व प्राणी मात्र के भीतर "विमल" मोसे[22] बने ॥

टिप्पणी

(१) शिक्षा उसी का दी जाती है जो प्रीति से सुनता है न कि उसको जो केवल

तर्क नाप उठाने के लिये ऐसा करता है। (२) अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म के व्यक्त और सगुण रूपों का थोड़ा थोड़ा निरूपण पिछले अध्याय में हो चुका है। यहां इस का विस्तार अच्छी तरह किया गया है। (३) व्यक्त रूपों का विस्तार। (४) आठवीं चौपाई में इस विस्तार का फल बताया हुआ है (५) देवताओं के अर्थ करने में टीकाकारों में मत भेद है। कोई कोई टीकाकार कहते हैं कि देवताओं का अर्थ अन्त करण (मन, चित, बुद्धि अहंकार) है। वह कहते हैं कि ईश्वर इस के द्वारा नहीं जाना जा सकता। परन्तु इस "देवता" शब्द का साधारण अर्थ भी वैदिक धर्मानुसार है। कारण यह है कि 'परब्रह्म' ही से देवताओं की उत्पत्ति मानी गई है। (६) ऐसे टीकाकार "महर्षि" शब्द का अर्थ "प्रकृति के विकार" करते हैं। परन्तु यहां भी इस शब्द के साधारण अर्थ लेने में कोई अड़चन नहीं है। (७) जगत् का मालिक (८) जिस को आदि न हो (९) जिस का जन्म न हो। आदि अन्त और जन्म, मरण, सगुण और व्यक्त रूपों का हेतु होता है। ब्रह्म इन से रहित है (१०) पहिले कहा जा चुका है कि विज्ञान के बिना कर्म योग और भक्ति पूर्ण नहीं होते। जब तक विज्ञान से ब्रह्म और संसार के सब पदार्थों का तत्त्व ज्ञान नहीं होता तब तक केवल ज्ञान हो जाने से काम नहीं चलता। ज्ञान कर्मों पर तब ही प्रभाविक होता है कि जब विज्ञान के द्वारा तत्त्व का ज्ञान और ईश्वर का विस्तार विदित हो जाता है। जब यह विभूति ज्ञान हो जाता है, तब ही कहीं जाकर कर्म योग और भक्ति का साधन अचल व अडिग होता है और मनुष्य पाप करने छोड़ देता है। इस लिये विज्ञान या विभूति जानने की बड़ी आवश्यकता है। (११) विस्तार करने की शक्ति अर्थात् माया योग जिस के द्वारा अव्यक्त से व्यक्त की रचना होती है। (१२) आठवें अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि ब्रह्मा जी का एक दिन या एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड़ बरस का होता है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। हर एक मन्वन्तर का न्यारा न्यारा मनु (न्याय बनाने वाला) होता है। इस प्रकार चौदह मनु होते हैं जिन के नाम यह हैं– (१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णि (९) दक्ष सावर्णि (१०) ब्रह्म सावर्णि (११) धर्म सावर्णि (१२) रुद्र सावर्णि (१३) देवसावर्णि (१४) इन्द्र सावर्णि। (अब तक छै मनु हो चुके हैं। सातवें मनु (वैवस्वत) का मन्वन्तर चल रहा है) (१३) इस विषय में बहुत मत भेद है कि यह चार कौन हैं। बहुत से टीकाकार कहते हैं कि यह सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार हैं। तिलक महाराज ने लिखा है कि इनसे वासुदेव (आत्मा) संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) का तात्पर्य है। (१४) किसी ने वशिष्ठ, अंगिरा, उत्तर, अगस्त, पुलह, भृगु, कश्यप को किसी ने मरीचि, अंगिरस, अत्रि, पुलस्त, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ को और किसी ने भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, कश्यप, अत्रि, और वशिष्ठ को सप्तर्षि बताया है। परन्तु सात ऋषि भी मनु के समान हर एक मन्वन्तर के भिन्न भिन्न

होते हैं (१५) जो टीकाकार 'पूर्व" के शब्द को सप्त ऋषि के साथ जोड़ते हैं वह पूर्व का अर्थ सनातन करते हैं। वह सप्तर्षि से महत्तत्व, अहकार आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी मतबल लेते है। वह चारों मनु अन्त करण (मन, चित्त बुद्धि, अहकार) को मानते हैं। जो टीकाकार पूर्व के शब्द को चार के साथ जोड़ते हैं वह मनु का अर्थ आत्मा, पूर्व के चारों का अर्थ अन्त करण के चारों अग और सप्तर्षियों का अर्थ ऊपर लिखे हुये प्रकृति के साता विकार करते हैं। हमारी तुच्छ मति में यह पिछला अर्थ ठीक जान पड़ता है। कारण यह कि गीता में सब स्थानोंपर सृष्टि-रचना के यही मूल द्रव्य वर्णन हुये हैं। यदि ऊपर लिखे हुये मनु और ऋषियों को जगत् का चलाने वाला मानें तो यह प्रश्न होता है कि यहा कौनसे मन्वन्तर के मनुओं और सप्तर्षियों से मुराद ली जाय। किसी एक मन्वन्तर के मनुओं और ऋषियों को क्यों जगत् का चलाने वाला माना जाय? सनक, सनन्दन सनातन, सनत् कुमार बाल ब्रह्मचारी रहे, वह जगत् चलाने वाले हो ही नहीं सकते। तिलक महाराज ने इसी शका के कारण पूर्व के चारों का अर्थ चतुर्व्यूह किया है परन्तु गीता का यह चतुर्व्यूह का मत मान्य नही है। गीता ने केवल अद्वैत वेदात मत के सिद्धान्तों को ग्रहण किया है। (१६) मोह को दूर करने का भाव (१७) मन को वश में करना (१८) भाव और अभाव अर्थात् उत्पत्ति और नाश(१९)इन्द्रिय-निग्रह (२०) सन्तोष (२१)सब को समान जानना अर्थात् निद्वन्द होना (२२) इस स्थान पर भी अद्वैत वेदान्त साफ झलक रहा है। यहा यह सिद्धान्त ग्रहण करके दिखलाया है कि एक अकेला ब्रह्म सब सृष्टि का आदि कारण है। जीव और प्रकृति दोनों उस की शक्तिया हैं। जीव में मोक्ष व प्रेरणा और प्रकृति में कर्म करने और कर्म से पैदा होने वाले बधन डालने व प्रेरणा ईश्वर ही के कारण होती है। वह सब प्रकार के भावों का पैदा करने वाल है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीव और प्रकृति को ईसाई मत वालों ने मसीह ओ शैतान मान लिया है क्योंकि मोक्ष की प्रेरणा करने वाला आत्मा है और बधन फंसाने वाली प्रकृति है।

(भजन नं० ८१ श्लोक ८—११)

[विभूति का प्रभाव भक्ति पर]

तर्ज—आगन में खेलत है चारों भाई

विभूति से पाये भक्ति दृढाई

वस्तु सभी निकसत है मोसे, मैं दू सबहि रचाई ॥ १ ॥

याय जान कर भाव युक्त हो, भजे चतुर उर लाई ॥ २ ॥

चित्त जमा कर माण लड़ा आपस में बोध कराई ॥ ३ ॥
नित्य रहे संतुष्ट मगन वह, मोहिं कथन कर भाई ॥ ४ ॥
रह कर ऐसा युक्त सदा जो, भजता प्रीति बढ़ाई ॥ ५ ॥
बुद्धि योग वह दूं उसको जो, मोसे दे मिलवाई ॥ ६ ॥
अर्जुन उस के घट में बस कर, उसका होय सहाई ॥ ७ ॥
"विमल" हटा दू मोह अँधेरा, ज्ञान ज्योति जगवाई ॥ ८ ॥

टिप्पणी

(१) विभूति विस्तार अर्थात् विज्ञान (जैसा कि भूमिका में गीता के मूल नियम बतलाते समय कहा गया है) भक्ति और योग में दृढ़ता पैदा करता है। जब तक मनुष्य विज्ञान से ईश्वर के तत्व को नहीं जानता, तब तक ज्ञान उस के कर्मों पर प्रभाविक नहीं होता। तनिक सी पीड़ा पाने से वह सारा ज्ञान भूल जाता है और धर्म मार्ग से विचल जाता है। विज्ञान (विभूति विस्तार) सब वस्तुओं के तत्व को उस के जी में ऐसा जमा देता है कि वह ज्ञानी अडिग हो कर भक्ति और योग का पालन करता है। (२) तत्त ज्ञान रखते हुये (३) कसी दूसरे के साथ विवाद करके शंका समाधान करते हैं। भक्ति भाव का बढ़ा कर हरि चर्चा करके मग्न रहते हैं। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने ही जी में वस्तुओं के सम्बन्ध को (जिन से सृष्टि की रचना होती है) विचार करके अपनी शंकाओं को दूर करते हैं और संतुष्ट होते हैं। (४) तृप्ति। वह गति जिस में किसी और वस्तु की इच्छा न हो (५) साथ युक्त रहकर अर्थात् विज्ञानी होकर (६) बुद्धि कौशल। वह बुद्धि जिस को ठीक २ विचार करने की शक्ति प्राप्त हो अर्थात् निष्काम और स्थिर बुद्धि। यदि 'बुद्धि योग' का अर्थ "ज्ञान योग' किया जाय तब भी भावार्थ यही रहता है। क्योंकि निष्काम और अकर्त्ता भाव की बुद्धि रखने ही का नाम ज्ञान योग है। जो ऐसी बुद्धि रख कर अर्थात् कर्म योगी होकर भक्ति करता है और ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करता है, वह मानों ईश्वर की कृपा से ज्ञान की ज्योति जगा कर मोह को दूर करता है। वह इन तीनों साधनों से मुक्ति पाने का प्रबन्ध करता है। मोह प्रकृति से पैदा होता है, इस लिये जिस की आत्मा प्रकृति के बंधन से छूट जाती है वह ही स्वतन्त्र होकर परमात्मा में आ मिलता है।

(भजन नम्बर ८२—श्लोक १२—१८)

(विभूति विस्तार के हेतु अर्जुन की स्तुति और प्रार्थना)

तर्ज़—अटारियों पै गिरा री कबूतर आधी रात।

हे भगवन मोहे अपनी विभूति सुनाओ ।
अज[१] परम[२] ब्रह्म[३] हो आदि देवा सर्वोत्तम ।
प्रभु परम धाम[४] हो हो अति[५] विमल पुरुषोत्तम[६] ।
जो महिमा अपनी तुम ने मोहे बतलाई ।
नारद[७] द्वैपाइन[८] असित[९] और देवल गाई ॥ २ ॥
यह वचन तुम्हारा सब सच्चा मैं ने माना ।
पर भूल[१०] तुम्हारा जाने नहीं देव दाना[११] ॥ ३॥
जग-पति[१२] भूतेश्वर[१३] देवन-देव[१४] भूत भावन[१५] ।
जानत हो[१६] तुम ही अपने लक्षण हे पावन ॥४॥
तुम आप कृपा कर कहिये विभूति विस्तारा ।
सम्पूर्ण जगत् में जासों है वास तिहारा ॥५॥
हे योगिन[१७] चिन्तन करि के कैसे पहिचानूं ।
किन[१८] किन के भीतर रूप तिहारा मैं जानूं ॥६॥
हे नाथ[१९] मुझे फिर[२०] योग[२१] अरु विभूति सुनाओ ।
मन भरता नाहीं अमृत "विमल" यह पिलाओ ॥७॥

टिप्पणी

(१) जिसका जन्म न हो । अनादि(२) ईश्वर जो सृष्टि की रचना करता है (३) सब से पहिला देवता या देवताओं का पैदा करने वाला (४) अन्त में जिस के भीतर सब लय होजाय । (५) परम पवित्र (६) वह पुरुष जो सब का आदि कारण है । (७) नारद मुनि के बीन बजाने और हरि गुण गाने का उल्लेख पुराणों में बहुत प्रसिद्ध है । (८) व्यास जी का नाम द्वैपाइन था । अपने ज्ञान के कारण व्यास नाम पाया । (९) आनन्द गिरी जी ने इन को असित ऋषि का पुत्र लिखा है । यह बाप बेटे दोनों सरनाम ऋषि हुये हैं (१०) तत्व अर्थात् अव्यक्त रूप (११) राक्षस । देवी पाठों में इन के मारे जाने की बहुत कथायें हैं (१२) जगत् के पति (१३) भूतों अर्थात् प्राणिओं के ईश्वर (१४) देवताओं के देवता (१५) भूतों के पैदा करने वाले (१६) जिस प्रकार रचना करने वाला आप बखान करसकता है उस प्रकार दूसरा नहीं करसकता । रामायण में भी कहा है—

'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहैं "

(१७) योगी। कैसा आश्चर्य है कि श्री कृष्ण जी को उन के समय में उनके दर्शन करने वाले योगी मानते थे और अब अज्ञान से रासलीला के रहस्य को न जान कर उसके द्वारा उनको बदनाम किया जा रहा है। (१८) भक्ति में साधधान करने के लिये यह विस्तार बहुत लाभ दायक होता है इस लिये अर्जुन ने जानने की इच्छा की है। (१९) कृष्ण भगवान (२०) योग माया अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त रचना करने की शक्ति (२१) व्यक्त रूप का विस्तार।

(भजन नम्बर ८३-श्लोक २०व २२-२४ व ३६-३९)

(विभूति विस्तार)

लावनी

है मम विभूति यों तो अवाक्[1] हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन।
मध्यान्त[2] आदि सब भूतों का मैं ही हूँ। मैं अनन्तकाल[3] विधाता[4] विश्वमुखी[5] हूँ॥
मैं जीवों में हूं प्राण[6], वाक्[7] शक्ती हूं। तेजस[8] तेजस्वी का जय विजयी की हूं॥
है अपरम्पार विभूति योग हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥१॥
है सर्व जगत् मोरा ही मोरा सुन सुन। मैं भविश्य भूतों का[9] अकुर हूँ अर्जुन॥
उद्योग शालियों[10] माहिं परिश्रम[11] की धुन। मैं ही सतोगुणी पुरुषों में हूँ सतगुन[12]॥
विस्तार असभव है मोरा हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥२॥
मैं वाक्यों में हूं ओम्[13] मन्त्र निस्तारन। मैं जगत् बीज अरु सर्व[14] चराचर कारन॥
मैं भेदों में हूं गुप्त मौन[15] साधारन। मैं राजाओं में नीति[16] दण्ड[17] अनुसारन॥
मैं बलान में आसक्त नहीं हे अर्जुन।
पर मुख्य मुख्य बतलाऊं तुझे मैं चुन चुन॥३॥
मध्यान्त आदि[18] हूँ जग की रचनाओं में। अध्यातम विद्या[19] हूँ मैं विद्याओं में॥

हूँ वीर स्कन्द[20] मैं सैनिक नैताओं[21] में । इन्द्रियों माहिं मन[22] चेत[23] जीवितार्थोंमें॥

चिन्तन में आयें न मोरे गुण हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊं तुझे मैं चुन चुन ॥४॥

हूँ मैं वित्तेशा[24] असुरों[25] अरु यक्षों में । हूं अनन्त[26] नागों[27] में वासुकि[28] सर्पों[29] में ॥

ज्ञानियों[30] माहिं हूँ ज्ञान जाप[31] यज्ञों में । मैं ही यम[32] अनुशासन करने वालोंमें॥

है अति अगम्य[33] मोरी महिमा हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊ तुझे मैं चुन चुन ॥५॥

मै परम सिद्ध[34] पुरुषों में कपिल मुनी[35] हूँ । मैं दिव्य देवऋषियों में नारद[36] भीहूँ॥

मैं गजेइन्द्रों[37] में ऐरावत[38] हाथी हूँ । गिननेवालों में मै ही काल[39] बली हूँ॥

है अथाह मोरा दिव्य[40] योग हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊ तुझे मै चुन चुन ॥६॥

मोहितों माहिं हूँ वृहस्पति[41] भृगुऋषियोंमें[42] ।हूँ हिमा[43] स्थावरों में मेरु शिखरोंमें[44] ॥

मैं शस्त्रों[45] में हूँ वज्र मृत्यु[46] हरियों में। मै बयार[47] हूँ जल्दी चलने हारों में ॥

मेरो प्रकाश है सब जग में हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊ तुझे मैं चुन चुन ॥७॥

झीलों में सागर[48] राजा[49] हूँ पुरुषों में । प्रह्लाद[50] भक्त हू देव शत्रु दैत्यों[51] में ॥

नदियों में गंगा[52] मगरमच्छ[53] मच्छों में । हूँ गरुड[54] पक्षियों माहिं सिंह[55] पशुओं में ॥

है असंख्य मोरे नाम रूप हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊ तुझे मैं चुन चुन ॥८॥

हूँ उच्चैश्रवा[56] रतन में अश्वों माही । हूँ मै रति पति[57] सन्तति के जनकों माहीं ॥

मै श्रेष्ठ द्वन्द्व[58] हू"विमन"समासों माहीं। म ही अभिन्न[59] आकार[60] अक्षरों माही ॥

अनगणित रूप क्या गिनू भला हे अर्जुन ।

पर मुख्य मुख्य वतलाऊ तुझे मैं चुन चुन ॥ ९॥

प्रतीत होता है कि यह रावण के भाई थे। यह तपस्या करके देवता बन गये थे। यही कारण है कि इन का नाम यहा ईश्वर के विभूति-विस्तार में लियो गया है। (२५) देवताओं से सदा झगड़ा और वैर रखने वाली जाति। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जाति अफ्रीकाकी रहने वाली थी। देव यानि जाति जो कुबेर जी की अनुचर थी, यक्ष कहलाती थी। (२६) शेषनाग। यह नाग केवल अलकार रूपी नाग है, असल में कोई नाग नहीं।कहा जाताहैकि नागों म एक ऐसी नागिन होती है जो बच्चे जनते ही एक कुन्डली बना लेती है और उस में उन बच्चों को घेर कर बैठ जातीहै। इन बच्चा को यह आप ही खा जाती है। कोई बच्चा कुन्डली से निकल कर भागने नहीं पाता और कुण्डली के अन्दर यह किसी बच्चे को खाये बिना नहीं छोडतो। यदि ऐसा सम्भव हो जाय कि कोइ बच्चा उस कुण्डली से निकल कर उस के खाने से बच जाय,तो वह शेष (बचा हुआ) नाग कहलाता है। यह शेष नाग विष्णु भगवान अर्थात् निर्गुण ब्रह्म का वाहन इस कारण माना जाता है कि यह निर्गुण ब्रह्म के निज गुण का दिखाने वाला है। निर्गुण ब्रह्म का निज गुण उस का अव्यक्त गुण है जिस को वेदों में 'नेति नेति" कह कर वर्णन किया जाता है। या या कहो कि ब्रह्म का गुण चिन्तन से बाहर है। जिस प्रकार कुन्डली से जो नाग बच जाय वह शेष नाग कहलाता है उसी प्रकार चिन्तन करते करते जिस का स्वरूप चिन्तन से बाहर रह जाय अर्थात् जो नेति नेति हो, वही निर्गुण ब्रह्म है। (२७) जिन सार्पों में विष थोडा होता है। (२८) विपल सार्पों का प्रसिद्ध राजा। (२९) जिन सार्पो म विष अधिक होता है। (३०) ज्ञानियों में सबझ ईश्वरही के अंश से ज्ञान होता है। ईश्वर सच्चिदानन्द है अर्थात् सत् (नाश रहित) चित (ज्ञान) और आनन्द का धाम है, इस लिये मनुष्य में भी ज्ञान का गुण उसी के अंश से उत्पन्न होता है। (३१) मधुसुदन जी ने जप को और यज्ञों स इस कारण उत्तम कहा है कि इस में हिंसा नहा होती। हमारी तुच्छ मति में यह यज्ञ चुप चाप बिना दिखावे के हो सकता है इस लिये उत्तम है। भक्ति मार्ग में भगवन् के नाम का जाप एक बडा साधन है इस लिये भी जप की महीमा बडीहै। (३२) कर्मों के फलानुसार यम राज भगवान सब का गति देते है। जैसा अटल न्याय इन का है किसी दूसरे राजा का नहा हो सकता। सब राजाओं के यहा भूल चूक हो सकती है, परन्तु इन के यहा भूल का काम नहा। इन के तजम रूपी दफ्तर में जिस का वर्णन भजन नम्बर ६३ की टिप्पणी में हो चुका है,हर एक कर्म की लिखत और उस के फल के भोग का हाल आप से आप लिखा जाता है, इस लिये भूल का होना सम्भव नहीं।(३३)जिस तक पहुच न हो(३४)जो जन्म ही स वैराग्य ज्ञान और दिव्य शक्ति रखता हो वह सिद्ध पुरुष कहलाताहै।(३५)सिद्ध पुरुषों में कपिल देव जी की पदवी सब से बड़ी है। इन को ईश्वर के चोबीस अवतारो में से पाचवा अवतार माना जाता है। यह कर्दम ऋषि के पुत्र थे। उन्हों न जन्म

लेते ही अपनी माता देवहूति को साख्य का ज्ञान सिखलाया था। साख्य शास्त्र जो छहों शास्त्र में से एक शास्त्र है इन्ही का रचित है। (३६) नारद मुनि सब ऋषियों के शिरोमणि माने जातेहैं। यह अपनी इच्छानुसार सदा ही ईश्वर के दर्शन करने के अधिकारी माने जाते है। (नारद शब्द का अर्थ "सशय" भी होता है। यदि इस शब्दार्थ पर विचार करें, तब भी यह प्रत्यक्ष है कि सशय ही के उत्पन्न होने स मनुष्य छान बीन करके ज्ञान प्राप्त करता और ईश्वर के पाने का अधिकारी होता है। सशय ही से भ्रम उत्पन्न हो कर सारे झगड़े पैदा होते हैं। इसी कारण नारद जी को झुम में टट्टू गी लगाने वाला कहा जाता है)। (३७) बड़े बड़े हाथियों (Mamoths)में(३८)कच्छप अवतार का वर्णन करते हुये श्री मद्भागवत पुराण में लिखा है कि जब समुद्र मथा गया, तब उस में स चौदह रत्न निकले। उन में से एक चौदन्ता भूरे रग का ऐरावत हाथी था जो राजा इन्द्र को दिया गया। इस कथा के तत्व वाद पर विचार करने से प्रतीत होता है कि बादलों ही का नाम ऐरावत है। जो जल पृथ्वी से भाप बन कर आकाश को जाता है वह इस ऐरावत का पानी पीना और जो वर्षा होती है वह इस का मूत्र करना है। बादल भूरे होते है और चारों ओर स इकट्ठे होते हैं, इस लिये ऐरावत का भूरे रग वाला और चौदन्ता कहा है। वर्षा करना राजा इन्द्र का काम है इस कारण यह उन्ही का हाथी है। (३६) श्रीधर जी की मतिानुसार काल का चक्र कि बराबर चलता रहता है और इस का घड़ी पल तक का ठीक हिसाब जारी है, इस लिये इस से बढ़ कर गिन्ती करने वाला अर्थात् हिसाब रखने वाला कोई नहीं है। रामानुज जी का विचार है कि काल पापों की अच्छ क गिन्ती करन वाला है इस लिये गणना करने वालों में इस की पदवी उत्तम है। हमारी मति में काल को पापों की गणना करन वाला मान कर उस की गणना को सकुचित बनाना ठीक प्रतीत नहीं होता। (४०) उत्तम माया योग अर्थात् अत्यत स व्यक्त रचना करन की शक्ति। (४१) देवताओं के मोहित। उन्हों ने एक यह शास्त्र भी लिखा है। (४२) ब्रह्मा जी के मानसिक पुत्र। इन्हों ने ब्रह्मा विष्णु और शिव तीनों की परीक्षा ली थी और इन्हों न इन तीनों में से विष्णु जी का सब स गम्भीर पाया क्यों कि वह छाती में लात मारने तक स क्रोधित न हुए।(४३)हिमालय पर्वत। इस से बढ़ कर कोई बड़ा ऊ चा और भारी पहाड़ नहीं है इस लिये अचलता में इस का सब से उत्तम कहा है। रामायण म भी कहा है। 'हिम गिरि कोट अचल रघुबीरा" (४४) ऐसा जान पड़ता है कि हिमालय का वह सब स ऊ चा शिखर (चोटी) जो अब एवरेस्ट(Everest)कहलाता है मेरु कहलाता था। काली दास जी ने अपने कुमार सम्भव" नाटक में मेरु का जो वर्णन किया है इससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। (४५) राजा इन्द्र का प्रसिद्ध हथियार। कहते हैं कि बिजुली से मुराद है। (४६) काल (मौत) को आज तक कोई नहीं जीत सका। यह सब को हर (जीत) लेता है। इस लिये हरियों अर्थात् जीतने वालों में सब स उत्तम है। (४७) उन्हीं चमने वालों का अब ही बयार अर्थात्

पवन से उपमा दी जाती है। मिसेज बेनी बिसेन्ट और मुन्शी सूरज नरायन मेहर ने "जल्दी चलने वालों" की जगह 'पवित्र करने वालों" अर्थ किया है। (४८) झील जब बहुत बड़ी हो जाती है तो सागर या समुद्र कहलाने लगती है (४९)राजा सब पर राज करने के कारण ईश्वर की शक्ति अधिक रखताहै इस लिये यह ईश्वर का रूप माना जाताहै (५०)हिरण्यकशिपु दैत्य के पुत्र। बड़े नामी भक्त हुयेहैं। इन को जन्म ही से ईश्वर की भक्ति मिली। इन्हीं की रक्षा के लिये नरसिंह अवतार हुआ। यह अवतार मुलतान में हुआ है, इस से मालूम होता है कि हिरणकशिपु पजाब में राज करता था। (५१) कश्यप मुनिकी दो स्त्रिया थी-एक दिति दूसरी अदिति। दिति की सन्तान दैत्य और अदिति की देवता कहलाई। दैत्यों, और देवताओं के आपस के झगडे पौराणिक कथाओं में बहुत वर्णन हैं। (५२) सारी नदियों में गगा जी की महिमा सब से बढ़ कर है। गगा जल में कीडा नहीं पडता। यह इन के जल की पवित्रता को प्रकट करता है। पुराणों में लिखा है कि यह देव लोक से पृथ्वी पर शिव जी महाराज की जटाओं में गिरती हैं और उन की जटाओं से निकल कर पृथ्वी को पवित्र करती है भागीरथी नाम से प्रसिद्ध हैं। कारण यह की भागीरथ उनको लाया था। तत्ववाद इस कथा का यह है कि गगा जी से ज्ञान (और जमुना जी से कर्म योग) मुराद ली जाती है। मनुष्यों में ज्ञान शिव जी के द्वारा फैला है। इन से बढ़ कर पृथ्वी पर कोई सीखने और समझने की शक्ति न रखता था, इस लिये शिव जी ने ज्ञान रूपी धारा को ग्रहण करके सारे जगत् में फैला दिया। इस तत्व के जानने से सब शकायें दूर हो जाती हैं। क्या शिव जी का शिर पृथ्वी से अधिक पक्का है कि जिस के कारण देव लोक से गिरते समय पृथ्वी उन की धारा को न सभाल सकी और शिव जी ने सभाल लिया? शिव जी की जटायें क्या कोई रेत का अगम बन थीं कि धारा इन में गिरती रही और जब तक भागीरथ ने प्राथना न की तब तक बाहर न निकली? क्या धारा को शिर पर लेने के लिये शिव जी चलते फिरते नहीं या धारा उन के पीछे २ जाती है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर तत्ववाद के जानने से आप ही मिट जाता है। ऊपर के कथन का मतलब यह है कि भागीरथ अपने पुरुषाओं की मोक्ष कराने का उपाय ढूँढता फिरता था। उस को मालूम हुआ कि ज्ञान की धारा शिवजी के शिर में बहती है। उसने शिव जी से ज्ञान प्राप्ति के लिये प्राथना की और शिवजी ने उसे ज्ञान देना स्वीकार कर लिया। जब यह ज्ञान सिखाने लग तब ईश्वर के प्रेम में मग्न हो जाने स उन की समाधि लग गई। जब भागीरथ ने फिर प्रार्थना की तब उन्हों ने अपनी ज्ञान रूपी धारा का जो उन के शिर में रमी हुई थी मानों अपनी जटा झडका कर पृथ्वी पर गिरा दिया अर्थात् ज्ञान प्रकाशित कर दिया। भागीरथ ने इसी ज्ञान का प्रचार जगत् में किया। साथ ही अपने पूर्वजों की हड्डिया बहाने के लिये गगोत्री से गगा जी की धारा इस प्रकार लाया जैसे नहर लाते हैं। (५३) जलचरों म मगर मच्छ बहुत बडा होने के कारण ईश्वर की शक्ति का सब से अधिक निरुपण करता है।

लेते ही अपनी माता देवहूति को सांख्य का ज्ञान सिखलाया था। सांख्य शास्त्र जो छहों शास्त्र में से एक शास्त्र है इन्हीं का रचित है। (३६) नारद मुनि सब ऋषियों के शिरोमणि माने जाते हैं। यह अपनी इच्छानुसार सदा ही ईश्वर के दर्शन करने के अधिकारी माने जाते हैं। (नारद शब्द का अर्थ "संशय" भी होता है। यदि इस शब्दार्थ पर विचार करें, तब भी यह प्रत्यक्ष है कि संशय ही के उत्पन्न होने से मनुष्य छान बीन करके ज्ञान प्राप्त करता और ईश्वर के पाने का अधिकारी होता है। संशय ही से भ्रम उत्पन्न हो कर सारे झगड़े पैदा होते हैं। इसी कारण नारद जी को मुख में टट्टू गी लगाने वाला कहा जाता है)। (३७) बड़े बड़े हाथियों (Mamoths) में (३८) कच्छप अवतार का वर्णन करते हुये श्री मद्भागवत पुराण में लिखा है कि जब समुद्र मथा गया, तब उस में से चौदह रत्न निकले। उन में से एक चौदन्ता भूरे रंग का ऐरावत हाथी था जो राजा इन्द्र को दिया गया। इस कथा के तत्व वाद पर विचार करने से प्रतीत होता है कि बादलों ही का नाम ऐरावत है। जो जल पृथ्वी से भाप बन कर आकाश को जाता है वह इस ऐरावत का पानी पीना और जो वर्षा होती है वह इस का मूत्र करना है। बादल भूरे होते हैं और चारों ओर से इकट्ठे होते हैं, इस लिये ऐरावत को भूरे रंग वाला और चौदन्ता कहा है। वर्षा करना राजा इन्द्र का काम है इस कारण यह उन्हीं का हाथी है। (३९) श्रीधर जी की मतानुसार काल का चक्र चूंकि बराबर चलता रहता है और इस का घड़ी पल तक का अचूक हिसाब जारी है, इस लिये इस से बढ़ कर गिन्ती करने वाला अर्थात् हिसाब रखने वाला कोई नहीं है। रामानुज जी का विचार है कि काल पापों की अचूक गिन्ती करने वाला है इस लिये गणना करने वालों में इस की पदवी उत्तम है। हमारी मति में काल को पापों की गणना करने वाला मान कर उस की गणना को संकुचित बनाना ठीक प्रतीत नहीं होता। (४०) उत्तम माया योग अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त रचना करने की शक्ति। (४१) देवताओं के मोहित। उन्हों ने एक यज्ञ शास्त्र भी लिखा है। (४२) ब्रह्मा जी के मानसिक पुत्र। इन्हों ने ब्रह्मा विष्णु और शिव तीनों की परीक्षा ली थी और इन्हों ने इन तीनों में से विष्णु जी को सब से गम्भीर पाया क्यों कि वह छाती में लात मारने तक से क्रोधित न हुए। (४३) हिमालय पर्वत। इस से बढ़ कर कोई बड़ा ऊंचा और भारी पहाड़ नहीं है इस लिये अचलता में इस को सब से उत्तम कहा है। रामायण में भी कहा है। 'हिम गिरी कोट अचल रघुबीरा" (४४) ऐसा जान पड़ता है कि हिमालय का वह सब से ऊंचा शिखर (चोटी) जो अब एवरेस्ट (Everest) कहलाता है मेरू कहलाता था। काली दास जी ने अपने कुमार सम्भव" नाटक में मेरु का जो वर्णन किया है इससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। (४५) राजा इन्द्र का प्रसिद्ध हथियार। कहते हैं कि बिजुली से मुराद है। (४६) काल (मौत) को आज तक कोई नहीं जीत सका। यह सब को हर (जीत) लेता है। इस लिये हरियों अर्थात् जीतने वालों में सब से उत्तम है। (४७) जल्दी चलने वालों का अब भी सवार अर्थात्

पवन से उपमा दी जाती हे। मिसेज़ बेनी विसेन्ट और मुन्शी सूरज नरायन मेहर ने "जल्दी चलने वालों की जगह "पवित्र करने वालों" अर्थ किया है। (४८) झील जब बहुत बड़ी हो जाती है तो सागर या समुद्र कहलाने लगती हे (४९) राजा सब पर राज करने के कारण ईश्वर की शक्ति अधिक रखताहै, इस लिये वह ईश्वर का रूप माना जाताहै (५०) हिरण्यकशिपु दैत्य के पुत्र। बडे नामी भक्त हुयेहैं। इन को जन्म ही से ईश्वर की भक्ति मिली। इन्हीं की रक्षा के लिये नरसिह अवतार हुआ। यह अवतार मुलतान में हुआ है, इस से मालूम होता हे कि हिरण्यकशिपु पजाब में राज करता था। (५१) कश्यप मुनिकी दो स्त्रियां थीं-एक दिति दूसरी अदिति। दिति की सन्तान दैत्य और अदिति की देवता कहलाई। दैत्यों, और देवताओं के आपस के झगडे पौराणिक कथाओं में बहुत वर्णन हैं। (५२) सारी नदियों में गगा जी की महिमा सब से बढ़ कर है। गगा जल में कीडा नहीं पडता। यह इन के जल की पवित्रता को प्रकट करता हे। पुराणों में लिखा है कि यह देव लोक से पृथ्वी पर शिव जी महाराज की जटाओं में गिरती है और उन की जटाओं से निकल कर पृथ्वी को पवित्र करती है भागीरथी नाम से प्रसिद्ध है। कारण यह की भागीरथ उनको लाया था। तत्वबाद इस कथा का यह है कि गगा जी से ज्ञान (और जमुना जी से कर्म योग) मुराद ली जाती हे। मनुष्यों में ज्ञान शिव जी के द्वारा फैला है। इन से बढ़ कर पृथ्वी पर कोई सीखने और समझने की शक्ति न रखता था, इस लिये शिव जी ने ज्ञान रूपी धारा को ग्रहण करके सारे जगत् में फैला दिया। इस तत्व के जानने से सब शकायें दूर हो जाती हैं। क्या शिव जी का शिर पृथ्वी से अधिक पक्का है कि जिस के कारण देव लोक से गिरते समय पृथ्वी उन की धारा को न सभाल सकी और शिव जी ने सभाल लिया? शिव जी की जटायें क्या कोई रेत का अगम बन थीं कि धारा इन में गिरती रही और जब तक भागीरथ ने प्राथना न की तब तक बाहर न निकली? क्या धारा को शिर पर लेन के लिये शिव जी चलते फिरते नहीं या धारा उन के पीछे २ जाती है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर तत्वबाद के जानने से आप ही मिट जाता है। ऊपर के कथन का मतलब यह हे कि भागीरथ अपने पुरुषाओं की मोक्ष कराने का उपाय ढूँढता फिरता था। उस को मालूम हुआ कि ज्ञान की धारा शिवजी के शिर में बहती है। उसने शिव जी से ज्ञान प्राप्ति के लिये प्राथना की और शिवजी ने उसे ज्ञान देना स्वीकार कर लिया। जब वह ज्ञान सिखाने लगे तब ईश्वर के प्रेम में मग्न हो जाने से उन की समाधि लग गई। जब भागीरथ ने फिर प्रार्थना की तब उन्हों ने अपनी ज्ञान रुपी धारा को जो उन के शिर में रमी हुई थी मानों अपनी जटा झड़का कर पृथ्वी पर गिरा दिया अर्थात् ज्ञान प्रकाशित कर दिया। भागीरथ ने इसी ज्ञान का प्रचार जगत् में किया। साथ ही अपने पूर्वजों की हड्डिया बहाने के लिये गगाजी से गंगा जी की धारा इस प्रकार लाया जैसे नहर लाते हैं। (५३) जलचरों में मगर मच्छ बहुत बडा होने के कारण ईश्वर की शक्ति का सब से अधिक निरूपण करता है।

(५४) यह सब पक्षियों का राजा माना जाता है। बहुत बड़ा और शक्तिशाली होता है। इसकी निगाह बड़ी तेज़ होती है। बड़ा नन्हीं नन्हीं वस्तुओं को बहुत दूर से देख लेता है। विष्णु भगवान का वाहन है क्योंकि उन के गुणों को दर्शाता है। इस के गुणों से यह अनुमान होताहै कि ईश्वर सब से बड़ा, सब से शक्तिवान् सब का राजा और सब को देखने वालाहै। फारसी में इसको उक़ाब कहतेहैं।(५५) पशुओं का राजा माना जाता है। वीरता और शक्ति में सब पशुओं से बढ़ कर है। दुर्गादेवी का वाहन है क्योंकि देवी जी के निज गुणों (वीरता और शक्ति) को प्रकट करता है। ईश्वर ने भी सिंह रूपी शक्ति धारण करके नरसिंह रूप से प्रह्लाद की रक्षा और हिरण्य कशिपु, का संहार किया है। (५६) कच्छप अवतार की सहायता से जब समुद्र मथा गया और उस में से चौदह रत्न निकले, तब उन में एक रत्न उच्चै श्रवा (उत्तम घोड़ा) भी निकला। यह कथा भी केवल एक अलंकार है। तत्व वाद इसका यह है कि समुद्र मथन की कथा मनुष्य की अपनी कथा है। ब्रह्म क्षीर सागर है, ज्ञान मन्द्राचल है, शरीर कच्छप है, अन्त करण शेष नाग है,शुभ भाव देवता और अशुभ भाव दैत्य हैं और जो चौदह रत्न निकले, वह विविध शक्तियां हैं। उच्चै श्रवा वह मन रूपी घोड़ा है जो चंचलता से दौड़ता फिरता है और इन्द्रियों को अपने ऊपर सवार करके मनुष्य को उड़ाये उड़ाये फिरता है। जब इस के मुख में संयम रूपी लगाम डाली जाती है तब यह वश में आता है (५७) काम देव। यह शिव जी के तीसरे (ज्ञान)नेत्र से मारा गया। इसने अपनी स्त्री रति की प्रार्थना के कारण शिव जी से अनंग (शरीर रहित) होकर भी सब को व्यापने का वरदान पाया। काम की उत्पत्ति के बिना संतान नहीं होती। स्वयं शिव जी के संतान पैदा कराने के लिये भी जब देवताओं ने शिव जी का विवाह पार्वती जी से कराना चाहा तो पहिले काम देव को उन के पास भेजा। (५८) व्याकरण में दो तीन पदों के मेल करने की रीति को समास कहते हैं। यह छः प्रकार के होते हैं। उन में एक का नाम द्वन्द्व है। द्वन्द्व समास में जिन पदों से समास होताहै,उन सबों का अन्वय एक ही क्रिया में हो जाताहै।इस समास में यह उत्तमता है कि दो स्वाधीन पद एक ही क्रिया के अन्वय बन जाते हैं (५६) मिला हुआ रहने वाला (६०) पहिले के अक्षर' अ'' (उर्दू भाषा में अलिफ और अंगरेज़ी A) का आकार हिन्दी और अन्य भाषाओं में सब अक्षरों के साथ लगा रहता है अर्थात् बोलने में ''अ'' की आवाज साथ रहती है।

भावार्थ इस सारे निरूपण का यह है कि यों तो हर एक वस्तु में ईश्वर की विभूति मौजूद है परन्तु साधारण मनुष्य उस का प्रत्यक्ष नहीं देख पाते। जिस जिस वस्तु में ईश्वर की शक्ति या तेज अधिक होता है उन के नाम नमूने के तौर पर लेकर यह दर्शाया है कि जिस प्रकार इन वस्तुओं में ईश्वर की शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देतीहै उसीप्रकार उन उन वस्तुओं में भी ईश्वर के रूप का अनुमान कर लेना चाहिये जिन में उस की विभूति प्रत्यक्ष प्रकट नहीं है। –

(भजन नं० ८४ श्लोक २६ २६, ३५-३७ व ४०)

[विभूति विस्तार]

तर्ज—पनघट पर हो रही भीर, शीश पर घड़ा धरे पनिहारी

है मोरी विभूति अपार। तोहि दिग् दर्शन[१] मात्र बताऊं।
अर्यमा[२] पित्र पित्रों में। चतुर कवियों में उष्णा[३] जी हूं ॥ १ ॥
हू कामधेनु[४] गउओं में। दिव्य मुनियों[५] में व्यास[६] मुनी हूं ॥२॥
दशरथ[७] हूं गन्धर्वों[८] में। सुघड़ छलियों में मैं ज्वारी[९] हूँ ॥३॥
मैं बृहत्[१०] ऋचाओं[११] में हूं। सुखद छन्दों[१२] में गायत्री[१३] हूँ ॥ ४ ॥
मासों में मंगशिर[१४] मैं हूं। हरे वृक्षों में पीपल[१५] ही हूँ ॥ ५ ॥
ऋतुओं[१६] में वसन्त[१७] हू मै। "विमल वेदों" में साम[१८] गुणी हूं ॥६ ॥

टिप्पणी

(१) इशारे मात्र दर्शाने के लिये। नमूने के तौर पर (२) एक बड़े प्रसिद्ध पित्र का नाम है जो कश्यप के पुत्र थे। (३) शुक्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजा बलि के गुरू थे। इन्हों ने वामन अवतार के समय पर राजा बलि को तीन पद धरती देने से रोका था। यह बड़े कवीश्वर थे। राज नीति पर इन्हों ने एक पुस्तक लिखी है। संजीवनी विद्या में भी बड़े निपुण थे। (४) समुद्र को मथ कर जो चौदह रत्न निकाले गये थे (जिस का कथन भजन नम्बर ८३ की टिप्पणी में हो चुका है) उन में से एक रत्न कामधेनु गौ थी। इन चौदह के चौदह रत्नों को किसी कवि ने एक दोहे में इस भांति लिखा है ——

दोहा—' श्री, रम्भा, विष, वारुणी, अमी शंख, गजराज
(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७)
धन्वन्तरि, धन धेनु तरु, चन्द्रमा, मणि, वाज,
(८) (९) (१०) (११) (१२) (१३) (१४)

(श्री = लक्ष्मी जी, रम्भा = अप्सरा विशेष, विष = ज़हर, वारुणी = शराब,
अमी = अमृत, गजराज = ऐरावत हाथी,
धन्वन्तरि = प्रसिद्ध वैद्य; धेनु = काम धेनु गौ;
तरु = कल्प वृक्ष; मणि = कौस्तुभ मणि; वाज = उच्चैश्रवा घोड़ा)

पुराणों में ऐसी कथाएं मिलती हैं कि यह काम धेनु गौ वशिष्ट आदिक ऋषियों को दी गई थी। इस गौ का गुण यह है कि प्रत्येक मांगी हुई वस्तु देती

है। रामायण में कहा है ——

चौ—"कामधेनु शत कोटि समाना+सकल काम दायक भगवाना"।
इसी गौ के कारण जमदग्नि जी के पुत्र परशुराम और सहस्रार्जुन (सहस्रबाहु) की लड़ाई हुई थी। इस गौ का तत्ववाद तत्वज्ञान है जिस के बराबर कोई सुख दायक नहीं। (५) जीव और ब्रह्म के भेद को दूर करके समता को धारण कराने वाली भक्ति से ब्रह्म का मनन (चिन्तन) करने वाला मुनि कहलाता है। (६) इन का नाम द्वैपायन था। पराशर ऋषि के बेटे और वशिष्ट जी के पोते थे। महा भारत गृन्थ (जिस में गीता का समावेश है) और अट्ठारह पुराणों के यही रचयता हैं। ज्ञान पदवी के कारण व्यास नाम से प्रसिद्ध हुये। कृष्ण अवतार के समय में मौजूद थे। चौबीस अवतारों में से इक्कीसवां अवतार माने जाते हैं। (७) यह गन्धर्वों का राजा था। इस का नाम अगारपर्ण था। इसका चित्ररथ भी कहते थे। अर्जुन से लड़ने के बाद इस ने अपना नाम दग्धरथ रख लिया था। बड़ा गुणी और पण्डित राजा था। गाम विद्या में विशेष निपुण था (८) देवताओं के भजनीक और गवैये। (९) ईश्वर की यह शक्ति जो प्रकृति या माया कहलाती है। मनुष्य का ज्ञान छल लेने में सब से बढ़ कर है। प्रकृति ने रचा हुआ जगत् एक ज्वारियों के घर के समान है। इस घर में काल रूपी द्रव्य दाव पर लगता है। जो बंधन में डालने वाले कर्मों में इस द्रव्य को न खो कर मुक्ति मार्ग पर चलता है, वही पक्का खिलाड़ी है। बाबा हरि प्रकाश जी परम हंस ने कहा है—"जूआ ऐसा खेलो यार, जिस से होवे रब दीदार। इक विचार दूजो सतसंग, तीजो चढ़े भजन दा रंग, तीनहु पासे डारे संग, जीत होय या हार ॥ १ ॥ विचार भजन सतसंग पिछान ऊध यह बहुत अठारह जान, तेरि जीत अरु मन की हार, तब होवे तेरो जैकार" ॥ २ ॥ इसी प्रकार सुन्दर दास ने कहा है—"गाइ गोविन्द गुण जीत जुआ"। (१०) एक ऋचा का नाम है। शंकराचार्य जी ने इस को मुक्ति दायक होने के कारण उत्तम कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऋचा जो में सुधने वाली होने के कारण उत्तम है। (११) वैदिक भजन (१२) यह रीति जिस से कविता की रचना होती है। इसी का फारसी में "बहर" कहते हैं (१३) गायत्री को ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी होने के कारण श्रेष्ट कहा जाता है। कोई इस को रसीला होने के कारण उत्तम पदवी देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस छन्द की प्रधानता यह है कि सारे वेद मन्त्रों में पहिले ब्रह्मा जी को इसी का अनुभव हुआ। (१४) इस महीने में जाड़ा और गर्मी दोनों दुखदायी नहीं होते। भागवत् पुराण और वाल्मीकि रामायण से यह भी पता लगता है कि पहिले मगसिर से ही वर्ष का आरम्भ हुआ करता था। इस कारण भी मुख्य है। (१५) यह कल्प वृक्ष या पीपल जिस की कथा पुराणों में कई स्थानों पर वर्णन हुई है। इस के नीचे खड़े होकर जो मांगा जाय वही मिलता है। तत्व वाद इस अलंकार का यह है कि देव लोक रूपी पीपल अर्थात् स्वर्ग ऐसा स्थान है जहां सब मनाकाम नायें पूरी हो जाती हैं। जगत् रूपी पीपल का जो विस्तार पन्द्रहवें अध्याय में

दिया हुआ है उस के जानने अर्थात् विज्ञान प्राप्त करने का भी यही फल है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज कल जो पीपल की पूजा की जाती है और उस में देव वास मान कर इस का कटवाना पाप समझा जाता है वह इस अश्वत्थ (पीपल) के अलंकार को न समझने के कारण की जारही है। (१६) मौसमों में (१७) बसन्त का मौसम बहार का मौसम कहलाता है। वृक्षों म नई नई कोंपले फूटती हैं और फूल आते हैं। मनुष्य जाति में स्वभाविक रीति से एक प्रकार की उमङ्ग पैदा होती है जिस के कारण होली मनाई जाती है और फाग खेला जाता है। यही कारण है कि यह ऋतु राज प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मनुष्य जाति के परम पिता ब्रह्मा जी का अवतार अर्थात् मनुष्य जाति की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी इसी मौसम में हुआ है। (१८) बहुधा ऋक वेद को सब से बड़ा माना जाता है परन्तु यहां साम को वेदों का ज्ञान भाग होने के कारण उत्तम कहा है। क्योंकि ज्ञान के बिना कर्म और उपासना दोनों अधूरे रह जाते हैं। इन दोनों भजनों और इस से अगले भजन में जो यह विभूति विस्तार हुआ है इस का साराश केवल इतना है कि यों तो सर्व सृष्टि ईश्वर से पैदा होने के कारण ईश्वर का रूप है, पर साधारण मनुष्यों के हेतु यह रूप सब वस्तुओं में समान रीति से प्रत्यक्ष नहीं है। जब तक इन को ऐसी वस्तुओं का नाम न बतलाया जाय जिन में ईश्वरकी ज्योति या शक्ति अधिक रीति से प्रत्यक्ष दिखाई देती है तब तक उन की समझ में कुछ नहीं आता। इस कारण जितने मनुष्यों, पशुओं पक्षियों, गुणों आदिक के नाम यहां दिये गये हैं वह सब के सब ऐसे हैं कि उन में किसी न किसी भांति से ईश्वर का तेज या शक्ति विशेष मौजूद है। वह मानों ईश्वर की शक्ति और तेज का किसी न किसी प्रकार से नमूना हैं। हिमालय पहाड़ को देख कर यह बात झट मालूम हो जाती है कि जिस ईश्वर ने ऐसा पर्वत बनाया है उस की गम्भीरता और अचलता कैसी कुछ होगी? सिंह के बल को देख कर यह विचार होता है कि जो ईश्वर ऐसे ऐसे बलवान पशु पैदा करता है वह कैसा कुछ बलवान होगा। व्यास जी की कथा सुन कर जी में यह ध्यान आता है कि जो ईश्वर ऐसे गुणी और बुद्धिमान पैदा कर सकता है वह आप कैसा गुणी और बुद्धिमान होगा। इसी प्रकार और और उदाहरणों को समझना चाहिये। इस विस्तार से ईश्वर की विभूति और चमत्कार का ज्ञान जी में बैठने के कारण भक्ति भाव बढ़ता है और मनुष्य योग, भक्ति और ज्ञान में स्थिर होता है।

(भजन नम्बर ८५ श्लोक २१-२३, ३१, ३४, ३७)

[विभूति विस्तार]

दोहा—मैं नारिन में सात हूँ सुकीर्ति[1] मेधा[2] बुद्धि[3]।

४ ५ ६ ७
क्षमा लक्ष्मी स्मृति धृति और सरस्वती शुद्ध ॥

तर्ज—एक ब्रज रेनुका पर चिन्ता मनि वारि डारू कौकन को वारू सेवा कुंज के विहार पैं—

८ ९ १० ११ १२ १३
दिवाकर दिव्यन मे विष्णु हूं आदित्यन में सकल नक्षत्रन में सोम रूप मेरो है।
१४ १५ १६
विसुओंमें अग्नि हू यादस में वरुण देव सुरन समूहन में इन्द्र रूप हेरो है॥
१७ १८ १९ २० २१
शंकर हूँ रुद्रन्में मरीचि हू प्रभञ्जन में शस्त्र धारियन्में राम मेरो हि उजेरो है।
२२ २३ २४
"विमल"वृष्णि वशिन में वासदेव जैसे हूँ पांडव में पार्थ तैसे मेरो रूप तेरो है॥

टिप्पणी

(१) यह सातों गुण जो इस दोहे में वर्णन हैं स्त्रीलिंग माने जाते हैं, इसी कारण इन को पौराणिक इतिहासों में देवियों का नाम दिया गया है (२) यश और बड़ाई (३) उचित मार्ग पर स्थिति बुद्धि (४) भाग, प्रताप (५) याद रखने की शक्ति (६) धीरज या सुख दुःख में स्थिरता जी में बनाये रखने की शक्ति। (७) विद्या और मुख से विद्या को प्रकाश करने की शक्ति।

पौराणिक इतिहासों में इन गुणों को अलंकार रूप में और ही प्रकार से वर्णन किया गया है। सारे शास्त्र स्मृति कहलाने लगे क्योंकि यह ऋषियों और महात्माओं के कंठ थे और वह अपनी याद से चेलों को याद कराते थे। लक्ष्मी जी भगवान की स्त्री होगई कारण यह कि जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति की सेवा में रहती है भाग और शक्ति ईश्वर की सेवा में हर दम उपस्थित है। सरस्वती जी ब्रह्मा जी की स्त्री कहलाई कारण यह कि सर्व ज्ञान और विद्या की उत्पत्ति उन्हीं से हुई इत्यादि इत्यादि।

(८) दिव्य सूर्य (९) जगमगाने वालों में। (१०) पुराणों में लिखा है कि अदिति के १२ पुत्र थे जो आदित्य कहलाते थे।

इन बारह आदित्यों के नामों को हमने एक दोहे में पाया है।

दोहा—विष्णु, इन्द्र, धाता, वरुण, तुष्टा, पूषा मित्र।
विवस्वान्, पर्जन्य, भग अंश, अर्यमा चित्र॥

अभिप्राय यह है कि हमारे ऋषियों ने बारह आदित्य अर्थात् सूर्य माने हैं। इन में से सब से बड़े का नाम विष्णु है। किसी किसी टीकाकारने विष्णु का अर्थ वह शक्ति किया है जिस के द्वारा सब आदित्य विद्यमान हैं। अर्थ कुछ भी हो भाव दोनों का एक ही है (१२) यह बात अब ही मालूम नहीं हुई है बल्कि उस समय में भी मालूम थी कि आदित्य (सूर्य) केवल एक ही नहीं है। इस सूर्य के समान और इस से भी अधिक बड़े कितने ही सूर्य और भी हैं जिन की

जगमगाहट उन के दूर होने के कारण हम को मालूम नहीं होती। विस्तार के लिये देखो ११ वें अध्याय का सार(१२)तारों में(१३) जो इतने सारे तारे हम को दिखाई देते हैं उन्हीं के समान यह चन्द्रमा भी है जो हमारी पृथ्वी पर रातें उज्याली बनाता है। ऐसे ऐसे चन्द्रमा जो असल में तारे हैं और और लोकों के साथ भी लगे हुये हैं। (१४) वसु अर्थात् गरमाई आठ प्रकार की होती है।

दोहा-धर ध्रुव सोम अनल अनिल विठण्ड और प्रभास।
यह प्रत्यूष सहित 'विमल" कर वसु अष्ट तपास॥

इन आठों वसुओं में अग्नि (अनल)अपनी गर्मी और तेज के कारण सब से उत्तम है(१५) जलचरों अर्थात् जलके प्राणियों म वरुण अर्थात् जल का देवता (१६) पौराणिक कथाओं के अनुसार सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला इन्द्र की पदवी पाता है और इन्द्र लोक में बस कर देवताओं पर राज करता है। महाभारत ग्रन्थ में लिखा है कि अर्जुन राजा इन्द्र के यहा शस्त्र विद्या सीखने गया था। किसी किसी टीकाकारने इस का अर्थ इन्द्रियों का राजा अर्थात् चित्त किया है जिस के बिना इन्द्रिया काम नहीं कर सकतीं। (१७) रुद्रों में से जिस रुद्र से मनुष्य का नाश होता है उस का नाम शकर है। यह काम शिव जी का है इस लिये उन को भी शकर कहते हैं। (१८) वस्तुओं को नष्ट करने वाले अर्थात् उन में विकार पैदा करने वाले देवता जो गिन्ती में ग्यारह माने गये हैं " रुद्र " कहलाते हैं (१९) ऐसा प्रतीत होता है कि मरीचि नाम आक्सिजन गैस का है जिस के विना कोई जीव जीता नहीं रह सकता। मरीचि नाम सूर्य की किरणों का भी है जिन का उपनिषदों में जीवन दाता बताया गया है और यह गैस भी जीवन का आधार है। यही कारण है कि इस को अन्य मरुतों से बडा बताया गया है। (२०) प्रभञ्ज या मरुत (वायु) वह पदार्थ हैं जो अंगरेजी में गैस कहलाते हैं। यह मरुत गिन्ती में ४९ बतलाये गये हैं। इस से प्रकट होता है कि हमारा विज्ञान उस समय में कितनी उच्च पदवी पर पहुंच चुका था।(२१) राजा दशरथ के पुत्र, ईश्वर के अवतार, रामका उपमा रहित शस्त्र धारी होना रामायणके सब पाठकोंको विदित है। अर्जुन भी बडा शस्त्रधारी था परन्तु राम को नहीं पहुंच सका। (२२) श्री कृष्ण जी यदु के कुल में पैदा हुये थे इस लिये यदुवशी कहलाते थे। इसी यदु के कुल में वृष्णि नाम एक पड़पोता हुआ। उस के नाम पर यह वृष्णिवंशी प्रसिद्ध हुये। देखो वशावली जो पहिले अध्याय के सार के अन्त में दी हुई है। (२३) वसुदेव जी के पुत्र श्री कृष्ण जी (२४) अर्जुन अपने आप को श्रीकृष्ण जी से न्यारा मान रहा था। वह यह विचार कर रहा था कि मैं बड़ा धनुषधारी हू। मेरे युद्ध करने से बहुत प्राणियों की हानि होगी। यहा श्री कृष्ण जी ने उसको प्रत्यक्ष बता दिया कि मैं और तू दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। इसी बात को पौराणिक परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि अर्जुन नर और श्री कृष्ण जी नारायण का अवतार थे।

(भजन नं—८६–श्लोक—४१—४२)

(विभूति–विस्तार का उपसंहार)

तर्ज— आत्मा में गंग बहे दूर क्यों तू जाय रे।

सर्व जग विभूति मेरी निश्चय यह जान लेरे
बहुत से कथन को हेरे, हाथ आयगा क्या तेरे।
एक अँश[1] ही से मेरे, सृष्टि व्याप्त मान लेरे ॥१॥
जहां है विभूति[2] डेरा, शक्ति लक्ष्मी[3] का फेरा।
"विमल" तेज अंश मेरा, वहीं "तू" पिछान लेरे ॥२॥

टिप्पणी

(१) अंश का शब्द वास्तव में प्रकृति से बनने वाले पदार्थ के वास्ते उपयोग किया जाता है। प्रकृति रहित ब्रह्म के अंश को प्रकट करने के हेतु हम प्रकृति से बनने वालों के पास कोई अन्य शब्द नहीं है। यही कारण है कि इसी शब्द के द्वारा मतलब को प्रकट किया जाता है। स्मरण रहे कि इस शब्द का यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म के विभाग हो कर एक एक विभाग देह में वास करता है। ऐसा होना असम्भव है। दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि वह कट नहीं सकता। भावार्थ केवल इतना है कि जिस प्रकार पानी के घड़ों को धूप में रखने से उन सब में सूर्य का प्रकाश न्यारा २ दिखाई देता है उसी प्रकार भूतों में ब्रह्म का अंश समझना चाहिये। वास्तव में यह अंश उपमा रहित है। (२) जहां विभूति मौजूद है (३) जहां ऐश्वर्य हो।

ग्यारहवें अध्याय का सार

पिछले अध्याय में ब्रह्म की विभूति का विस्तार हुआ। इस अध्याय में इस विभूति का वह चित्र खेंच कर दिखाया है जो ज्ञान चक्षु-द्वारा विज्ञानी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है या यों कहो कि विज्ञान को प्राप्त करके जो विभूति का तमाशा दिखाई देता है वह अर्जुन को दर्शाया है। रामायण के उत्तर काण्ड में काक भुसुण्ड जी ने भी विराट रूप का विस्तार वर्णन किया है और यद्यपि यह इस विस्तार से बहुत कुछ मिलता जुलता है तथापि इस विस्तार में जो मनोहरता है वह वहां नहीं पाई जाती।

विज्ञान होने से पहिले परमेश्वर की विभूति का केवल ज्ञान ही ज्ञान होता है। जब विज्ञान हो जाता है तब वह विभूति ज्ञान-नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष दीखने लगती है। यही कारण है कि यज्ञ, तप दान, भजन पूजन आदिक से विभूति दर्शन नहीं होता। उस का दर्शन उस ही विज्ञानी को हो सकता है जो कर्म योग साधन करके और भक्ति में आपे को लवलीन बना के ज्ञान विज्ञान में निमग्न हो जाता है।

भक्ति और विज्ञान से मनुष्य अपने आप को ब्रह्म स्वरूप जान लेता है। उस को सर्व सृष्टि के नाना पदार्थ उसी एक ब्रह्म का रूप मालूम होने लगते हैं जिस का वह अपने आप को रूप समझता है। सारा जगत् उस के हेतु मानो ब्रह्म का प्रकाश बन जाता है। ऐसी गति को पाकर ब्रह्म के विश्व या विराट रूप का दर्शन होता है और मनुष्य उस ब्रह्म का भेद जान लेता है जिस को रस खान कवि के वचनानुसार ' सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावें।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावें" ॥

विराट रूप में ब्रह्म के ब्रह्मा रूप, विष्णु रूप और शिव (काल) रूप के दर्शन करने से मनुष्य को यह निश्चय हो जाता है कि सब का पैदा करने वाला, पालने वाला और मारने वाला अर्थात् सब कर्म करने वाला असल में परब्रह्म परमेश्वर है। मनुष्य केवल नाम मात्र कर्म करता है और उस का यह भ्रम रहता है कि वही उत्पत्ति करने पालन या मारने का कारण है।

नोट-इस विराट रूप का असली चित्र तो भक्ति और विज्ञान ही दिखला सकते हैं, परंतु इस रूप का अनुमान करने के हेतु यह समझना चाहिये कि नीचे के सातों लोक (अतल वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल) मानो चरण घुटने जांघें, कूल्हे आदिक हैं। पृथ्वी कमर है, आकाश नाभि और सूर्य चन्द्रमा आदिक के भ्रमन के स्थान छाती हैं। ऊपर के सातों लोक (भू भव स्व मह जन तप सत्य) गर्दन, मुख माथा और शिर आदिक हैं। दशों दिशायें मानो कान हैं। अश्वनी कुमार नाक के छेद हैं। अग्नि मुख है सूर्य नैन हैं सारे

स्वाद जीभ हैं और यमराज दात हैं। वृक्ष काया के रोम हैं, बादल शिर के बाल और नदिया शरीर की नसें हैं। पहाड़ हड्डिया हैं, समुद्र पेट है और वायु स्वाँस है। इस प्रकार सर्व ब्रह्माण्डों को यदि एक शरीर माना जाये और उन के सारे अंगो को उस शरीर का अंग, तो ऐसा शरीर ईश्वर का विराट रूप कहला सकता है।

इस विराट रूप की व्यापकता को दर्शनार्थ जानने के लिये यदि सूर्य चन्द्रमा और अन्य तारा गणों की ओर ध्यान किया जाय तो हम को इस विराट रूप के अगम्य और अपार विस्तार का अनुमान हो सकता है। यह चन्द्रमा और तारे जिन को सूर्य का प्रकाश दिन में छिपा देता है, स्वयं बड़े बड़े लोक हैं। इन में से अनेकों ऐसे सूर्य हैं जिन के संग इसी भांति कई कई लोक लगे हुये हैं जैसे इस हमारे सूर्य के संग पृथ्वी, चन्द्रमा, मंगल, बुद्ध, ब्रहस्पति, शुक्र शनिश्चर आदिक हैं। इन में से अनेकों लोक पृथ्वी की समान अनगणित चराचर जीवों से आबाद हैं। हम को यह इतने छोटे और कम चमकीले इस कारण विदित होते हैं कि इनसे हमारी पृथ्वी का अन्तर अनगणित कोसों का है। जैसे सूर्य हमारी पृथ्वीसे एक अरब तीस करोड़ गुणा बड़ा है, वैसे ही इनमें से अनेकों तारे पृथ्वीसे सैकड़ों लाखों, करोड़ों, और अरबों गुणे बड़े हैं। जैसे सूर्य की रोशनी का तेज पूर्णमासी के चन्द्रमा से तीन लाख गुणा है वैसे ही इन में से अनेकों तारों की चमक सूर्य के समान या उस से भी अधिक और चन्द्रमा से लाखों करोड़ों बल्कि अरबों गुणी बढ़ कर है। यह पृथ्वी सूर्य से सात अरब चालीस करोड़ मील परे है और यह तारे सूर्य से लाखों करोड़ों और अरबों मील परे हैं। इन के अन्तर का अनुमान इस बात से हो सकता है कि यद्यपि रोशनी एक सेकिण्ड में दो लाख इकत्तीस हजार मील चलती है तथापि इन तारों में से अनेक तारों की रोशनी हम तक बरसों में आती है। यहा तक है कि किसी तारे की रोशनी सैकड़ों वर्ष में, किसी की हजारों और किसी की लाखों वर्ष में पृथ्वी तक पहुचती है। इस लिये यदि हम इन तारों (लोकों,) के अचिन्त्य अन्तर, इन की असंख्य गणना, इन के असह तेज या प्रकाश, इन के आकाश में अधर लटकने और इन के अत्यन्त तेजी के संग अपने और साथ ही सूर्यों के चारों ओर घूमने और इन में अनगणित प्रकार के सुन्दर सुन्दर और अद्भुत चराचर जीवों की बड़ी अचूक रीति से नियमानुसार रचना पालना और संहार करने का विचार करें, तो हम को विराट रूप और उस की अथाह शक्ति का कुछ अनुमान हो सकता है।

ग्यारहवां अध्याय—विश्व रूप दर्शन योग

भजन नम्बर ८७ (श्लोक १--८)

[विश्व दर्शन के हेतु अर्जुन की प्रार्थना]

दोहा--अध्यातम[1] का हे प्रभो, परम गुप्त यह ज्ञान।
करके अनुग्रह आपने, मोसे किया बखान॥

चौपाई

यह बखान सुन कर भगवाना। छूटा मोह और अज्ञाना।
जग उत्पत्ति और संहारा। सुनि लीन्हा इन का विस्तारा।
मैंने महिमा अक्षय[2] तिहारी। सुनी कमल[3] दल लोचन सारी।
जैसी परम रूप छवि सारी। वरणी मोसे कृष्ण मुरारी।
हे पुरुषोतम उसी प्रकारा। देखन चाहौं रूप तिहारा।
जो सम्भव समझो प्रभु पावन। आपन अव्यय रूप दिखावन।
तब योगेश अनुग्रह कीजे। उसी रूपसे दर्शन दीजे।
यह सुन बोले नन्द दुलारे। लख बहु रूप अनूप हमारे।

सोरठा--मोरे नाना रूप, देख सहस्रों सैंकड़ों।
अर्जुन दिव्य स्वरूप, विविधि रंग आकार के॥

छन्द

सब देखले आदित्य[4] रुद्र[5] मरुत[6] वसु[7] अरु अश्वनी[8]।
अरु जग चराचर[9] वस्तु सब[10] अद्भुत विचित्र सुहावनी।
ले देख माया[11] योग मोरी और जो जो जी करे।
दूं "विमल" नयन[12] तुझे नहीं इन नयन से अर्जुन मरे।

टिप्पणी

(१) अध्यात्म ज्ञान अर्थात् ज्ञान विज्ञान (जिस का कथन सातवें अध्याय से होता चला आरहा है)। (२) जिस में विकार न हो। नाश रहित (३) जिस

की आखें कमल के पत्ते के समान हों। श्री कृष्ण जी को उन की सुन्दर आखों के कारण ऐसा कहा है। (४) नाश करने वाली शक्तियां। देखो भजन नम्बर ८५ की टिप्पणी नम्बर १६। (५) एक सूर्य के गिर्द घूमने वाले तारे आदिक। देखो भजन नम्बर ८५ की टिप्पणी नम्बर ८। (६) देखो भजन नम्बर की टिप्पणी नम्बर १७। (७) देखो भजन नम्बर ८५ की टिप्पणी नम्बर १५। (८) सूंघने की शक्ति। नाक के देवता। पौराणिक कथाओं में इन को वैवस्वत (सूर्य) का पुत्र लिखा है और इन की माता का नाम सरण्यू बताया है जो विश्वकर्मा की बेटी थीं। (६) चलन फिरने और न चलने फिरने वाले भूतों वाला (१०) अनोखी। ऐसा कह कर कृष्ण जी ने अर्जुन को अपनी सब व्यक्त शक्तियां दिखलाईं। (११) वह शक्ति जो अव्यक्तरूपको व्यक्त बनाती है (१२) 'दिव्यचक्षु' वह हृदय की आंख है जो विज्ञान से खुल जाती है। इसी को शिव जी की तीसरी आंख कहते हैं।

(भजन नं० ८८ श्लोक ६-१३)

[विश्व रूप और उस का तेज]

तर्ज--देखोरी या मुकुट की लटकन।

दोहा--यह कह कर योगीश[1] ने, संजय कहे सुनाय।
दिया पार्थ को ईश का, परम[2] रूप दिखलाय॥

नाना अद्भुत रूप पार्थ ने, तब उस परम रूप के देखे।
नाना मुख[3] नाना चक्षू अरु भूषण[4] दिव्य बहुत से देखे।
देखे नाना दिव्य शस्त्र[5] अरु सर्व स्वरूप अनोखे देखे॥१॥
दिव्य माल[6] और वस्त्र बहुत से दिव्य सुगन्धी लागे देखे।
देव अनन्त[7] उपस्थित देखे सर्व ओर मुख वाले देखे॥२॥
तेज हजारों[8] सूरज के से सब ही संग चमकते देखे।
देव देव[9] की "निर्मल" देह में जगत्[10] भाग सब न्यारे देखे॥३॥

टिप्पणी

(१) माया योग के मालिक या योगियों के मालिक कृष्ण जी (२) सगुण ब्रह्म का वह रूप जो सर्व सृष्टि का स्वरूप बताता है। (३) बहुत से मुख और नेत्र कहने का मतलब यह है कि ब्रह्म सब ओर हर चन देख सकता है अर्थात् वह सब

ज्ञाता और सर्व व्यापक है। ब्रह्माजी के चार मुख बताने का भी यही अभिप्राय है (४) यह शब्द उस रूप की सुन्दरताई को प्रकट करता है। (५) यह शब्द अनेक प्रकार से प्राणियों के संहार करने की शक्ति को प्रकट करता है। (६ माला (७) जिस का अन्त न हो (८) सूर्य उस ब्रह्म का केवल एक अंश है इस कारण हज़ारों सूर्य भी मिलकर उसके बराबर तेजवान कहां हो सकते हैं ? रामायण में भी इसी प्रकार कहा है "मरुत कोटि शत विपुल बल, रविशत कोट प्रकाश" श्री महंत शीतल दास जी ने अपने 'गुलज़ार चमन' में लिखा है

' जो शशि नौ गृह एक राशि आवें तो उपमा बने कहीं।
तिस पर भी ऐसी जिलो नहीं बैठें तारा गन घने कहीं"।

(६) देवताओं के देवता अर्थात् ब्रह्म (१०) अर्जुन को इस विराट रूप में सब सृष्टि की रचना न्यारी न्यारी दिखाई दी अर्थात् अर्जुन ने विज्ञान की आंख से ईश्वर का वह व्यापक (विश्व या विराट) रूप देखा जिस में उन सभी रूपों, शक्तियों और तेजों का समावेश है जिन के द्वारा सृष्टि की रचना और संहार होता है। यह विभूति दर्शन जो अर्जुन ने पाया तब ही हो सकता है जब कि विज्ञान से सब नाम रूप आत्मिक भेद मिट जाते हैं।

भजन नम्बर ८९ (श्लोक १४—२०)

[ब्रह्मा और विष्णु रूप दर्शन]

तर्ज़—ऐ मेरे कान्हा तू अब माखन चुराना छोड़ दे।

दोहा—रोम रोम ठाडा हुआ, विस्मय[१] से हर्षाय।
हरि से बोला पार्थ यों हाथ जोड़ शिर नाय॥

अंग में मैं आप के सब देवता[२] हूँ देखता।
संगठन में सर्व नाना भूत का हूं देखता॥१॥

मोहिं ब्रह्मा[३] देत दिखलाई कमल के फूल पर।
दिव्य नागों[४] और ऋषियों को सदा हूँ देखता॥२॥

[५] आप का ना आदि है ना मध्य है ना अंत है।
[६] अनगिने मुख पेट आँखें अरु भुजा हूँ देखता॥३॥

विश्व[७] देवा रूप से सारे जगत् में आप को।
हे[८] अनन्ता विश्व ईश्वर मैं रमा हूँ देखता॥४॥

आप[१] को शोभित मुकुट[१०] से अरु गदा से चक्र से ।
इक[११] असह से तेज का भण्डार मैं हूँ देखता ॥५॥
ज्योति जग में है हरी[१२] बस आप के इस तेज की ।
दिव्य ज्वाला भानु से भी मैं सिवा हू देखता ॥६॥
आप मेरी बुद्धि में हो ब्रह्म[१३] अक्षर[१४] शाश्वत ।
धर्म रक्षक सृष्टि[१५]–कारण मैं कला हू देखता ॥७॥
आप अविनाशी[१६] सनातन जानने के योग्य[१७] हो ।
आप से सारे जगत् को मैं तपा[१८] हूँ देखता ॥८॥
आप हो वे आदि के वे मध्य के वे अन्त के ।
अग्नि[१९] मुख पर नेत्र सूरज[२०] चन्द्रमा हू देखता ॥९॥
आप की अगणित भुजायें[२१] आप की शक्ती अतुल ।
आप से आकाश पृथ्वी सब भरा[२२] हूँ देखता ॥१०॥
इस भयानक[२३] और अद्भुत[२४] रूप से मैं हे "विमल"
त्रितय लोकों[२५] को व्याकुल अरु डरा हू देखता ॥११॥

टिप्पणी

(१) अर्जुन को इस नये दृश्य के देखने से ऐसा विस्मय (अचम्भा) हो रहा था कि उस के शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। उस के जी में अभी तक भय का प्रवेश नहीं हुआ था। (२) पिछले भजन में ईश्वर का सब व्यापक और सर्वशक्तिमान रूप सामान्य रीति से वर्णन किया गया है। अब उस के तीनों रूप (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) न्यारे न्यारे कथन किये गये हैं। ब्रह्मा और विष्णु रूप इस भजन में और शिव रूप अगले भजन में दर्शाया गया है। सारे देवता, प्राणी और सारे पदार्थ ईश्वर ही से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर इन सब की खानि है इस लिये यह सब अर्जुन को उस के रूप में उपस्थित दिखलाई दिये। (३) पहिले कथन हो चुका है कि पुराणों में जगत् की सृष्टि का जो चित्र खींचा गया है उस में ईश्वर को शेष नाग पर शयन करते, लक्ष्मी जी को उन के चरण दबाते और उन की नाभि से एक कमल उगा हुआ जिस पर ब्रह्मा जी विराजमान हैं, दिखाया गया है। इस चित्र का भावार्थ यह है कि निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से

सगुण ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मा जी पैदा होते हैं। पृथ्वी को कमल से इस कारण उपमा दी जाती है कि यह कमलकेफूलके समान बड़ी सुन्दर खिलने वाली और नाशवान होनेके कारण कुम्हलाने वाली है। (४) बुद्धि और ज्ञान के सिखलाने वाले, देव समान पुरुष 'नाग" कहलाते हैं। साधुओं में अब भी नागों का एक पन्थ मौजूद है। इन से साप का अर्थ निकालना ठीक प्रतीत नहीं होता। यहा ऋषियों के साथ इन का उल्लेख हुआ है फिर भला सापों से ऋषियों का मेल कैसा? नाग पचमी या ऋषि पचमी इन्ही महात्माओं के पूजन के लिये मनाई जाती है। (५) इस का भावार्थ यह है कि ईश्वर अविनाशी निर्विकार और अपरम्पार है। (६) अनगणित अग अपार शक्ति प्रकट करते हैं। मुख से यह सब पदार्थ ग्रहण करता है, उदर (पेट) में सब को पालन करता है चक्षु से सब को देखता है और भुजा से सब शक्तियों का उपयोग करता है। (७) विराट रूप (८) जिस का अन्त न हो (६) यह विष्णु रूप का वर्णन है (१०) मुकुट गदा और चक्र राजा के चिन्ह होते हैं। सृष्टि पर राज करने वाले ईश्वर के पास सत्वगुण रूपी मुकुट रजोगुण रूपी गदा और तमोगुण रूपी (सुदर्शन) चक्र है जिन के द्वारा वह सब पर राज करता है। (११) जिस को सहा न जा सके। जिस पर दृष्टि न जम सके (१२) (दुख का) हरने वाला ईश्वर। गज को ग्रह से छुड़ाने के हेतु जो अवतार हुआ है वह हरि के नाम से इसी कारण प्रसिद्ध है। (१३) निर्विकार और अविनाशी। (१४) पुरुषोत्तम। सब से सनातन पुरुष (१५) सृष्टि का रचने वाला (१६) जो सदा से हो। (१७) ईश्वर का रूप जानने से परम आनन्द दायक मोक्ष प्राप्त होती है, इस कारण उस का जानना योग्य है। (१८) तेज से तपा हुआ या चमकता हुआ (१६) अग्नि के से तेजवाला मुख। यज्ञ को ग्रहण करने वाला होने के कारण भी ईश्वर अग्नि मुख कहलाता है। (२०) इस अध्याय के सार में बताया जा चुका है विराट रूपी देह में सूरज और चन्द्रमा नेत्र के समान हैं। (२१) बाहु या भुजायें शक्ति को प्रकट करती है इस कारण अनगणित बाहु या सहस्र बाहु आदिक शब्दों से अथाह शक्ति का आशय है। "बन्दे का एक हाथ है तेरे हजार हाथ" इसी भाव को प्रकट करता है। (२२) विराट रूप में सर्व पदार्थों के अनेक रूपों को एक ब्रह्म के रूप में देख कर यह ज्ञान होजाता है कि ब्रह्म ही सब में रमा हुआ है और सर्व व्यापक है। या यों कहो कि विश्व रूप दर्शन से सर्वमयी भगवान का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। (२३) रामायण में कहा है कि "शमन कोटि शत सरिस कराला"। (२४) अनोखा (२५) आकाश पृथ्वी और पाताल मिल कर त्रिलोक कहलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर के लोकों का आकाश में, बीच के लोकों का पृथ्वी में, और नीचे के लोकों का पाताल में समावेश होकर सब त्रिलोक में सम्मिलित होजाते हैं।

भजन नम्बर ९० (श्लोक २१-३०)

[शिव रूप दर्शन]

तर्ज—हाथ चक्र त्रिशूल सुहावे अलख जगाते नगरी में ।

जटा जूट शिर गंग बिराजे चन्द्रमा है मस्तक में ॥

यह देखो तुम में देवन के [1] जथे समाये जाते हैं ।

कोई भय से हाथ जोड़ कर विनती तुम्हरी गाते हैं ॥१॥

महा ऋषिन के अरु सिद्धन के [2] समाज मिलि गुण गाय रहे ।

"स्वस्तिस्वस्ति" [3] का उच्चारण कर स्वामी तुमको ध्याय रहे ॥२॥

रुद्र [4] आदित्य [5] वसु [6] वायू [7] ऊष्मपा [8] यक्ष [9] अश्वनी कुमार [10] ।

अरु गन्धर्व [11] असुर [12] हो विस्मय देख रहे हैं रूप अपार ॥३॥

देख अनेक दन्त [13] मुख चक्षू बाहु चरण जघा अरु अंग [14] ।

सर्व जगत् है व्याकुल भय से अरु मैं भी हूँ इन के संग ॥ ॥

विविध रंग मुख खुले हुये चक्षू चमकीले बड़े बड़े ।

तेज गगन [15] का स्पर्श तिहारा लूटे शम [16] धृति खड़े खड़े ॥४॥

काल अग्नि [17] मुख दाँत भयानक देख देख है त्रास मुझे ।

जाउ कहाँ लू शरण कौन की रक्षिय जगत् [18] निवास मुझे ॥६॥

धृतराष्ट्र के सकल पुत्र अरु उन के सर्व संगाती राज ।

गुरू द्रोण जी कर्ण पितामह और हमारे नाती राज ॥७॥

तुम्हरे भयानक दाँतों वाले मुख में जाकर पड़ते हैं ।

कुछ धसते हैं भीतर कुछ पिस कर दांतों में अड़ते हैं ॥८॥

जैसे जल उमड़ा नदी का सागर में जा गिरता है ।

वैसे ही यह तुम्हरे मुख में वीर समाजा गिरता है ॥९॥

जैसे गिरे पतंग अग्नि में बेवश हो कर वेग सहित ।

वैसे ही यह भस्म होत हैं वे वश हो कर वेग सहित ॥१०॥

अग्नी मुख में धर कर सब को चाट [19] रहे हो क्या चटनी ।

पूरण तेज जला कर जग को "विमल" कर देता चटनी [20] ॥११॥

टिप्पणी

(१) यहां ईश्वर की आराधना करने वालों का चित्र खींच कर यह दिखाया है कि उस के आगे सब सुर नर हाथ जोड़ते और शिर नवाते हैं। जिस प्रकार बड़े आदमी का भय (राब) छा जाता है उसी प्रकार उस की शक्ति को जानने वालों पर उसका भय छा जाता है। (२) जन्म ही से ज्ञान और वैराग्य रखने वाले। (३) कल्याण। (४) (५) (६) (७) इन सब के अर्थ दशवें अध्याय में दिये जा चुके हैं देखो भजन नम्बर ८५। (८) मनुस्मृति में लिखा है कि पित्रों को खाना तब ही तक पहुंच सकता है कि जब तक वह गर्म हो। इस लिये पित्रों को ऊष्मपा (गर्म खाने वाला) कहते हैं। (९) (१०) (११) (१२) इन के अर्थ भी ऊपर किये जा चुके हैं। देखो भजन नम्बर ८३ ८४ और ८७। (१३) यह काल-शक्ति को प्रकट करते हैं (१४) इस अध्याय के मार में विराट रूप के सब अंगों का उल्लेख हो चुका है। (१५) आसमान से बातें करता हुआ रूप (१६) शान्ति (१७) यह मृत्यु या शिव (रुद्र) रूप जो अग्नि की समान भस्म करने वाला है (१८) जगत् की रक्षा करने वाला। (१९) ब्रह्मा और विष्णु रूप को देख कर अर्जुन को केवल विस्मय हुआ था। काल रूप अर्थात् शिव रूप को देख कर वह बिल्कुल डर गया। कारण यह कि वह स्वरूप अत्यंत भयानक और डरावना था। इस शिव रूप को इस प्रकार सब को भस्म करते हुये देख कर अर्जुन तो इतना भयभीत हुआ परन्तु वह स्वरूप इस भयंकर कर्म में ऐसा अलिप्त था जैसे चटनी चाटने के समय कोई इस बात की ओर ध्यान नहीं देता कि वह किसी पदार्थ को खा रहा है। इस भयानक रूप के दिखाने का कारण यह था कि अर्जुन के जी से यह संशय दूर हो जाय कि युद्ध करने में मेरे हाथ से मनुष्य मारे जायेंगे और वह जान ले कि असली मारने वाला काल है। (२०) बिल्कुल समाप्त कर देना।

(भजन नम्बर ९१-श्लोक ३१)

[काल रूप के विषय में अर्जुन का प्रश्न]

तर्ज—राजा तोरा पानी हम से ना भरा जाय रे-

यह मोहिं तुम बतादो कौन हो तुम विकराला[१]

करता हूँ मैं कर जोर प्रणामा, हे सुर शिरोमनी[२] होना दयाला॥१॥

आदि पुरुष[३] चाहूँ कि तुम्हें जानूं, "विमल" धरा है क्यों रूप निराला॥२॥

टिप्पणी

(१) नाश करने वाला (२) देवताओं के सिरताज। (३) सब से पहिला पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम।

(भजन नम्बर ६२ श्लोक ३२–३४)

[कृष्ण जी का उत्तर]

तर्ज—गुलशन में आई बहार–

सब जग विनाशक हूँ काल, काल मेरे अर्जुन
संहारने में लगा हूँ सभी के, तू ही भले युद्ध टाल ॥१॥
जितने उपस्थित हुये आज योधा, मुझ से बचें क्या मजाल ॥२॥
भीषम, करण, द्रोण जयद्रथ आदिक, निर्भय इन्हें मार डाल ॥३॥
मैं ने इन्हें मार राखा हुआ है, बन दिखलाने की चाल ॥४॥
तेरी विजय युद्ध में पार्थ होगी, औसर तनिक तू सभाल ॥५॥
शत्रु को ले जीत अरु यश कमाले, राज से हो तू निहाल ॥६॥
होकर निडर तू "विमल" युद्ध करले, बांका नहीं होय बाल ॥७॥

टिप्पणी

(१) काल रूप दिखला कर अर्जुन को यह प्रकट कर दिया कि मृत्यु का कारण ईश्वर है। मनुष्य के मारने या टालन से कुछ नहीं हो सकता। मरना सब के लिये अवश्य है। कबीर जी ने कहा है —

"जगत् चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद"

(२) देखो पहिले अध्याय के सार में योधाओं की वंशावली (जहां यह सब नाम दिये हुये हैं) (३) ईश्वर जब किसी के द्वारा किसी की मृत्यु कराता है, वह उस की मौत का केवल बहाना होता है। असली मारन वाला ईश्वर है। अर्जुन को यह बतला कर उस को शिक्षा दी है कि तू युद्ध कर। युद्ध में योधाओं की मौत मेरे हाथ से होगी, तेरा केवल नाम ही नाम होगा। (४) यह उस शंका का उत्तर है जो अर्जुन ने भजन नम्बर ६ और १० में प्रकट की है कि नहीं मालूम हमारी जीत होगी या हार।

(भजन नम्बर ६३ श्लोक ३५–३८)

[स्तुति]

तर्ज—लगाओ मन हरि चरणन म ध्यान–

दोहा—इतनी सुन शिर नाय के, अर्जुन जोड़े हाथ।
गद्गद् वानी कांपते, यों बोला हे नाथ॥

गुणगान के आप ही अधिकारी।
जगत् निवासिन[1] हृषी केश[2] अरु देव अनन्त[3] हरी[4]।
करके स्तुति अनुरागी[5] होती है दुनिया सारी॥१॥
चहू[6] ओर को राक्षस भागें रख कर भय भारी।
सिद्ध पुरुष सब शीश नवावें तुम पर बलिहारी॥२॥
सिर वह कैसे नहीं नवायें तुम ब्रह्मा आदी[7]।
सत्यासत्[8] से देवन स्वामी[9] तुम्हरी गति न्यारी॥३॥
जग के हो तुम परम निधाना[10] हे अन्तरयामी।
आदि देव[11] अरु पुरुष सनातन[12] तुम हो जग धारी॥४॥
"विमल" योग्य हो जानन के तुम ईश्वर परम गती।
तुम में सब जग लय होता है भगवन् अविकारी॥५॥

टिप्पणी

(१) जग म निवास करने वाला या जिस में सब जग निवास करता है। (२) इन्द्रियों का मालिक (३) जिस देवता का अन्त न हो (४) दुःख का हरने वाला (५) प्रसन्न (६) यह मन्त्र राक्षस और भूत प्रेत आदिक को भगाने वाला माना जाता है। (७) ब्रह्मा को पैदा करने वाले। (८) परब्रह्म या अव्यक्त पुरुष "सत्य" और व्यक्त प्रकृति 'असत्य" कहलाते हैं। निर्गुण ब्रह्म इन दोनों से परे है। देखो भजन नम्बर ७२ व ७७। (९) देवताओं का मालिक (१०) जिस में से आदि में सब कुछ निकलता और अन्त में सब कुछ लय हो जाता है। (११) देवताओं की उत्पत्ति का कारण या सब से पहिला देवता। (१२) वह पुरुष जो सदा से है अर्थात् पुरुषोत्तम।

(भजन नम्बर ९४ श्लोक ३९--४६)

[अर्जुन की क्षमा के हेतु प्रार्थना]

तर्ज—हे सरदार जी पचरंग फेंटा भीजे मेरी जान—

हे कृष्ण जी हजारों बार मोरा है प्रणाम

आप वरुण[1] यम[2] वायु[3] हो, पितामहा[4] द्विजराज[5] ।
आप प्रजापति[6] अग्नि[7] हो, बन्दों[8] पद महराज ॥१॥
पराक्रमी[9] तुम हो अकथ, विश्व रूप[10] अरु राम[11] ।
तुम्हें[12] दाय अरु बाय से, सम्मुख पीठ प्रणाम ॥२॥
तुम को अब लगि मित्र[13] ही, नाथ रहा था मान ।
तुम्हरी महिमा की मुझे, नहीं हुई पहिचान ॥३॥
आप स्तुति के योग्य हो, मो पर होउ कृपालु ।
जो कुछ किया अजान में, क्षमिये उसे दयालु ॥४॥
किया निरादर जो कभी, तुम्हरा मैं ने नाथ ।
खान पान अरु शयन में, हसी खेल के साथ ॥ ५ ॥
अपना प्यारा जानि के, क्षमा कीजिये आप ।
जैसे अपने पुत्रको, क्षमा करत हैं बाप ॥ ६ ॥
क्षमा करो अपराध को, राखि प्रेम का भाव ।
करे मित्र जो मित्र से, करो वही बरताव ॥ ७ ॥
आप बुद्धि से हो परे[14], महिमा को कहि पाय ।
तुम सम नहीं त्रिलोक में, अधिक कहा से आय ॥ ८ ॥
गुरु[15] जन के गुरु आप हो, परम पूज्य[16] जग रूप[17] ।
परम पिता देखा नहीं, अब लगि ऐसा रूप ॥ ९ ॥
हूं प्रसन्न इस रूप से, पर जी भी घबराय ।
विष्णु[18] रूप अब दो मुझे, कृपा सहित दिखलाय ॥ १० ॥
धारो मम अभिलाष से, "त्रिमल" चतुर्भुज रूप ।
मुकुट गदा अरु चक्र की, जा में प्रभा अनूप ॥ ११ ॥

टिप्पणी

(१) जल के देवता या जल को प्रभाविक बनाने वाली वह शक्ति जो जीवन का आधार है। (२) सबको अच्छे बुरे कर्मों का बदला देने वाला (३) मरुत देवता या वह शक्ति जो वायु का कारण है और जिस के बिना जीवन बना नहीं रह सकता। (४) ब्रह्मा जी जो सब के पैदा करने वाले अर्थात् पिता हैं उन के भी पैदा करने वाले (पिता) (५) चन्द्रमा देवता या वह शक्ति जिस के द्वारा सब जड़ी बूटियां और वनस्पति पैदा होती हैं। (६) प्रजा को पैदा करने वाले ब्रह्मा रूप परब्रह्म (७) अग्नि देवता या वह शक्ति जिस के द्वारा अग्नि जलती है और सब प्रकार की गर्मी उत्पन्न होती है। इसी में जीवन के आधार वैश्वानर अग्नि का समावेश है। (८) प्रणाम करता हूं (९) जिस की शक्ति कथन न हो सके (१०) वह विराट रूप जिस से सर्वमयी भगवान का दर्शन होता है। (११) जो सब में रमा हुआ है (१२) ईश्वर सर्व ओर मुखी है इस कारण सब ओर से प्रणाम करना उचित है। (१३) अर्जुन श्रीकृष्ण जी की बुआ का बेटा और सुभद्रा के नाते से बहिनोई होने के अतिरिक्त उन का बड़ा मित्र भी था। (१४) इन्द्रियां और बुद्धि आदिक सब प्रकृति से पैदा होने वाली हैं इस कारण वह निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म को यथायोग जानने में असमर्थ हैं (१५) गुरु और पुरुषा आदि (१६) जो सब से बढ़ कर पूजने योग्य हो। (१७) सारा जगत् जिस के व्यक्त रूप के कारण दर्शायमान हैं। (१८) अर्जुन क्षत्रिय राजा था इस कारण उस को ब्रह्मा विष्णु और शिव रूपों में से विष्णु रूप पसन्द आया क्योंकि वह राजाई के ठाठ को प्रकट करता है॥

भजन नम्बर ९५ (श्लोक ४७-५०)

[कृष्ण जी का उत्तर]

तर्ज—इक पल में सांवरे से मेरी आंख जा लड़ी –

यह जो स्वरूप आज दिखाया विभूतिया।
सामर्थ योग[१] युक्त दरस तोहि जो दिया॥ १॥
यह विश्व रूप तेज बिना आदि अन्त हैं।
यह तोहि छोड़ प्राप्त नहीं काहु[२] ने किया॥ २॥
तप[३] दान कर्म यज्ञ[४] स्वाध्याय वेद से।
ऐसा अमी न आज तलक काहु ने पिया॥ ३॥

यद्यपि स्वरूप तोहि भयानक दिखा दिया ।
अर्जुन तथापि मूढ़ न बन मत विठा जिया ॥ ४ ॥
हो कर प्रसन्न और निडर देख फिर मुझे ।
मैं ने स्वरूप पार्थ वही फिर बना लिया ॥ ५ ॥
यह कह "विमल" दिखाया वही रूप कृष्ण ने ।
जिस से कमल समान पुनः खिल गया हिया ॥ ६ ॥

टिप्पणी

(१) अपनी योग माया से अर्थात् अव्यक्त को व्यक्त बना कर जगत् को रचने वाली शक्ति से (२) श्री कृष्ण जी ने बाल पन में यशोदा को भी अपना मुख खोल कर एक समय त्रिलोक का दृश्य दिखाया था परंतु यशोदा जी ने इस विराट रूप की एक झलक देखी । उन को इस प्रकार देखना नसीब नहीं हुआ जिस प्रकार अर्जुन ने देखा । (३) यह सब साधन बुद्धि को शुद्ध करने और पापों का नाश करने के हेतु होते हैं । इन में से कोई भी स्वयं विज्ञान का देने वाला और मोक्ष दायक नहीं है । जब तक विज्ञान नहीं होता तब तक विराट रूप का दर्शन नहीं हो सकता । देखो मुण्डकोपनिषद् ३ खण्ड २ मन्त्र ३ । (४) धर्म ग्रन्थों का विचार सहित पाठ (५) अर्जुन का काल रूप को देख कर डरना उस के ज्ञान की कमी के कारण था । यदि वह पूर्ण ज्ञानी हो कर यह जान लेता कि व्यक्त पदार्थ नाशवान है और ईश्वर की योग माया उन में विकार, उत्पन्न करके किसी का नाश और किसी की उत्पत्ति करती है, तो वह काल के भयानक रूप का दर्शन करके ऐसा भय भीत न होता । इसी कारण श्री कृष्ण जी ने कहा है कि तू इस मूढ़ताई को त्याग जिस के कारण तुझे यह व्याकुलता हो रही है और तू इस को अपना बड़ा भाग्य समझ कि तुझे यह दर्शन दिया है जिसे देवता भी सहज में नहीं पाते ॥

(भजन नं० ६६ श्लोक ५१-५५)

[भक्ति महिमा]

तर्ज—विन्ती कुंवर किशोरि मेरी मान मान मान ।
कर प्राप्त विष्णु रूप कहा पार्थ न अघाय ।
हे कृष्ण चन्द्र शान्त हुआ चित्त धीर पाय ॥ १ ॥
यह बात सुन जवाब दिया कृष्ण ने तुरत ।

अद्भुत विराट रूप तुझे जो दिया दिखाय ॥ २ ॥
यह विश्व रूप दृश्य धनञ्जय कठिन महान ।
चाहें सदैव देव उन्हें दू यही गहाय ॥ ३ ॥
जो रूप आज देख लिया पार्थ वह कदापि ।
तप यज्ञ दान वेद पठन से न हाथ आय ॥ ४ ॥
जो मम अनन्य भक्ति करे याय देख लेत ।
अरु ज्ञान[1] पाय तत्व लखे ब्रह्म में समाय ॥ ५ ॥
अर्पण[2] करे सदैव मोहि सर्व कर्म जोय ।
जो एक मोहि[3] ध्याय सदा भक्ति को निभाय ॥ ६ ॥
सब प्रीति[4] वैर[5] भाव "विमल" दूर जो हटाय ।
मो माहि वही पुन्य गुडाकेश घर[6] बनाय ॥ ७ ॥

टिप्पणी

(१) भक्ति और ज्ञान के विषय में भगवद्गीता के जो नियम हैं उन को यहा स्पष्ट दिखलाया है। कर्म योग से भक्ति भाव और भक्ति भाव से ज्ञान की अधिकता होती है। ज्ञान के सम्पूर्ण होने पर मनुष्य तत्व दर्शी हो कर ईश्वर के दर्शन पाता है। वह ईश्वर में निमग्न रह कर अंत काल में मोक्ष को प्राप्त करता है अर्थात् ईश्वर में समा जाता है। साराश इस का यह है कि कर्म योग भक्ति और ज्ञान तीनों साधन मुक्ति मार्ग में जरूरी हैं। इन तीनों में से कोई ऐसा स्वतन्त्र साधन नहीं है जो सदा ही दूसरे साधनों की सहायता के बिना सम्पूर्ण हो कर मुक्ति दायक हो। कर्म योग बिना भक्ति और ज्ञान के, भक्ति बिना कर्म और ज्ञान के और ज्ञान बिना कर्म और भक्ति के बहुत ही कम गतियों में मुक्ति दायक होते हैं (२) जो अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण करता है अर्थात् अपने को कर्त्ता न मान कर भक्ति भाव से कर्म के उत्पन्न करने वाले ईश्वर को कर्म का कर्त्ता समझता है, वह भक्ति में दृढता पाता है कर्म योग को पूरा करता है, और ज्ञान में निपुण हो जाता है, । इस प्रकार क्रम करके वह मोक्ष का अधिकारी बनता है (३) ईश्वर में लीन हो जाये या ब्रह्म निष्ठा का अनुयायी होजाय (४) (वैर भाव के विपरीत) पक्षपात रखना और जी में मग भाव अर्थात् लगावट रखना "प्रीति" कहलाता है। निर्द्वन्द्वता के आने से यह भाव भी दूर हो जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि जब तब बुद्धि निष्काम नहीं होती अर्थात् कर्म योग साधन नहीं होता, तब तक

द्वन्द्व बना रहता है। जब कर्म योग साधन और भक्ति से द्वन्द्व मिट जाता है तब मनुष्य तत्व दर्शी हो जाता है। (५) बेलाग न होकर सब से एक सा बरताव न करना बल्कि किसी से विरोध करना " बैर भाव " कहलाता है। जब भिन्नता आजाती है तब मनुष्य निर्बैर हो जाता है। (६) मोक्ष पाये।

* इति शुभम् *